स्नातक और स्नातकोत्तर कक्षाओं के लिए
लेखक की अन्य रचनाएँ

(१) अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध
(१९१९ से आजतक)

(२) आधुनिक यूरोप
(१७८९-१९३९)

प्रथम विश्व-युद्ध के पूर्व

विश्व-राजनीति

[१८७१ से १९१४ तक का कूटनीतिक इतिहास]

दीनानाथ वर्मा
(इतिहास विभाग)
पटना विश्वविद्यालय

ज्ञानदा प्रकाशन
पटना—४

[मूल्य रु० ८·७५ मात्र]

प्रकाशक

ज्ञानदा प्रकाशन

गोविन्द मित्रा रोड,

पटना—४
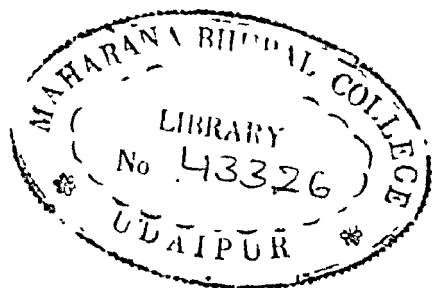
द्वितीय संस्करण—१९६७

मुद्रक

ज्ञानोदय प्रेस

पटना—४

दो शब्द

विश्व-राजनीति का इतिहास पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करते हुए आज मैं अपार हर्ष का अनुभव कर रहा हूँ। यह पुस्तक विश्वविद्यालय की उच्च कक्षाओं के विद्यार्थियों एवं सामान्य पाठकों के लिए लिखी गयी है। अनेक विश्वविद्यालयों में हिन्दी के माध्यम से उच्च शिक्षा देना प्रारम्भ हो गया है। किन्तु इसके लिए हिन्दी में अच्छे साहित्य का सर्वथा अभाव है। प्रथम विश्व युद्ध के पूर्व के काल के कूटनीतिक इतिहास पर, जहाँ तक लेखक का ज्ञान है, अभी कोई भी पुस्तक हिन्दी में उपलब्ध नहीं है। प्रस्तुत पुस्तक लिखने का उद्देश्य इसी आवश्यकता की पूर्ति करना है। इस कार्य में मुझे कितनी सफलता मिली है, इसका निर्णय स्वयं पाठक करेंगे। फिर भी, मेरा यह दावा है कि मैंने इस पुस्तक को सब प्रकार से उपयोगी बनाने का प्रयास किया है। पुस्तक की भाषा सरल है और हमारा विश्वास है कि पाठकों को कोई कठिनाई नहीं होगी।

मेरा यह दावा है कि यह पुस्तक विद्यार्थियों के लिए पर्याप्त है। लेकिन उच्च कक्षाओं के विद्यार्थियों के लिए अन्य पुस्तकों, विशेषकर अंग्रेजी में लिखे गये उत्तमोत्तम ग्रन्थों, का अध्ययन करना आवश्यक है। विषय के समुचित ज्ञान के लिए आवश्यक है कि छात्र अधिकाधिक ग्रंथ पढ़ें। ऐसे ग्रन्थ अंग्रेजी भाषा में उपलब्ध हैं। इसलिए मैंने स्थान-स्थान पर पाद-टिप्पणियों (foot-notes) में ऐसे बहुत से ग्रन्थों की ओर संकेत कर दिया है ताकि पाठक उनका समुचित उपयोग कर सकें। प्रस्तुत पुस्तक की इन विशेषताओं से यदि पाठकों, विशेषकर विद्यार्थियों को कुछ भी लाभ हुआ तो मैं अपना प्रयत्न सफल मानूँगा। यह हमारे लिए सर्वाधिक संतोष की बात होगी।

इस पुस्तक को तैयार करने में मुझे अपने कई सहयोगियों और शुभचिन्तकों से बहुमूल्य सहायता प्राप्त हुई हैं। मैं उन सबों के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करता हूँ। मैं उन सभी लेखकों के प्रति भी आभार व्यक्त करता हूँ जिनकी पुस्तकों से मैंने सहायता ली है।

सम्भव है, पुस्तक में कुछ त्रुटियाँ रह गयी हों। यदि उन त्रुटियों की सूचना मुझे मिली तो अगले संस्करण में मैं उन्हें दूर करने का प्रयत्न करूँगा। तबतक ऐसी सभी त्रुटियों के लिए मैं पाठकों से क्षमा मांगता हूँ।

इतिहास विभाग,
पटना विश्वविद्यालय

दीनानाथ वर्मा

विषय-सूची

*

अध्याय एक

विषय-प्रवेश

विश्व-राजनीति के इतिहास में 1871 से 1914 का युग अत्यन्त महत्त्वपूर्ण माना गया है। एक इतिहासकार ने इसे "अंकुरण का काल" (seminal period) कहा है। इस काल में कुछ ऐसी प्रवृत्तियों का आविर्भाव हुआ जिन्होंने बाद की कई दशाब्दियों के इतिहास को प्रभावित किया। इस दृष्टिकोण से 1871 के वर्ष को विश्व-राजनीति के इतिहास का एक वर्तन-विन्दु (turning point) माना जाता है। अनेक दृष्टि-विन्दुओं से यूरोप के इतिहास में यह वर्ष एक विशिष्ट स्थान रखता है जिनके कारण विश्व-इतिहास में एक सर्वथा नवीन युग का प्रारम्भ होता है। जैसा कि मैरियट ने लिखा है—"यूरोप के इतिहास में 1870-71 का वर्ष उन्नीसवीं शताब्दी के राजनीतिक इतिहास का चरम-विन्दु है। उस वर्ष उन्नीसवीं शताब्दी के सारे विशिष्ट कार्य समाप्त हो गये।"* 1871 में यूरोपीय राष्ट्रों के परिवार में दो महान् एवं शक्तिशाली राष्ट्रों का प्रवेश हुआ जिसके फलस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के क्षेत्र में युगान्तरकारी परिवर्तनों का होना अवश्यम्भावी हो गया। जर्मनी और इटली के राष्ट्रीय एकीकरण (national unification) की अभिलाषा इसी वर्ष पूरी हुई। यह एक महान घटना थी। 1 दिसम्बर, 1870 को सीडान (Sedan) के मैदान में जो युद्ध फ्रांस और प्रशा के बीच हुआ था वह एक ऐतिहासिक और निर्णायक युद्ध था। प्रशा के चान्सलर ओटो फॉन बिस्मार्क (Otto Von Bismarck 1815-98) ने जिन-जिन घटनाओं की कल्पना की थी, सीडान की विजय ने उन सारी घटनाओं को मूर्त्त रूप दे दिया। जो जर्मनी सदियों से टुकड़े-टुकड़े में बँटा हुआ था और जो आस्ट्रिया के चान्सलर मेटरनिक के शब्दों में केवल "भौगोलिक अभिव्यक्ति" (geographical expression) मात्र था, उसका राजनीतिक एकीकरण हो गया। और, जर्मनी के एकीकरण के साथ-साथ इटली की एकता भी कायम हो गयी। इस समय से जर्मनी की तूती सारे यूरोप में बोलने लगी। अब वह यूरोप की एक असाधारण शक्ति हो गया। विश्व-राजनीति के क्षेत्र में उसकी अवहेलना करना बिल्कुल असम्भव था।

जर्मनी का एकीकरण—संसार के इतिहास में बहुत कम घटनाएँ ऐसी हुई हैं जिनके तात्कालिक परिणाम इतने महत्त्वपूर्ण हुए हों जितने सीडान-युद्ध में फ्रांस की पराजय के हुए। जैसा कि काउन्ट ब्यूस्ट ने कहा था—"इस युद्ध से मानों यूरोप के

* Marriott : *The Remaking of Modern Europe*, p. 231.

राजनीतिक जीवन में एक सरिता वह नीकली है जिसने सारे यूरोप को आन्दोलित कर दिया है।"* वस्तुतः, (1871 से 1914) तक की अधिकांश घटनाएँ बहुत अंशों में फ्रांसीसी-प्रशा युद्ध के परिणामों से प्रभावित हुई थीं।

फ्रांसीसी-प्रशा युद्ध के परिणामों को कई महत्त्वपूर्ण दृष्टिकोणों से देखते हुए यही कहा जा सकता है कि इस युद्ध ने यूरोप की उस राजनीतिक स्थिति में आमूल परिवर्तन कर दिया जो विगत दो सौ वर्षों से चली आ रही थी।† सतरहवीं शताब्दी (1618-48) के तीस वर्षीय युद्ध (Thirty Years' War) के कारण जर्मनी को अपार क्षति पहुँची थी। राजनीतिक और आर्थिक दोनों दृष्टियों से वह जर्जर हो चुका था। सम्पूर्ण जर्मनी अनेक छोटे-छोटे राज्यों में बँट गया था और केन्द्रीय सत्ता का नामोनिशान नहीं था। जर्मनी के सभी राज्य एक दूसरे से प्रायः स्वतन्त्र थे। उन राज्यों का यह समूह पवित्र रोमन साम्राज्य (Holy Roman Empire) के नाम से विख्यात था। जर्मनी के पड़ोसी राज्य, जिनमें फ्रांस का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है, यही चाहते थे कि जर्मनी हमेशा के लिए विभाजित और कमजोर देश बना रहे, जिससे उनकी आकांक्षाओं और स्वार्थों की पूर्ति में कोई बाधा नहीं पहुँचे। जर्मनी की भूमि को विदेशी सेनाएँ रौंदा करती थीं और उसके अधिकांश प्रान्त किसी-न-किसी विदेशी शक्ति के प्रभाव में थे। अठारहवीं शताब्दी के अन्त और उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में जर्मनी पर नेपोलियन की अनेक चढ़ाइयाँ हुई और उसके अधिकांश भू-भाग वर्षों तक फ्रांस के कब्जे में रहा। इस विदेशी सत्ता को उखाड़ फेंकने के लिए प्रशा के नेतृत्व में जर्मनी के राज्यों में एक अस्थायी एकता आयी। रूस तथा ब्रिटेन-जैसे मित्रराष्ट्रों का सहयोग प्राप्त कर जर्मनी के लोगों ने नेपोलियन से जबर्दस्त लोहा लिया। अन्त में इन देशों के पारस्परिक सहयोग से 1815 में नेपोलियन वाटरलू के मैदान में पराजित हुआ। लेकिन वाटरलू में नेपोलियन की पराजय से जर्मनी की स्थिति में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। जर्मनी की राजनीतिक स्थिति ज्यों-की-त्यों बनी रही। 1815 में जर्मनी-राज्यों का एक संघ कायम हुआ लेकिन वह भी काफी कमजोर था। इस राज्यसंघ (Germanic Confederation) में कुल मिलाकर 38 राज्य सम्मिलित थे; पर यह संगठन सुदृढ़ नहीं था—प्रत्येक राज्य पूर्णतया स्वतन्त्र था। प्रशा और आस्ट्रिया इस संघ के दो प्रमुख सदस्य थे। लेकिन, उनके पारस्परिक प्रतिद्वन्द्विता के कारण जर्मनी एक शक्तिहीन देश बना रहा। खासकर आस्ट्रिया अपने स्वार्थों की रक्षा के लिए चाहता था कि जर्मनी का संगठन बहुत ही कमजोर और ढीला-ढाला रहे। जर्मनी में राष्ट्रीयता के सिद्धान्त की विजय का अर्थ था आस्ट्रियन-

* Hearnshaw : *Main Currents of European History*, p. 236.

† Fay : *Origins of the World War*, p. 50.

साम्राज्य का विनाश। अतः साम्राज्य को रक्षा के लिए आस्ट्रिया की यह निश्चित नीति थी कि वह किसी भी मूल्य पर जर्मनी की राजनीतिक एकता नहीं कायम होने दे। जर्मनी के राष्ट्रीय एकीकरण का एक ही उपाय था कि आस्ट्रिया को जर्मनी की राजनीति से किसी तरह अलग कर दिया जाय। जब तक आस्ट्रिया जर्मनी-राज्यसंघ का सदस्य बना रहेगा तबतक जर्मनी का कल्याण नहीं हो सकता। इस बात को समझनेवाला सर्वप्रथम व्यक्ति बिस्मार्क था। 1842 में वह प्रशा का प्रतिनिधि बनकर फ्रैंकफुर्ट एसेम्बली में गया। 1859 तक बिस्मार्क ने जर्मन-संघ में प्रशा का प्रतिनिधित्व किया। वहाँ उसने अनुभव किया कि आस्ट्रिया प्रशा का जबर्दस्त दुश्मन है और प्रशा के नेतृत्व में जर्मनी की एकता कायम करने के लिए उसको हराना आवश्यक है।

बिस्मार्क, जो अपने युग का सर्वश्रेष्ठ राजनेता था, 1862 में प्रशा का चान्सलर (प्रधान मन्त्री) बनाया गया। चान्सलर बनने के बाद उसका एकमात्र यही उद्देश्य रहा कि प्रशा की सैन्य शक्ति बढ़ाकर आस्ट्रिया से लोहा लिया जाय और फिर युद्ध के मैदान में आस्ट्रिया को परास्त कर जर्मनी के एकीकरण का मार्ग सुगम बनाया जाय। आस्ट्रिया को जर्मनी की राजनीति से अलग करने के लिए उसने सर्वप्रथम श्लेसविक और होल्सटिन (Schleswig-Holstein) नामक दो डचियों (राज्य) का प्रश्न उठाया। इन डचियों पर वर्षों से डेनमार्क का राजनीतिक आधिपत्य था; किन्तु होल्सटिन की अधिकांश जनसंख्या जर्मन थी। 1863 में डेनमार्क के राजा क्रिश्चियन दशम् ने इन दोनों डचियों को डेनमार्क में सम्मिलित करने की घोषणा की। होल्सटिन के जर्मन निवासियों ने इसका घोर विरोध किया। प्रशा की ओर से भी इसका विरोध हुआ। जर्मन-संघ की ओर से बिस्मार्क के नेतृत्व में आस्ट्रिया और प्रशा ने इन दो डचियों पर अधिकार करने के लिए डेनमार्क पर चढ़ाई कर दी। डेनमार्क हार गया और श्लेसविक तथा होल्सटिन के दोनों राज्य आस्ट्रिया और प्रशा के संयुक्त शासन में आ गये।

डचियों के इस संयुक्त शासन ने ही आस्ट्रो-प्रशा युद्ध का बीज बो दिया। आस्ट्रिया और प्रशा दोनों बड़े भारी प्रतिद्वन्द्वी थे। बिस्मार्क का अनुमान था कि इन दो राज्यों के शासन का सवाल लेकर भविष्य में आस्ट्रिया और प्रशा के बीच युद्ध छिड़ सकता है। और, उसका यह अनुमान एकदम ठीक निकला। डचियों को लेकर आस्ट्रिया और प्रशा के बीच की प्रतिद्वन्द्विता बढ़ती चली जा रही थी। वे भीतर-भीतर युद्ध की तैयारी करने लगे। प्रशा की सैन्य शक्ति जोर-शोर से बढ़ायी जाने लगी। इसके अतिरिक्त बिस्मार्क ने कूटनीतिक चाल से यूरोप के अन्य देशों से यह आश्वासन प्राप्त कर लिया कि जब प्रशा और आस्ट्रिया के बीच युद्ध छिड़ जायेगा तो वे तटस्थ रहेंगे। इस प्रकार हर तरह से बिस्मार्क ने स्थिति को

अपने अनुकूल बना लिया।] अब केवल एक बहाना और उपयुक्त अवसर ढूँढ़ना बाकी था। कुछ दिनों में एक बहाना मिल गया। बिस्मार्क ने प्रस्ताव किया कि जर्मन-राज्यसंघ को एसेम्बली के स्थान पर एक ऐसी जर्मन राष्ट्रीय संसद् कायम की जाय जिसका चुनाव बालिग मताधिकार के आधार पर हो। आस्ट्रिया इसको मानने के लिए तैयार नहीं हुआ। डचियों के प्रश्न पर पहले से ही झगड़ा था। प्रशा जर्मन-संघ से हट गया और 1866 में दोनों के बीच युद्ध छिड़ गया।

आस्ट्र-प्रशा युद्ध करीब सात सप्ताह तक चला। 3 जुलाई, 1866 के दिन सेडवा के रणक्षेत्र में प्रशा ने आस्ट्रिया को ऐसा हराया कि सारा जर्मनी प्रशा के पांव पर लोटने लगा। कुछ ही दिनों में बिस्मार्क ने इस बात का फैसला करा दिया कि प्रशा और आस्ट्रिया में से किसे जर्मनी का नेतृत्व करना है। आस्ट्रिया जर्मनी की राजनीति से अलग कर दिया गया। सेडवा-युद्ध के फलस्वरूप जर्मनी की एकता आधी से अधिक कायम हो गयी। उत्तरी जर्मनी राज्यों को मिलाकर प्रशा ने उत्तर जर्मन-संघ कायम किया। अब केवल चार दक्षिणी जर्मन राज्य इस संघ के बाहर थे। उनके मिले बिना जर्मनी की एकता अधूरी थी।

[जिस समय बिस्मार्क आस्ट्रिया को पराजित करने की योजना बना रहा था उस समय उसको सबसे अधिक डर फ्रांस का था।] फ्रांस बराबर से प्रशा की बढ़ती हुई शक्ति को सन्देह की दृष्टि से देखता था। अभी तक यूरोप में फ्रांस का प्रभुत्व था। उस समय फ्रांस का सम्राट् तृतीय नेपोलियन था। वह स्वयं एक महात्वाकांक्षी व्यक्ति था और यह बात सहन नहीं कर सकता था कि प्रशा आस्ट्रिया को हराकर जर्मनी की एकता कायम कर ले और फिर यूरोप में फ्रांस को चुनौती दे। बिस्मार्क इस बात को खूब अच्छी तरह समझता था। इसलिए उसे नेपोलियन का समर्थन प्राप्त करना आवश्यक था। अतः बिस्मार्क स्वयं फ्रांसीसी सम्राट् नेपोलियन तृतीय से मिलने गया। नेपोलियन से तरह-तरह का अनुनय-विनय करके बिस्मार्क ने उसका समर्थन प्राप्त कर लिया। [नेपोलियन ने वादा किया कि वह आस्ट्रो-प्रशा युद्ध में तटस्थ रहेगा। उसने सोचा कि प्रशा और आस्ट्रिया आपस में लड़ते-लड़ते थक जायेंगे और तब फ्रांस के लिए यूरोप पर अपना प्रभाव बनाये रखना सुगम हो जायेगा।*]

आस्ट्रो-प्रशा-युद्ध में आस्ट्रिया की हार से नेपोलियन का यह स्वप्न टूट गया। सेडवा के मैदान में जब प्रशा की विजय हुई तब नेपोलियन के सारे सुख-स्वप्न मिट्टी में मिल गये। प्रशा की जीत ने नेपोलियन को आश्चर्यचकित कर दिया। प्रशा दिन दूनी और रात चौगुनी उन्नति कर रहा था। उसकी सेना यूरोप में सबसे अधिक शक्तिशाली थी। फ्रांस के बगल में एक ऐसे नवीन राष्ट्र का उदय हो रहा

* A. J. P. Taylor : *Struggle for Mastery in Europe*. p. 209.

था, जो यूरोप पर अपना प्रभुत्व जमाने के लिए फ्रांस से लोहा ले सकता था। नेपोलियन अपने पड़ोस में इस प्रकार के शक्तिशाली राष्ट्र का प्रादुर्भाव सहन नहीं कर सकता था। उधर इटली का भी एकीकरण हो चुका था और स्वतन्त्र जर्मनी का निर्माण होने-होने को था। यह तय था कि जिस रफ्तार से जर्मनी की प्रगति हो रही थी उससे शीघ्र ही जर्मनी का भयंकर प्रतिस्पर्धी बन जायेगा। अतः फ्रांस में काफी घबराहट थी। फ्रांसीसी लोग कहा करते थे कि सेडवा के मैदान में आस्ट्रिया की नहीं बल्कि वास्तव में फ्रांस की पराजय हुई है। सेडवा का समाचार सुनकर फ्रांस का प्रसिद्ध राजनेता तीयर (Thiers) ने कहा था—"सेडवा में जो कुछ हुआ है वह फ्रांस के लिए अत्यन्त ही चिन्ताजनक विषय है। पिछली चार शताब्दियों में फ्रांस के लिए इतनी घोर विपत्ति की कोई घटना नहीं थी।" फ्रांसीसियों की दृष्टि में प्रशा का उत्कर्ष यूरोप के शक्ति-संतुलन को नष्ट कर रहा था। नेपोलियन इस घटना से बहुत दुःखी था। उसने समझा कि बिस्मार्क ने उसे चकमा देकर कूटनीतिक दावपेंच में हरा दिया। अतः वह इस बात पर डटा हुआ था कि प्रशा की शक्ति को और अधिक नहीं बढ़ने दिया जाय। उसका एकमात्र उद्देश्य अब यही था कि प्रशा की प्रगति को प्रारम्भ में ही नष्ट कर दिया जाय।*

कटुता और मनमुटाव के वातावरण में युद्ध के कारण आसानी से पैदा होते हैं। प्रशा और फ्रांस के हित आपस में टकरा रहे थे। आस्ट्रो-प्रशन-युद्ध के अन्त होने के बाद नेपोलियन ने बिस्मार्क से अपनी तटस्थता की कीमत माँगी। लेकिन, बिस्मार्क इस कीमत को चुकाने को तैयार नहीं था। वह बराबर बहाना करता रहा। बिस्मार्क निश्चित रूप से यह भी समझ गया था कि फ्रांसीसी-प्रशा-युद्ध आवश्यम्भावी है। वह इसकी तैयारी करने लगा। उस समय प्रश्न था दक्षिण के चार जर्मनी-राज्यों—बवेरिया, बाडन, उर्टम्बर्ग और हैस्सेडामेस्टाट – का। अभी तक प्रशा के नेतृत्व में स्थापित जर्मन-राज्य-संघ से ये राज्य अलग थे। इनके बिना जर्मनी की एकता अपूर्ण थी। अतः बिस्मार्क इन्हें भी अपने संघ में मिलाना चाहता था। पर, नेपोलियन इस बात पर तुला हुआ था कि वह किसी भी मूल्य पर इन राज्यों को जर्मन-संघ में नहीं मिलने देगा, क्योंकि उसके विचार में ये चारों राज्य फ्रांसीसी प्रभाव-क्षेत्र के प्रदेश थे। तनाव की ऐसी स्थिति में युद्ध का कारण खोज निकालना कोई कठिन काम नहीं था और अपनी कूटनीति की बदौलत बिस्मार्क ने फ्रांस को युद्ध छेड़ने के लिए मजबूर किया। स्पेन की राजगद्दी का मामला लेकर दोनों देशों के बीच 19 जुलाई, 1870 के दिन युद्ध छिड़ गया। युद्ध में फ्रांस बिल्कुल अकेला था। यूरोप का कोई भी देश फ्रांस की मदद करनेवाला नहीं था। नेपोलियन को आशा थी कि दक्षिणी जर्मन-राज्य उसका साथ अवश्य देंगे; लेकिन उसकी इस

* Ibid, p. 212.

आशा पर भी पानी फिर गया। देशभक्ति और राष्ट्रीयता के प्रवाह में चारों दक्षिणी राज्य भी जर्मन-संघ में सम्मिलित हो गये और इस तरह जर्मनी की एकता पूरी हुई। उधर फ्रांस के साथ युद्ध चल ही रहा था। प्रशा की सेना ने फ्रांस को कई बार हराया। 1 सितम्बर, 1870 को सीडान के मैदान में प्रशा ने फ्रांस को बुरी तरह पराजित किया और सम्राट् नेपोलियन को अपने 83 हजार सैनिकों के साथ आत्म-समर्पण करना पड़ा। 10 मई, 1871 को दोनों देशों के बीच फ्रैंकफर्ट (Frank-fort) की सन्धि हुई। इस सन्धि के अनुसार फ्रांस को एक बहुत बड़ी रकम प्रशा को हर्जाना के रूप में देनी पड़ी। इसके साथ-साथ यह भी तय हुआ कि जब तक फ्रांस यह हर्जाना चुका न दे तब तक जर्मन-सेना उत्तरी फ्रांस पर अपना कब्जा कायम रखे। इसके अतिरिक्त फ्रांस को आल्सेस तथा लोरेन (Alsace-Lorraine) के प्रान्त भी, जहाँ लोहे और कोयले की बहुतायत थी, प्रशा को दे देने पड़े।

निस्सन्देह सन्धि की ये शर्तें फ्रांस के लिए काफी कठोर थीं, लेकिन उससे क्या होता है। हजारों वर्ष से यह परम्परा चली आ रही है कि युद्ध के बाद विजेता विजित पर अपनी शर्तें जबरदस्ती लाद देता है और पराजित देश को वे शर्तें माननी ही पड़ती हैं, चाहे वे शर्तें कितनी ही कठोर क्यों न हों। लेकिन आल्सेस तथा लोरेन के प्रान्तों का जर्मनी के साथ सम्मिलित किया जाना फ्रांसीसियों के लिए असह्य था। सारा फ्रांस तड़प उठा। पराजित फ्रांसीसी इस समय सब कुछ सहने को तैयार थे। पर राष्ट्रीयता के उस युग में आल्सेस-लोरेन का छीना जाना क्या घोर अन्याय नहीं था? फ्रांसीसी लोग बिस्मार्क के इस अत्याचार को भूलने को कभी तैयार नहीं थे। उनकी दृष्टि में यह भयंकर जुर्म था।* यह जुर्म वैसा ही था जैसे कोई अत्याचारी किसी माँ की गोद से उसके बच्चे को छीन ले।† इसमें कोई सन्देह नहीं कि आल्सेस और लोरेन के बहुसंख्यक निवासी जर्मन-भाषा बोलते थे और एक समय था जब ये प्रदेश जर्मनी के अंग थे। चौदहवें लुई के समय में फ्रांस ने जर्मनी से ये प्रदेश छीन लिये थे। लेकिन, अब समय काफी बदल चुका था। जर्मन-भाषा बोलने पर भी यहाँ के अधिकांश बाशिन्दे फ्रांसीसी थे। अन्य दृष्टियों से भी वे बिल्कुल फ्रांसीसी थे। वे स्वयं नहीं चाहते थे कि उनकी मातृभूमि जर्मन-साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया जाय। इसीलिए इन प्रदेशों के बहुत से लोग अपने घर-द्वार छोड़कर उस समय भाग खड़े हुए और फ्रांस में जाकर बस गये। इन भागनेवालों में से एक व्यक्ति था पोअन्कारे, (Raymond Poincare) जो आगे चलकर फ्रांस का

---

* आल्सेस लोरेन को इस तरह जर्मनी में मिलाये जाने को प्रोफेसर मैंसर्ग ने "major psychological mistake of modern times" कहा है।
—N. Mansergh : *The Coming of the First World War*, p.19.

† Fay : *Origins of the World War*, p. 51.

राष्ट्रपति निर्वाचित हुआ। पांआन्कारे-जैसे लाखों ऐसे व्यक्ति थे जो जर्मनी से आल्सेस-लोरेन का बदला लेने के लिए तड़प रहे थे। पेरिस के एक चौराहे पर स्टार्सवर्ग और मेत्स की प्रतिमाएँ काले कपड़े में लपेट कर रखी गयी थीं ताकि पेरिस के नागरिकों को वे 1870 के अपमान की याद दिला सकें।

बात यहीं तक सीमित नहीं रही। विजेता के रूप में जर्मनी ने फ्रांस का घोर राष्ट्रीय अपमान भी किया। जर्मनी के एकीकरण की सफलता का उत्सव बर्लिन में नहीं मनाकर वर्साय में मनाया गया। वर्साय फ्रांस की राष्ट्रीय मान-मर्यादा का प्रतीक था। सदियों से यहाँ फ्रांस के राजे-महाराजे निवास करते आ रहे थे और यहीं 'जर्मन-साम्राज्य' की स्थापना की घोषणा की गयी। पेरिस के आत्म-समर्पण के दस दिन पूर्व 18 जनवरी, 1871 को वर्साय के राजप्रासाद के शीशमहल में एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण उत्सव का आयोजन किया गया। इस उत्सव के अवसर पर जर्मनी के प्रायः सभी राजा उपस्थित थे। सबों ने मिलकर प्रशा के राजा विलियम प्रथम को एक स्वर से नये जर्मन-साम्राज्य का सम्राट् स्वीकार किया। ऐसी परिस्थिति में एक दूसरे देश का राजा किसी दूसरे देश के राजमहल में सम्राट् घोषित किया जाय, यह उस देश के लिए अपमानजनक घटना नहीं तो और क्या हो सकती है? फ्रांसवाले इस राष्ट्रीय अपमान को कभी भूलने को तैयार नहीं थे। एक तरफ उनके राष्ट्र का अंग-भंग किया गया और दूसरी तरफ राष्ट्रीय अपमान। आल्सेस-लोरेन को फ्रांस के अंग से काटा जाना एक ऐसे घाव का पैदा किया जाना था जो कभी भरा नहीं जा सकता था। यह घाव फ्रांसीसियों को 1914 तक दर्द देता रहा और जबतक प्रथम विश्व-युद्ध में जर्मनी को हराकर फ्रांस ने इन प्रान्तों को वापस नहीं ले लिया तब तक उससे चैन नहीं आयी।* जर्मनी से बदला लेने की फ्रांसीसियों की यह तीव्र भावना प्रथम विश्व-युद्ध का एक महत्त्वपूर्ण कारण था। बिस्मार्क प्रथम श्रेणी का कूटनीतिज्ञ था। अगर वह जानता कि आल्सेस-लोरेन का मिलाये जाने का परिणाम इतना बुरा होगा तो शायद वह ऐसा कभी भी नहीं करता।† लेकिन अब जो होना था वह हो चुका था। बिस्मार्क को भविष्य से अधिक चिन्ता वर्त्तमान के लिए थी। उसी की कुशलता और प्रभुता से एक नये संयुक्त जर्मन-साम्राज्य की स्थापना हुई थी। वह अब शिशु-साम्राज्य को साजने-सँवारने में लग गया। फ्रांस जर्मनी से बदला लेगा, इस बात की चिन्ता वह कब तक करता। और, फिर अब स्थिति भी बदल चुकी थी। दो सौ वर्षों से जर्मनी एक कमजोर और फ्रांस एक शक्तिशाली देश बना हुआ था। अब वैसी बात नहीं रही। अब फ्रांस ही कमजोर देश था और जर्मनी अति शक्तिशाली राष्ट्र। यूरोप की कूटनीतिक

* Marriot : *Europe and Beyond*, p. 16.

†Fay : *Origins of the World War*, p. 52.

राजधानी अब पेरिस नहीं रह गयी थी; उसका स्थान बर्लिन ले चुका था। यूरोपीय
राष्ट्रों की मंडली में एक ऐसे नवीन राज्य का आगमन हो चुका था जिसकी
अवहेलना अब नहीं की जा सकती थी।

नवीन साम्राज्यवाद–1871 विश्व-राजनीति के इतिहास में केवल इसीलिए
महत्त्वपूर्ण नहीं है कि इस वर्ष संयुक्त जर्मनी और इटली की स्थापना हुई और उसके
साथ-साथ प्रथम विश्व-युद्ध का बीजारोपण हुआ। यह वर्ष इसलिए भी महत्त्वपूर्ण
है कि यहाँ से साम्राज्यवाद के इतिहास में एक नये युग का आरम्भ होता है।
'साम्राज्वाद' एक ऐसा शब्द है, जिसकी व्याख्या भिन्न-भिन्न विद्वानों ने भिन्न-भिन्न
प्रकार से की है। साम्यवादियों के अनुसार साम्राज्यवाद पूँजीवाद की चरम सीमा
है। लेकिन, इतिहास के विद्यार्थी इस शब्द का प्रयोग एक विशेष अर्थ में करते हैं।
भिन्न प्रजातिवाले देश पर किसी दूसरे के राजनीतिक या आर्थिक आधिपत्य
की अवस्था को साम्राज्यवाद कहते हैं। साम्राज्यवाद यूरोप की अठारहवीं शताब्दी
की औद्योगिक क्रान्ति का सबसे बुरा परिणाम है। इसके विकास और विस्तार के
अनेक कारण हैं—राजनीतिक, आर्थिक, नैतिक, धार्मिक और मनोवैज्ञानिक। झूठी
राष्ट्रीयता, आक्रामक देशभक्ति, महान् शक्तियों में अपने देश की गणना कराने की
गलत महत्त्वाकांक्षा, बढ़ती हुई आबादी को बसाने की कृत्रिम समस्या, ईसाई-धर्म
प्रचारकों का अधार्मिक और अनैतिक उत्साह तथा रूडयार्ड किपलिंग-जैसे कुछ
श्वेतांगों के विकृत दिमाग की उपज कि काले लोगों को सभ्य बनाना गोरों के सिर
का भार है, इत्यादि साम्राज्यवाद के कुछ प्रमुख कारण हैं। लेकिन नग्न साम्राज्य-
वाद औद्योगिक क्रान्ति की देन है। औद्योगिक क्रान्ति के फलस्वरूप यूरोप
के प्रायः सभी देशों में बड़े-बड़े कल-कारखाने खुले। इन कल-कारखानों को चलाने
के लिए कच्चे माल तथा अन्य कई प्रकार की सामग्रियों की आवश्यकता थी। ये
चीजें यूरोपीय देशों में प्रचुर मात्रा में उपलब्ध नहीं थी। इसकी प्राप्ति के लिए
इन देशों को गैर-यूरोपीय देशों पर निर्भर करना था। फिर कच्चे मालों से
सामान बना लेने के बाद उन्हें बेचने के लिए बाजार की आवश्यकता थी। अतः
इन दोनों चीजों—कच्चे माल और बाजार—के लिए यूरोपीय देशों को गैर-यूरोपीय
देशों पर आश्रित होना पड़ा। अपने उद्योग-धन्धों को कायम रखने के लिए यह
आवश्यक था कि गैर-यूरोपीय देशों की इन चीजों पर नियन्त्रण किया जाय। यह
तभी सम्भव था जब पिछड़े हुए देशों का आर्थिक शोषण हो और उनकी औद्योगिक
प्रगति नहीं होने पाये। यह स्पष्ट है कि कोई भी देश चाहे कितना ही पिछड़ा क्यों
न हो इस तरह से स्वेच्छापूर्वक अपना आर्थिक शोषण नहीं होने देगा। ऐसी
स्थिति में पिछड़े देश को अपना बाजार बनाने के लिए वहाँ के कच्चे माल को

अपने व्यवसाय के लिए सुरक्षित रखने के लिए उनपर राजनीतिक आधिपत्य कायम करना आवश्यक था। आधुनिक साम्राज्यवाद का यही स्वरूप है।

साम्राज्यवाद के तूफानी जीवन को प्रायः दो भागों में बाँटा जाता है— पुराना साम्राज्यवाद और नया साम्राज्यवाद। पुराने साम्राज्यवाद का युग करीब पन्द्रहवीं शताब्दी से प्रारम्भ होता है। इसके पूर्व तक यूरोप के लोग अपने महाद्वीप से बाहर के देशों से सर्वथा अपरिचित थे। दिग्दर्शक यन्त्र के अभाव में समुद्र यात्रा करना काफी कठिन काम था। पन्द्रहवीं सदी के अन्तिम चरण में एक नयी प्रवृत्ति प्रारम्भ हुई। भूगोलवेत्ता और अनुसंधानकर्त्ता नये-नये देशों को खोज निकालने के लिए असीम जिज्ञासा दिखलाने लगे। दिग्दर्शक यन्त्र के आविष्कार से समुद्र-यात्रा सहज हो गयी। नये-नये देशों का पता लगाने के लिए यात्राएँ की गयी और साहसी नाविकों के दल इधर-उधर भेजे गये। उन्होंने उपनिवेश की स्थापना का मार्ग प्रशस्त किया। इन क्षेत्रों में स्पेन और पोर्तुगाल ने विशेष तत्परता दिखलायी। स्पेन के राजा की सहायता से 1492 में कोलम्बस ने अमेरिका का पता लगाया। 1498 में पोर्तुगाल का वास्कोडिगामा अफ्रिका का चक्कर काटते हुए भारतवर्ष आ पहुँचा। ये दोनों घटनाएँ युगान्तकारी घटनाएँ थीं। अफ्रिका का चक्कर काटकर पहले-पहल पोर्तुगीज लोग भारत आये थे। उन्होंने इस नये मार्ग से पूर्व के देशों से व्यापार करना शुरू किया। इस व्यापार से पोर्तुगीजों को काफी लाभ हुआ। देखते-देखते पोर्तुगाल एक धनी और समृद्ध देश हो गया। उधर अमेरिका पर स्पेन का अधिकार कायम हुआ; क्योंकि स्पेन के राजा की सहायता से ही कोलम्बस समुद्र-यात्रा के लिए निकला था। स्पेन के लोगों ने अमेरिका में अपने उपनिवेश बसाने शुरू किये। इन उपनिवेशों में सोना-चाँदी प्रचुर मात्रा में मिलते थे। सोने-चाँदी की खानों से आकृष्ट हो स्पेन के लोग बड़ी संख्या में अमेरिका जाने लगे। देखते-देखते स्पेन भी एक धनी और समृद्ध देश हो गया।

स्पेन और पोर्तुगाल की इस अचानक प्रगति को देखकर यूरोप के अन्य देशों की आँखें खुलीं। स्पेन की तरह अन्य यूरोपीय राज्य भी अमेरिका जाकर बसने के लिए व्याकुल हो उठे पर सम्पूर्ण दक्षिणी अमेरिका पर स्पेन का प्रभुत्व कायम हो चुका था। अतः दूसरे यूरोपीय देशों ने खासकर फ्रांस और ब्रिटेन के लोगों ने उत्तरी अमेरिका में बसना शुरू किया। आज के संयुक्त-राज्य अमेरिका वाले पर ब्रिटेन का कब्जा कायम हुआ और आज के कनाडावाले क्षेत्र पर फ्रांस का। उधर पोर्तुगीजों की देखादेखी अन्य यूरोपीय राज्य भी दक्षिणी मार्ग से एशिया आने लगे। पोर्तुगीजों के बाद डच, अँगरेज तथा फ्रांसीसी आये और पूर्व के व्यापार पर अपना आधिपत्य स्थापित करने का प्रयत्न करने लगे। इस प्रयत्न के कारण इन व्यापारियों में परस्पर संघर्ष होने लगे। उन्होंने स्थान-स्थान पर अपनी

व्यापारिक कोठियाँ कायम कीं। बहुत दिनों तक पूर्व के देशों के सम्पर्क में रहने के बाद इन यूरोपीय व्यापारियों को एशियाई देशों की राजनीतिक स्थिति का पता होने लगा। उन्होंने देखा कि इन देशों की राजनीतिक स्थिति इतनी खराब है कि उन पर सुगमता से अधिकार कायम किया जा सकता है। जिस समय यूरोपीय व्यापारियों को ऐसा अनुमान हुआ उस समय से वे अपना-अपना साम्राज्य स्थापित करने का स्वप्न देखने लगे।। इसके बाद एशिया के देश एक-एक कर भिन्न-भिन्न यूरोपीय देशों के अधिकार में चले गये। थोड़े ही दिनों में यूरोप के मुट्ठी-भर देशों ने सारे ससार को आपस में बाँट लिया। सम्पूर्ण उत्तरी और दक्षिणी अमेरिका, भारतवर्ष, दक्षिण-पूर्वी एशिया के देश जैसे मलाया, हिन्दचीन, हिन्देशिया आदि, आस्ट्रेलिया महाद्वीप तथा अफ्रिका के उत्तरी तथा दक्षिणी किनारे के कुछ भू-भागों पर यूरोपीय राज्यों का साम्राज्य छा गया। अपना-अपना साम्राज्य कायम करने के लिए यूरोपीय देशों में परस्पर संघर्ष भी हुए। उदाहरण के लिए उत्तरी अमेरिका और भारतवर्ष पर साम्राज्य स्थापित करने के लिए फ्रांस और ब्रिटेन के बीच सप्तवर्षीय युद्ध (1756-63) हुआ। इस प्रकार उन्नीसवीं शताब्दी के आते-आते साम्राज्यवादियों के बीच संसार का बँटवारा करीब-करीब अन्तिम रूप से हो गया।

1775 ई० में अमेरिका के स्वातंन्त्र्य-संग्राम से साम्राज्यवाद को सर्वप्रथम एक जबर्दस्त धक्का लगा। उत्तरी अमेरिका के कुछ उपनिवेशों ने मिलकर ब्रिटेन के खिलाफ विद्रोह कर दिया और अपनी स्वतन्त्रता की घोषणा करके संयुक्त-राज्य-अमेरिका का निर्माण किया। संयुक्त-राज्य अमेरिका की स्वतन्त्रता के बाद कनाडा, आस्ट्रेलिया-जैसे उपनिवेश, जहाँ यूरोपीय लोग बस गये थे, अपनी स्वतन्त्रता की माँग करने लगे और कुछ समय बाद उन्हें भी स्वतन्त्र कर दिया गया। लेकिन अमेरिका की अजादी की लड़ाई से पुराने साम्राज्यवाद को जो धक्का लगा उससे साम्राज्यवाद सम्हल नहीं पाया। इसके बाद साम्राज्यवाद सहमी हालत में धीरे-धीरे चलने लगा। इस स्थिति में उसकी कोई विशेष प्रगति नहीं हो सकी। इसके कई कारण थे।। पहली बात यह थी कि दुनिया में अब कोई ऐसा भू-भाग नहीं बच रहा था, जिस पर साम्राज्य कायम किया जा सके। जैसे ऊपर कहा जा चुका है कि कुछ ही दिनों में यूरोप के देश संसार के प्रायः सभी ज्ञात देशों का आपस में बाँट चुके थे। इसके अतिरिक्त यूरोपीय देशों को साम्राज्य-विस्तार के लिए समय भी नहीं था। अमेरिका के स्वातंन्त्र्य-संग्राम के तुरत बाद फ्रांस की क्रान्ति (1789) आयी और उसके बाद नेपोलियन का प्रादुर्भाव हुआ, जो 1815 तक समूचे यूरोप को युद्ध में फँसाये रहा। 1815 में नेपोलियन की पराजय के बाद भी यूरोप को अवकाश नहीं मिल सका। कारण, 1815 से 1870 तक यूरोप

की सरकारें अपने घरेलू सवालों को सुलझाने में लगी हुई थीं। किसी के सामने राष्ट्रीय एकता प्राप्त करने का प्रश्न था, तो किसी के सामने जनतान्त्रिक सुधार लाने का। इसके साथ ही साम्राज्यवाद एक दूसरे युग में प्रवेश करने की तैयारी भी कर रहा था। 1870 के अन्त होने के साथ-साथ यूरोपीय देशों की महत्त्वपूर्ण आन्तरिक समस्याओं का भी अन्त हो गया। इस वर्ष यूरोप के राजनीतिक रंगमंच पर दो महान् एवं शक्तिशाली राष्ट्र—जर्मनी तथा इटली—का प्रादुर्भाव हुआ। इन दोनों देशों को भी ब्रिटेन, फ्रांस और रूस की तरह विश्व का महान् राष्ट्र बनने की आकांक्षा हुई। इसके लिए उपनिवेश या साम्राज्य की स्थापना अत्यन्त आवश्यक थी। अतः जर्मनी और इटली को भी महान् राष्ट्र कहलाने के लिए साम्राज्य चाहिए। इन देशों को औद्योगिक क्रान्ति में भी अभूतपूर्व प्रगति हो रही थी; अतएव इन्हें भी बाजार की आवश्यकता महसूस हुई। इस तरह साम्राज्यवाद की दौड़ में दो और प्रतियोगी आ धमके। डाक्टर लिविंगस्टोन नामक एक स्कॉच धर्म-प्रचारक 1840 में ही अफ्रिका का पता लगा चुका था। सारे संसार में अब यही एक ऐसा भू-भाग था, जहाँ यूरोपीय देशों के साम्राज्य का विस्तार हो सकता था। इसलिए यूरोप के राष्ट्रों के बीच अफ्रिका के बँटवारे के लिए प्रतियोगिता चल पड़ी। उस समय तक स्वेज-नहर खुल चुकी थी और इस अन्तर्राष्ट्रीय जल-मार्ग पर नियन्त्रण रखने के लिए अफ्रिका के समुद्री किनारों पर कब्जा कायम करना भी आवश्यक था। अतः कुछ ही दिनों में अफ्रिका साम्राज्यवादियों का अखाड़ा बन गया। इस तरह यह स्पष्ट है कि 1871 में साम्राज्यवाद के इतिहास में एक नया युग प्रारम्भ होता है। यह नवीन साम्राज्यवाद के युग के प्रारम्भ का वर्ष था।* नये साम्राज्यवाद की विशेषता यह थी कि इस युग में साम्राज्यवादी राष्ट्रों के बीच घनघोर संघर्ष शुरू हुए। पुराने साम्राज्यवाद में भी परस्पर संघर्ष हुए थे; लेकिन वे संघर्ष इतने तीव्र नहीं थे, जितने नये साम्राज्यवाद के। संघर्ष की यह तीव्रता प्रथम विश्व-युद्ध का एक प्रमुख कारण था। इसीलिए प्रथम विश्व-युद्ध को प्रथम साम्राज्यवादी युद्ध कहा जाता है।

साम्राज्यवाद के विकास के दृष्टिकोण से यह काल एक और कारण से महत्त्वशील है। अभी तक यूरोप के राज्य ही साम्राज्यवादी थे। लेकिन इस काल में साम्राज्यवादियों के समूह में एक एशियाई देश ने भी प्रवेश किया। वह देश जापान था। 1866 की मेजी क्रांति के उपरान्त जापान का औद्योगिकरण हुआ जिसके परिणामस्वरूप उसको भी साम्राज्यवादी जीवन अपनाना पड़ा। साम्राज्यवादी जापान के अभ्युदय ने विश्व-राजनीति में एक नवीन तत्त्व का समावेश कराया जिसके फलस्वरूप समस्या पहले की अपेक्षा और भी जटिल हो गयी।

* Ferguson & Brunn : *A Survey of European Civilization*, p. 811.

सैनिकवाद और उग्र राष्ट्रीयता :- 1871 साम्राज्यवाद के इतिहास में
एक विशेष स्थान तो रखता ही है; पर इसके साथ-साथ यह वर्ष राष्ट्रों के बीच
हथियारबंदी की होड़ के लिए भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। वास्तव में यह कहना
कोई अतिरंजित नहीं होगा कि आधुनिक युग में शस्त्रीकरण का युग इसी समय से
प्रारम्भ होता है। विश्व-इतिहास में 1871 से 1914 के काल को सशस्त्र शान्ति
(armed peace) का युग कहा जाता है। इस युग की विशेषता यह थी
कि यूरोप के सब राष्ट्र अपने को आधुनिकतम अस्त्र-शस्त्रों से लैस करने का जी तोड़
प्रयास कर रहे थे। इस समय लोगों को हथियारबन्दी के सिद्धान्त में विश्वास
करने का विशेष कारण था। उन्नीसवीं शताब्दी के राष्ट्रों का विश्वास था कि
युद्ध एक प्रभावशाली साधन है और इसके बिना राष्ट्र का उत्थान कठिन ही नहीं,
असम्भव है। युद्ध के द्वारा ही फ्रांस की क्रांति के सिद्धान्तों का विश्व में प्रचार
हुआ था, उसी के सहारे नेपोलियन ने फ्रांस की कीर्ति बढ़ायी थी। युद्ध का सहारा
लेकर ही जर्मनी और इटली की एकता कायम हुई थी और युद्ध के द्वारा ही संयुक्त-
राज्य अमेरिका का संघ कायम रह सका था। अतः युद्ध को एक 'आवश्यक बुराई'
समझा जाने लगा। और युद्ध में सफलता प्राप्त करने के लिए हथियारबन्दी
आवश्यक है। जब तक फ्रांस अपने को काफी हथियारों से लैस नहीं कर लेता तब
तक वह जर्मनी से अपने राष्ट्रीय अपमान का बदला नहीं ले सकता था। जब तक
जर्मनी और इटली अपनी सैन्य शक्ति को और नहीं बढ़ा लेते तब तक दूसरे साम्राज्य-
वादी राष्ट्र उनके साम्राज्य-स्थापना के रास्ते में रोड़े अटकाते ही रहेंगे। युद्ध के
द्वारा ही राष्ट्रीय आकांक्षाओं की पूर्ति हो सकती है और इसके लिए हथियारबन्दी ही
एकमात्र उपाय है। अतः यूरोप के राष्ट्रों में हथियारबन्दी की होड़ प्रारम्भ हुई।
एक देश दूसरे देश की हथियारबन्दी देखकर चौंकता रहता था और समझता था
कि अमुक देश उसी के खिलाफ हथियारबन्दी कर रहा है। भय से भय की उत्पत्ति
होती है और इस स्थिति में सैनिकवाद का जन्म हुआ। प्रत्येक देश सैन्य वृद्धि
के लिए पागल हो रहा था। अनिवार्य सैनिक शिक्षा ही नहीं, अपितु अनिवार्य
सैनिक सेवा की प्रथा भी प्रत्येक देश में प्रारम्भ की जा रही थी। इस प्रकार
सम्पूर्ण जनता युद्ध के लिए शिक्षित की जा रही थी। सैनिकवाद और हथियारबन्दी
की यह होड़ 1871 से घनघोर रूप में शुरू हो गयी और यह क्रम 1914
तक चलता रहा, जब प्रथम विश्व-युद्ध छिड़ गया। बाद में भी यह समस्या
बनी रही।

फ्रांस की क्रांति के बाद यूरोप में राष्ट्रीयता की समस्या का प्रादुर्भाव हुआ।
उग्र राष्ट्रीयता एक खतरनाक चीज है। यह राष्ट्र के लोगों में एक नयी भावना फूंकती
है। लोगों को एकता के सूत्र में बाँधकर सामूहिक रूप से प्रयत्न करने के लिये

प्रेरित करती है। यह अन्य राष्ट्रों से द्वेष करना या उन्हें हीन समझना नहीं सिखाती है। वास्तव में विशुद्ध राष्ट्रीयता और अन्तर्राष्ट्रीयता में कोई मौलिक अन्तर नहीं होता। किन्तु उसी राष्ट्रीयता का स्वरूप जब विकृत हो जाता है तो वह मानव मात्र के लिए अभिशाप बन जाती है। ऐसी हालत में एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्रों को हेय समझने लगता है और उसको नीचा दिखलाने के लिए सतत् प्रयत्न करने लगता है। वह शान्तिपूर्ण सहजीवन के सिद्धान्त को भूल जाता है और दूसरों के हितों की अवहेलना करने लगता है। वह यह नहीं समझता कि संसार के अन्य लोगों को भी अपने ही ढंग से उन्नति करने का अधिकार है। वह दूसरे राष्ट्रों को अपने कब्जे में कर संसार पर अपना प्रभुत्व कायम करने का स्वप्न देखने लगता है।

1871 के बाद यूरोप में राष्ट्रीयता का यही स्वरूप हो गया। उग्र एवं विकृत राष्ट्रीय चेतना इस युग का प्रमुख लक्षण था। जर्मनी ने अपनी महान् सैन्य शक्ति के बदौलत यूरोप के दो प्रमुख राज्यों—आस्ट्रिया और फ्रांस—को हराकर यूरोपीय राजनीति में प्रमुख स्थान प्राप्त कर लिया था। इन विजयों से जर्मन राष्ट्र का आत्माभिमान बहुत बढ़ गया। वह अपने आपको संसार का सर्वश्रेष्ठ राज्य समझने लगा। ऐसी स्थिति में अपनी शक्ति के अनुरूप संसार में सम्मान पाने के लिए वह उत्सुक हो रहा था, राष्ट्रीय मान-मर्यादा के लिए मर मिटने के लिए प्रत्येक जर्मन नागरिक तैयार रहता था। इस प्रकार जर्मनी ने उग्र राष्ट्रवाद का जन्म दिया। इसका प्रभाव यूरोप के अन्य देशों पर भी पड़ा। संसार में अपनी श्रेष्ठता कायम करने के लिए यूरोप के सभी देश उतावले हो रहे थे। इस प्रकार राष्ट्रीय चेतना ने विकृत रूप धारण करके उग्र राष्ट्रवाद का रूप धारण कर लिया। इससे विभिन्न राष्ट्रों में द्वेष की भावना उत्पन्न हुई और वे एक दूसरे को नीचा दिखाने के कार्य में संलग्न हो गये। प्रथम विश्व-युद्ध का यह एक महान् कारण था।

पूर्वीय समस्या की जटिलता—1871 तुर्की-साम्राज्य (Ottoman Empire) और बाल्कन-प्रायद्वीप की समस्याओं के इतिहास में भी एक विशिष्ट स्थान रखता है। ये समस्याएँ प्रथम-विश्व-युद्ध के महान् एवं तात्कालिक कारण थीं। बाल्कन-प्रायद्वीप को यूरोपीय राजनीति का ज्वालामुखी कहा जाता है। 1871 से यह ज्वालामुखी नये सिरे से सुलगना शुरू हुआ। अभी तक क्रीमिया-युद्ध के फलस्वरूप इस क्षेत्र में रूस के विस्तार का रास्ता बन्द हो गया था। पेरिस-संधि के द्वारा काला सागर के क्षेत्राधिकार के सम्बन्ध में रूस पर कई प्रतिबन्ध लगा दिये गये थे। पर 1870 के फ्रांसीसी-प्रशा युद्ध के अवसर से लाभ उठाकर रूस ने उन प्रतिबन्धों की अवहेलना कर वहाँ अपनी नौ-सेना का संगठन करना आरम्भ कर दिया। जर्मनी की बढ़ती हुई शक्ति को ध्यान में रखकर रूस कान्स्टेन्टिनोप्ल (Constantinople) तक पहुँच जाने के लिए दृढ़ संकल्प था।

इस युग में केवल रूस ही नहीं वरन् आस्ट्रिया भी एक नये जोश के साथ इस क्षेत्र की राजनीति में प्रवेश करने लगा। अभी तक आस्ट्रिया जर्मनी की राजनीति में फँसा हुआ था; लेकिन 1866 में आस्ट्रो-प्रशन-युद्ध के फलस्वरूप विस्मार्क ने आस्ट्रिया को जर्मनी की राजनीति से सदा के लिए निकाल बाहर कर दिया। अब आस्ट्रिया के विस्तार का केवल एक ही मार्ग था और वह था बाल्कन-प्रायद्वीप की राजनीति में हस्तक्षेप करना। 1871 में यूरोप की राजनीति स्पष्ट हो गयी। आस्ट्रिया की बची खुची आशा पर पानी फिर गया। जर्मनी अब निस्सन्देह एक शक्तिशाली राष्ट्र बन चुका था। अब आस्ट्रिया के शासक अनुभव करने लगे कि उनकी शक्ति के विस्तार का उपयुक्त क्षेत्र बाल्कन-प्रायद्वीप ही हो सकता है। 1871 के बाद 'पूर्व की ओर धक्का दो' (Drang Nach Osten) का सिद्धांत आस्ट्रिया की विदेश-नीति का मुख्य आधार बन गया। इस तरह 1871 के बाद रूस और आस्ट्रिया दोनों के एक साथ इस क्षेत्र में प्रवेश के कारण बाल्कन-प्रायद्वीप अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का गर्म अखाड़ा बन गया।

विश्व-राजनीति का यूरोपीयकरण—1871 के बाद से विश्व-राजनीति का एक प्रकार से यूरोपीयकरण हो गया। यह भी एक महत्त्वपूर्ण बात है। जर्मनी तथा इटली के एकीकरण के साथ आधुनिक यूरोप के निर्माण की प्रक्रिया समाप्त हो गयी और उन्नीसवीं शताब्दी के विशिष्ट कार्य सम्पन्न हो गये। उन्नीसवीं शताब्दी के शेष वर्षों में कोई नवनिर्माण का कार्य नहीं हुआ। इन वर्षों का मुख्य काम क्रमिक उन्नति और संगठन था; जो कार्य हो चुका था, उसे स्थिरता और पूर्णता प्रदान करना था।* इस युग में यूरोपीय शक्तियों की जो कुछ भी वास्तविक कार्यवाइयाँ हुईं वे यूरोप के बाहर तथा विश्व राजनीति के क्षेत्र में हुईं। यूरोपीय कूटनीति विश्व-राजनीति में परिणत हो गयी और यूरोप का इतिहास विश्व का इतिहास बन गया।† 1871 के बाद यूरोपीय साम्राज्यवाद के क्षेत्र में अभूतपूर्व प्रगति हुई और यूरोपीय राज्यों के झगड़े अब अधिकतर यूरोप के बाहर के मामले पर होने लगे। गैर यूरोपीय देशों में जो भी राजनीतिक घटना घटती वह यूरोपीय राज्यों की राजनीति का परिणाम होती। इस प्रकार यूरोप की समस्या विश्व की समस्या बन गयी और विश्व-राजनीति का यूरोपीयकरण हो गया।

इसके साथ ही गैर यूरोपीय देशों पर यूरोपीय सभ्यता-संस्कृति का गहरा प्रभाव पड़ने लगा। साम्राज्य-विस्तार के क्रम में अधिकांश देशों में यूरोपीय सभ्यता का विस्तार हुआ। यूरोप की प्रतिभा का प्रभाव अन्य देशों पर पड़ने लगा। वे अपनी प्राचीन सभ्यता-संस्कृति को छोड़कर यूरोपीय सभ्यता-संस्कृति को अपनाने लगे। यूरोप के सम्पर्क में आने से एशिया और अफ्रिका के देशों में नये सिद्धांतों

---

*Marriott: *The Remaking of Europe*, p 231.

†*Cambridge Modern History*, vol. xii, p. 1.

और नयी प्रवृत्तियों का समावेश हुआ। राष्ट्रीयता, प्रजातन्त्र, नागरिक अधिकार, औद्योगीकरण, समाजवाद आदि के सिद्धान्तों से वे परिचित होने लगे। पीछे चलकर इन सिद्धान्तों का खूब प्रचार हुआ। इनसे प्रभावित होकर इन राज्यों में स्वतंत्रता की भावना का उदय हुआ और वे अपने न्यायसंगत अधिकार की प्राप्ति के लिए चेष्टा करने लगे। यूरोपीय साम्राज्यवाद के विघटन में यह एक प्रमुख कारण सिद्ध हुआ।

अन्तर्राष्ट्रीयता—अन्तर्राष्ट्रीयता का विकास इस युग की एक दूसरी विशेषता थी। इस भावना का उदय यातायात और सम्वादवाहन के साधनों के विस्तार के कारण हुआ। यातायात के साधनों में सुधार और यात्रा की सम्भावना ने दूरी को कम कर दिया और समय को घटा दिया। मनुष्य अल्प समय में दूरस्थ देशों की यात्राएँ सुख-सुविधा और सरलतापूर्वक करने लगे। संसार के सभी भाग एक दूसरे के निकटतर आ गये। सुदूर देश भी परस्पर पड़ोसी बन गये। औद्योगिक क्रांति के कारण एक देश दूसरे पर इतना अधिक आश्रित हो गया कि किसी के लिए व्यक्तिगत रूप से जीवन बिताना असम्भव हो गया। अतः इन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए तरह-तरह की अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं (International Public Unions) की स्थापना होने लगी। उन्नसवीं शताब्दी का पिछला भाग इन संस्थाओं के विकास के लिए काफी प्रसिद्ध है। इंटरनेशनल रेड क्रॉस सोसाइटी (1864), यूनिवर्सल टेलीग्राफ यूनियन (1875), पोस्टल यूनियन (1878) आदि इस तरह की अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं के सर्वश्रेष्ठ उदाहरण हैं। इस तरह की और अनेक अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं का निर्माण हुआ जिनका उद्देश्य मनुष्य के अन्तर्राष्ट्रीय जीवन का संचालन करना था। प्रथम विश्व-युद्ध के पूर्व इन संस्थाओं का उत्थान अन्तर्राष्ट्रीयता के क्षेत्र में एक नये लक्षण का प्रतीक था। संसार के विविध राज्य समझने लगे कि एकता और संगठन में ही मनुष्य की भलाई निहित है। व्यक्तिगत रूप से कोई भी राष्ट्र प्रगति के पथ पर अग्रसर नहीं हो सकता।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के क्षेत्र में भी इस नवीन अन्तर्राष्ट्रीय की भावना का प्रभाव पड़ा। 1871 के उपरांत विश्व-शांति स्थापित करने के लिए राष्ट्रों ने ध्यान देना आरम्भ किया और बहुत से विवाद अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों और पारस्परिक संधियों द्वारा तय किये गये। तुर्की साम्राज्य, अफ्रिका तथा सुदूर पूर्व की अनेक समस्याओं का, जिनके कारण युद्ध छिड़ जाना पहले मामूली बात थी, अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों द्वारा समाधान हुआ। 1878 में बर्लिन सम्मेलन हुआ जिसने रूस और तुर्की के बीच युद्ध होने से जो भीषण परिस्थिति उत्पन्न हुई थी उसको हल करने का प्रयत्न किया और युद्ध की सम्भावना का अन्त किया। 1906 में मोरक्को

के प्रश्न को लेकर अलजिसरास में एक अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन हुआ। हेग में 1899 और 1907 में दो सम्मेलन हुए। इन सम्मेलनों में हथियारबन्दी की होड़ को रोकने तथा अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ों को मध्यस्थता के द्वारा सुलझाने का नियम बनाने का प्रयास किया गया। प्रथम हेग सम्मेलन में दुनिया के 26 तथा द्वितीय में 44 राज्यों के प्रतिनिधि शामिल हुए थे। यद्यपि इन सम्मेलनों को कोई विशेष सफलता नहीं मिली. पर हेग में एक अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय की स्थापना अन्तर्राष्ट्रीयता के विकास में एक महत्त्वपूर्ण कदम था।

अन्तर्राष्ट्रीयता के साथ-साथ इस युग में शांतिवाद का भी विकास हुआ। युद्ध की बर्बरता और क्रूरता को कम करने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय समझौते किये गये। यूरोप के देशों में शांति समर्थक समुदाय बनने तथा अन्तर्राष्ट्रीय शांति सम्मेलनों के अधिवेशन होने लगे। 1899 के पश्चात स्विट्जरलैंड के बर्न नामक नगर में अन्तर्राष्ट्रीय शांतिवाद का प्रधान कार्यालय स्थापित किया गया और उसके वार्षिक अधिवेशन किये जाने लगे। स्वेडन के एक धनाढ्य व्यक्ति अल्फ्रेड नोबुल ने लाखों रुपये के वार्षिक पुरस्कारों की व्यवस्था की जिनमें से एक अन्तर्राष्ट्रीय शांति की स्थापना के लिए किये गये प्रयत्नों के लिए भी था। अमेरिका के एंडरू कार्नेगी ने अपार धन खर्च करके हेग में एक शांति-मंदिर का निर्माण करवाया।

जर्मनी की प्रधानता :—उपर्युक्त कारणों को लेकर 1871 का वर्ष विश्व-राजनीति के इतिहास में एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। इस तिथि से विश्व की राजनीति के एक अध्याय का अन्त और दूसरे का प्रारम्भ हुआ। इस नये युग के भिन्न-भिन्न लक्षण इस वर्ष से स्पष्टतः दृष्टिगोचर होने लगे जो भविष्य की राजनीति के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण थे। जर्मनी का प्राधान्य, उग्र राष्ट्रीयता, साम्राज्यवाद, सैनिकवाद, समाजवाद तथा अन्तर्राष्ट्रीयता इस युग के प्रधान लक्षण थे जिनका प्रभाव 1871 के बाद यूरोपीय राजनीति पर व्यापक रूप से पड़ने लगा। इन्हीं प्रमुख लक्षणों के प्रभाव से आगे के वर्षों की यूरोपीय राजनीति (और विश्व-राजनीति) का निर्माण हुआ। जिन लक्षणों से इस नवीन युग का निर्माण हुआ उनकी उत्पत्ति मुख्यतः जर्मनी से हुई। इस कारण इस युग में जर्मनी यूरोपीय-राजनीति और विश्व-राजनीति का केन्द्र बिन्दु बन गया। इस बात को हम देख चुके हैं कि 1865 से 1870 तक की घटनाओं के परिणामस्वरूप जर्मनी यूरोप का एक प्रमुख राज्य बन गया। इस समय सैनिक और औद्योगिक दृष्टियों से वह यूरोप का सर्वश्रेष्ठ और सर्वशक्तिमान राज्य हो गया था। संसार की राजनीति में उसको अत्यन्त महत्त्वशील स्थान प्राप्त हो गया। इस युग में ऐसी कोई महत्त्वपूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय घटना नहीं हुई जिसका जर्मनी के साथ प्रत्यक्ष

या परोक्ष रूप से सम्बन्ध न रहा हो। वस्तुतः, यूरोप के इतिहास में यह युग जर्मन प्राधान्य का युग था। इस समय जर्मनी में बिस्मार्क सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण व्यक्ति था। सम्पूर्ण जर्मनी में उसकी तूती बोलती थी और वह केवल जर्मनी का ही नहीं वरन् 1890 तक सम्पूर्ण यूरोप का सर्वप्रधान व्यक्ति बना रहा। इसी कारण 1871 से 1890 तक का यूरोपीय इतिहास का काल "बिस्मार्क-युग" के नाम से विख्यात है। अपनी कूटनीति की बदौलत उसने जर्मनी को यूरोपीय राजनीति और स्वयं अपने को जर्मन राजनीति का केन्द्र बना लिया। इस कारण इस काल के विश्व-राजनीति इतिहास का अध्ययन बिस्मार्क और जर्मनी से प्रारम्भ करना ही हमारे लिए वांछनीय है।

—०—

विस्मार्क की विदेशनीति

विदेशनीति के आधार :—1871 परिपूर्त्ति का वर्ष था। इस वर्ष यूरोप के बहुतेरे राष्ट्रों को सन्तोष की साँस लेने का मौका मिला। इसी वर्ष जर्मनी की एकता पूरी हुई जिसका सारा श्रेय विस्मार्क को था। 'जर्मन-साम्राज्य' विस्मार्क का सृजन था और इसकी रक्षा करना वह अपना कर्त्तव्य समझता था। विस्मार्क जानता था कि फ्रांसवाले आल्सेस-लोरेन का छीना जाना कभी नहीं भूलेंगे। उसने एक महान् राष्ट्र का अंग-भंग किया था और यह घाव कभी भरनेवाला नहीं था। ज्यों-ज्यों समय वीतता जायगा त्यों-त्यों फ्रांस में जर्मनी से प्रतिशोध लेने की भावना वलवती होती जायगी। अतः 1871 के वाद विस्मार्क का एकमात्र उद्देश्य यही रह गया कि शिशु जर्मन-साम्राज्य की रक्षा के लिए हर सम्भव उपाय का अवलम्बन किया जाय। उसके अनुसार जर्मनी अव एक तृप्त (satiated) राष्ट्र था। उसको कोई आकांक्षा नहीं थी। वह अव कोई युद्ध करना नहीं चाहता था; क्योंकि युद्ध से जर्मनी का कल्याण नहीं होने को था। युद्ध की दशा में जर्मनी के दुश्मनों को संयुक्त मोर्चा तैयार करने का मौका मिल सकता था और 1871 तक उससे जो लाभ प्राप्त हुए थे वे सारे नष्ट हो जा सकते थे। अतः इस युग में विस्मार्क यूरोपीय शांति का सबसे वड़ा समर्थक रहा।* विस्मार्क की नीति वही थी जो 1815 के वाद प्रिंस मेटरनिक की थी। मेटर्रनिक की तरह 1871 के वाद विस्मार्क यूरोप की राजनीति में यथास्थिति (status quo) का समर्थक वन गया। यह तभी सम्भव था जव यूरोप में कोई नया युद्ध नहीं छिड़े। अतः विस्मार्क की नीति थी कि किसी नये यूरोपीय युद्ध को छिड़ने से रोका जाय और जहाँ तक सम्भव हो यूरोप में शांति की स्थिति वनी रहे। विस्मार्क को फ्रांस से भय था। फ्रांस को परास्त करने के वाद उसको यह चिन्ता रहती थी कि मौका पाकर कहीं फ्रांस जर्मनी से वदला न ले ले। विस्मार्क ने अपनी सारी कूटनीतिक पटुता और राजनीतिक दूरदर्शिता जर्मनी की रक्षा के लिए लगा दी। जर्मनी की रक्षा दो तरीकों से सम्भव थी। एक उपाय यह था कि जर्मनी को काफी मजबूत वनाया जाय। जर्मनी को मजबूत वनाने के लिए यह आवश्यक था कि जर्मनी अपने पड़ोसी राष्ट्रों के साथ मैत्री कायम करे और इन राष्ट्रों से मिलकर फ्रांस के विरुद्ध गुटवन्दी करे। जर्मनी की रक्षा का दूसरा उपाय था कि अनन्त काल तक के लिए फ्रांस को

*Brandenburg : *From Bismarck to World War*, p. 2.

इतना कमजोर बनाये रखा जाय कि प्रतिशोध की उसकी भावना कभी नहीं हो सके। फ्रांस अकेले जर्मनी की बराबरी नहीं कर सकता था। ऐसी स्थिति में अगर उसे जर्मनी से प्रतिशोध लेना है तो अन्य राष्ट्रों की मदद पाना उसके लिए आवश्यक था। अतः विस्मार्क की नीति यह थी कि यूरोप के देशों को फ्रांस का मित्र बनने से रोका जाय। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में फ्रांस को इस तरह अलग कर दिया जाय कि वह अकेला पड़ जाय और कोई भी देश उसको सहायता देने को तैयार न हो। दूसरे शब्दों में, विस्मार्क की यह आकांक्षा थी कि यूरोप की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में जर्मनी की स्थिति बहुत शक्तिशाली रहे और फ्रांस किसी अन्य राज्य का सहयोग न प्राप्त कर सके। इस तरह विस्मार्क की विदेश-नीति के दो आधार थे--फ्रांस के खिलाफ गुटबन्दी करना और फ्रांस को जर्मनी के विरुद्ध गुट कायम करने से रोकना। विस्मार्क विशेषकर आस्ट्रिया और रूस की मैत्री का समर्थक था। वह इटली को भी अपने दल में शामिल करना चाहता था। इन सबों के अतिरिक्त वह ब्रिटेन की शुभकामना का भी इच्छुक था। ब्रिटेन के साथ मैत्री-भाव बनाये रखने की उसने भरसक कोशिश की। उसका कहना था कि ब्रिटेन एक सामुद्रिक शक्ति और जर्मनी एक स्थल शक्ति। इस कारण इन दोनों के बीच झगड़ा होने का कोई कारण ही नहीं हो सकता।*

तीन सम्राटों के संघ की स्थापना :—रूस और जर्मनी की मैत्री को मजबूत बनाना विस्मार्क की विदेशनीति का एक प्रमुख लक्ष्य था। वस्तुतः वह इन दोनों देशों की मैत्री का शुरू से ही जबर्दस्त समर्थक था। प्रशा और रूस के बीच मित्रता की परम्परा बहुत पुरानी थी--यह वातावरण बहुत दिनों से चला आ रहा था। नेपोलियन को हराने के लिए दोनों देशों की सेनाओं ने कंधे से कंधा मिलाकर एक सामान्य शत्रु का मुकाबला किया था। क्रीमिया-युद्ध के समय दोनों देशों के बीच दोस्ती की भावना और भी मजबूत हुई। 1853 में यह युद्ध रूस के खिलाफ ब्रिटेन, फ्रांस तथा तुर्की द्वारा लड़ा गया था। प्रशा में भी रूस के विरुद्ध युद्ध की घोषणा करने की माँग की जा रही थी। लेकिन विस्मार्क ने, जो उस समय तक प्रशा का एक बहुत बड़ा राजनेता हो चुका था, इस माँग का घोर विरोध किया। उसका कहना था कि प्रशा को तुर्की-साम्राज्य की समस्या (Eastern Question) में कोई खास दिलचस्पी नहीं है और रूस के साथ लड़ाई मोल लेने का कोई कारण भी नहीं है। "बिना किसी छेड़खानी के हम एक पड़ोसी मित्रराष्ट्र से युद्ध क्यों मोल लें।" विस्मार्क का यह तर्क काफी प्रभावशाली था और इसके फलस्वरूप क्रीमिया-युद्ध में प्रशा तटस्थ रहा। प्रशा की यह तटस्थता यथार्थ रूप में रूस के लिए सहायक साबित हुई। फिर 1863 में

*Ketelby : *History of Modern Times*, p 375.

पोलैंडवालों ने रूसी साम्राज्यवाद के विरुद्ध विद्रोह किया। इस विद्रोह के समय पोलैंडवालों को यह आशा थी कि प्रशा उनकी मदद करेगा। लेकिन बिस्मार्क जो रूसी मैत्री का बहुत बड़ा इच्छुक था, पोलैंड वालों के खिलाफ हो गया। बिस्मार्क नहीं चाहता था कि पोलैंड में रूस की पराजय हो। अतः उसने प्रशा और पोलैंड की सीमाओं पर सैनिकों को तैनात कर दिया, जिससे कोई क्रान्तिकारी पोलैंड से भाग न निकले। बिस्मार्क के इस तरह की मैत्री-भावना के लिए रूस में कृतज्ञता भी प्रकट की गयी। बिस्मार्क को इन सहायताओं का बदला रूस से ऑस्ट्रो-प्रशन तथा फ्रैंको-प्रशन-युद्ध के समय मिला। इन दोनों युद्धों के अवसर पर रूस तटस्थ रहा। रूस की तटस्थता से जर्मनी के एकीकरण में बड़ी सहायता मिली। दोनों देशों के बीच मैत्री का यह वातावरण एक और कारण से पुष्ट हो रहा था। रूस का सम्राट एलेकजेंडर द्वितीय जर्मन-सम्राट विलियम प्रथम का भानजा था। जून, 1871 में एलेकजेंडर द्वितीय बर्लिन आया और उसकी इस यात्रा के कारण दोनों देशों की मैत्री और बढ़ी।

इस तरह रूस और प्रशा के बीच मैत्री की भावना परम्परा के रूप में चली आ रही थी। लेकिन बिस्मार्क के लिए जब आस्ट्रिया के दिल पर विजय प्राप्त करना बहुत आवश्यक था। आस्ट्रिया एक ऐसा देश था, जिसके साथ हाल ही में प्रशा ने युद्ध किया था। आस्ट्रिया में 1866 की सेडवा की हार की याद अभी भी ताजी थी। लेकिन बिस्मार्क नहीं चाहता था कि आस्ट्रिया और प्रशा के बीच हमेशा के लिए एक खाई पैदा हो जाय। अतः सेडवा के तुरत बाद वह आस्ट्रिया की सद्भावना प्राप्त करने की कोशिश करने लगा। जिस समय आस्ट्रो-प्रशन-युद्ध में आस्ट्रिया की सेना ने घुटने टेक दिये उस समय प्रशा के कुछ सेनानायकों ने वियना पर चढ़ाई करने की मांग की थी। लेकिन बिस्मार्क ने इसका विरोध किया। उसका कहना था कि आस्ट्रिया जैसे महान् देश का राष्ट्रीयता अपमान करना गलत काम होगा। वह वर्तमान दुश्मन को भविष्य का मित्र बनाना चाहता था। उसने कहा कि "अभी ही समय है जब आस्ट्रिया की पुरानी मित्रता को फिर से प्रतिष्ठित किया जाय।" आस्ट्रिया हार तो अवश्य गया था; लेकिन वह पस्त नहीं हुआ था—उसकी कमर टूटी नहीं थी। समय पाकर वह पुनः शक्तिशाली हो सकता था। अतः बिस्मार्क की नीति थी कि किसी भी हालत में आस्ट्रिया को विमुख नहीं होने दिया जाय, बल्कि उसकी मित्रता और सदिच्छा प्राप्त की जाय। उधर आस्ट्रिया भी 1866 में जो हो चुका था, उसको भूल जाने के लिए तैयार था। बिस्मार्क ने 1866 के बाद जर्मनी में जिस व्यवस्था का संगठन किया था उस संगठन को तोड़ने की इच्छा अब आस्ट्रिया को नहीं रह गयी थी। 1871 के ग्रीष्म में बिस्मार्क के प्रयास से जर्मन-सम्राट विलियम प्रथम ने आस्ट्रियन-सम्राट फ्रांसिस जोसेफ (Francis Joseph) से आस्ट्रिया में मुलाकात की। इसके कुछ ही दिनों के बाद आस्ट्रिया के चान्सलरी

में एक परिवर्तन हुआ। आस्ट्रिया का चान्सलर काउन्ट बोथास्ट (Count Beust) जो विस्मार्क से कुपित रहता था, नवम्बर, 1871 में अपने पद से हट गया। उसकी जगह पर काउन्ट आन्ड्रासी (Count Julius Andrassy) की नियुक्ति हुई। आस्ट्रिया का यह नया चान्सलर विस्मार्क का पुराना दोस्त था। वह भी चाहता था कि आस्ट्रिया और प्रशा में किसी प्रकार का मनमुटाव नहीं बढ़े। इसलिए अप्रिल, 1872 में प्रस्ताव रखा कि आस्ट्रिया के सम्राट् भी एक बार बर्लिन की यात्रा करें। जब रूस के जार ने फ्रांसिस जोसेफ के प्रस्तावित यात्रा की खबर सुनी तो उसने भी बर्लिन आने की इच्छा प्रकट की।* कुछ दिनों के बाद यह तय हुआ कि दोनों सम्राट् सितम्बर, 1872 में बर्लिन पधारें। जब दोनों सम्राट् निश्चित समय पर बर्लिन आये तो विलियम ने उनका शानदार स्वागत किया। अब तीनों सम्राट् आपस में मिलकर वार्तालाप करने लगे। तीनों सम्राटों के लिए बहुत-सी समस्याएँ सामान्य थी। यूरोप में अन्तर्राष्ट्रीय समाजवाद का प्रभाव बढ़ रहा था। इससे राजतन्त्र पर बड़ा खतरा उत्पन्न हो गया था। अतः तीनों सम्राटों ने मिलकर इस शत्रु का सामना करने का समझौता किया। इस तरह तीन सम्राटों के संघ (The League of the Three Emperors) † की स्थापना हुई। यह समझौता कोई लिखित समझौता नहीं था और न इसके द्वारा किसी ने कोई दायित्व ही स्वीकार किया था। यह केवल कुछ महत्त्वपूर्ण बातों पर समझौता था जिसके द्वारा तीनों सम्राट् 1871 की प्रादेशिक व्यवस्था को कायम रखने, निकट पूर्वीय समस्या का तीनों साम्राज्यों को मान्य समाधान ढूँढ़ निकालने और अपने देश में क्रान्तिकारी समाजवाद का दमन करने पर राजी हुए थे। इसके अतिरिक्त पारस्परिक सद्भावना का जो वातावरण उत्पन्न हुआ, वह महत्त्वपूर्ण था। कहने को तो यह संघ केवल समाजवाद के विरुद्ध था; लेकिन इसके और भी राजनीतिक महत्त्व थे। इस समझौते का यह अर्थ भी था कि आस्ट्रिया सेडवा की पराजय भूल गया और उसने जर्मनी की नयी राजनीतिक परिस्थिति को स्वीकार कर लिया है।‡ यूरोपीय कूटनीति में विस्मार्क की यह एक बड़ी सफलता थी। एक तरह से यह 1815 के पवित्र संघ (Holy Alliance) की पुनर्स्थापना थी। जिस प्रकार उस समय ये तीनों राज्य फ्रांस की क्रान्ति से उत्पन्न परिस्थिति का मुकाबला करने के लिए संगठित हुए थे उसी प्रकार इस समय वे समाजवादी आन्दोलन के विरुद्ध संगठित हुए। इस संघ ने तत्काल के लिए कूटनीति में फ्रांस को एकदम पृथक कर दिया।

* S. B. Fay : *Origins of the World War*, p. 55.
† *Dreikaiserbund*
‡ Ketelbey : *History of Modern Times*, p. 376.

तीनों सम्राटों की यह मित्रता पीछे चलकर और भी मजबूत हुई। 1873 में सम्राट् विलियम बिस्मार्क के साथ रूस गया। सेन्ट-पीटर्सबर्ग में रूस और जर्मनी के बीच एक गुप्त सैन्य-सन्धि हुई। दोनों देशों ने इस सन्धि के द्वारा यह वादा किया कि अगर उनमें से किसी एक पर कोई यूरोपीय देश आक्रमण करेगा तो वे एक दूसरे की मदद देंगे। इसी वर्ष जार एलेकजेंडर भी वियना गया वहाँ रूस और आस्ट्रिया के बीच यह तय हुआ कि दोनों देश अपने हितों की रक्षा के लिए एक दूसरे से सलाह लेते रहेंगे। इस प्रकार तथाकथित तीन सम्राट् का संघ सुदृढ़ होने लगा।

तीन सम्राटों के संघ की दुर्बलता—किन्तु यह त्रिदलीय मैत्री अधिक दिनों तक कायम न रह सकी और शीघ्र ही इसकी आन्तरिक दुर्बलता प्रकट हो गई। फ्रांस, जैसा हम आगे देखेंगे, बड़ी आश्चर्यजनक तेजी से उन्नति कर रहा था जिसे देखकर बिस्मार्क को चिन्ता होने लगी थी। उसने युद्ध के हर्जाने की एक भारी रकम फ्रांस पर लाद दी थी और उसको आशा थी कि उसके कारण फ्रांस एक पीढ़ी तक खड़ा न हो सकेगा। परन्तु वह सारी रकम उसने दो वर्ष में ही अदा कर दी। इसके अतिरिक्त वहाँ राज्यसत्तावादियों का जोर बढ़ रहा था, सेना का पुनर्संगठन हो रहा था और कुछ सैनिकवादी युद्ध तथा प्रतिशोध की बातें करने लगे थे। यह देखकर कुछ जर्मन अफसर इसके पहले कि फ्रांस अपनी पूर्व शक्ति को पुनः प्राप्त कर सके 'प्रतिकारात्मक युद्ध' (preventive war) की सलाह देने लगे थे। यह तो मालूम नहीं होता है कि बिस्मार्क उनसे सहमत था परन्तु उसे यह विश्वास था कि समाचारपत्रों में युद्ध की आशंका की बातों से फ्रांस में डर बैठ जायगा और प्रतिशोध की भावना दब जायगी।* समाचारपत्रों में युद्ध की तात्कालिक आशंका पर लेख निकलने लगे। 15 अप्रिल 1875 को 'बर्लिन पोस्ट' नामक समाचार-पत्र में '**युद्ध की संभावना**' नामक शीर्षक वाला एक स्पष्टतः प्रेरित लेख निकला। परन्तु इस बार बिस्मार्क गलती कर गया और फ्रेंच प्रधान मंत्री देकाज (Duc Decazes) ने उसे कूटनीतिक खेल में पछाड़ दिया। 4 मई को लन्दन के टाइम्स पत्र के पेरिस में स्थित संवाददाता से भेंट करते हुए उसने बतलाया कि जर्मनी फ्रांस से दस अरब फ्रैंक (40 करोड़ पौंड) 20 किस्तों में वसूल करके उसे चूसना और इसकी अदायगी तक फ्रांस के पूर्वी प्रदेशों में जर्मन सेना रखना चाहता है। इसी प्रकार के समाचार सेंटपीटर्सबर्ग में एलेक्जेंडर के पास भी पहुँचे और महारानी विक्टोरिया को भी जर्मनी से उसकी कन्याओं ने इसी आशय के निजी पत्र भेजे। विक्टोरिया ने जार को अपने प्रभाव से युद्ध रोकने का प्रयत्न करने के लिये लिखा और जून में स्वयं सम्राट् विलियम को अपनी मध्यस्थता का सुझाव देते हुए एक

* Slosson : *Europe Since 1870*, p. 75.

वैयक्तिक पत्र लिखा। जार एलेक्जेण्डर स्वयं अपने विदेश मन्त्री गोरचेकोव (Gorcoakov) के साथ बर्लिन पहुँचा। विलियम ने विक्टोरिया को पत्र लिख कर युद्ध की खबर को निराधार बतलाया और उसे शान्ति का आश्वासन दिया। युद्ध की आशंका तो मिट गई परन्तु इस घटना ने यह बतला दिया कि प्रत्येक दशा में जर्मनी फ्रांस के विरुद्ध रूस की सहानुभूति पर निर्भर नहीं रह सकता। इस नगण्य सी घटना का महत्त्व इसी बात में है।*

बात यह थी कि बर्लिन में विचार-विमर्श के बाद गोरचेकोव ने यह घोषणा कर दी 'कि अब यूरोप की शांति खतरे में नहीं है'। इस वक्तव्य से बिस्मार्क काफी नाराज हुआ। गोरचेकोव के इस वक्तव्य का अर्थ था कि जर्मनी वास्तव में फ्रांस के विरुद्ध युद्ध छेड़नेवाला था और रूस ने इस युद्ध को छिड़ने से बचा लिया; लेकिन बात ऐसी नहीं थी। बिस्मार्क बराबर इस बात को इन्कार करता रहता कि वह युद्ध करना चाहता था। बिस्मार्क की उक्ति में सत्य की कितनी मात्रा थी, कहना कुछ कठिन है। जो भी हो, पर यह निश्चित है कि 1875 की इस घटना से जर्मनी और रूस का सम्बन्ध खराब हो गया। यद्यपि तीन सम्राटों का संघ अभी भी जीवित था और विलियम तथा एलेकजेंडर अभी भी एक-दूसरे के परम मित्र थे; लेकिन जर्मनी और रूस का आपसी सम्बन्ध तो निश्चय ही बिगड़ चुका था। बिस्मार्क ने ऐसा अनुभव किया कि रूस पर भरोसा नहीं किया जा सकता है; इसीलिए इसी समय से वह आस्ट्रिया से और घनिष्ठ सम्बन्ध कायम करने की चेष्टा करने लगा।

बर्लिन सम्मेलन—तीन सम्राटों के संघ में दरार पैदा होने के कुछ और भी कारण थे। विशेषतया बाल्कन-प्रायद्वीप और तुर्की के प्रश्न पर आस्ट्रिया और रूस में भारी मतभेद था। आस्ट्रिया चाहता था कि बाल्कन-प्रायद्वीप उसके प्रभाव-क्षेत्र में रहे और तुर्की की सत्ता कायम रहे। इसके विपरीत रूस बाल्कन-प्रायद्वीप पर अपना अधिकार जमाना चाहता था; साथ ही तुर्की-साम्राज्य के विनाश के लिए भी वह उत्सुक था। इन दोनों प्रश्नों पर रूस और आस्ट्रिया में किसी भी प्रकार मेल नहीं खा सकता था। बिस्मार्क भी भली भाँति जानता था कि तीन-सम्राटों के संघ की यह सबसे बड़ी दुर्बलता है और इस पर निर्भर रहकर वह फ्रांस का मुकाबला नहीं कर सकता है। इन प्रश्नों पर उसने आस्ट्रिया का पक्ष लेना शुरू किया। अतः जब 1877 के रूसी-तुर्की-युद्ध के बाद 1878 में बर्लिन में यूरोपीय राष्ट्रों का सम्मेलन हुआ तब बिस्मार्क ने भीतर-ही-भीतर आस्ट्रिया को कूटनीतिक मदद देनी शुरू की। ऐसे तो बिस्मार्क ने दावा किया कि बर्लिन-सम्मेलन में उसने एक 'निष्पक्ष दलाल' (honest broker) का पार्ट अदा किया है और उसमें निष्पक्ष भाव से काम

* Ibid, p. 75.

किया है; लेकिन रूसवाले बिस्मार्क की इस दलील को मानने को तैयार नहीं थे। रूसियों का कहना था कि बिस्मार्क की 'दलाली' निष्पक्ष नहीं थी और बर्लिन-सम्मेलन में उसने आस्ट्रिया को रूस के विरुद्ध काफी मदद की है। रूसी विदेश-मन्त्री गोरचेकॉव ने, जो बर्लिन-सम्मेलन में रूस का प्रतिनिधित्व करने आया था, समझा कि बिस्मार्क ने उसे धोखा दिया है। वह बिस्मार्क की चालबाजी से काफी क्षुब्ध था। रूसी समाचारपत्रों में भी जर्मन-विरोधी लेख छपे। यहाँ तक कि जार एलेकजेंडर ने, जिसके दिल में अभी भी जर्मनी के लिए एक बहुत बड़ा स्थान था, सम्राट् विलियम को एक पत्र लिखा। इस पत्र में उसने बिस्मार्क की नीति की कटु आलोचना की थी।* इन सब घटनाओं का परिणाम हुआ कि दोनों के आपसी सम्बन्ध बिगड़ने लगे। जार कुपित था। उसने तीन सम्राटों के संघ का परित्याग कर दिया।

इस प्रकार अल्पकाल में ही तीन सम्राटों के संघ का अन्त हो गया। आस्ट्रिया और रूस दोनों को अपने साथ रखने का बिस्मार्क का प्रयास असफल सिद्ध हुआ। इसका मुख्य कारण यह था कि बिस्मार्क आस्ट्रिया को बहुत महत्त्व देता था और रूस पर उसका कभी पूरा विश्वास नहीं हुआ।

आस्ट्रो-जर्मन-संधि और द्विगुट का निर्माण
(Austro-German Dual Alliance)

बिस्मार्क के लिए अब यह आवश्यक प्रतीत होने लगा कि रूसी मित्रता की क्षति की पूर्ति वह दूसरी तरह से करे। वह आस्ट्रिया के साथ जर्मनी का अटूट सम्बन्ध कायम कर लेना चाहता था। बर्लिन कांग्रेस के बाद रूस और जर्मनी के सम्बन्धों में जो तनातनी पैदा हुई उसके कारण रूस ने अपने शस्त्रास्त्रों में वृद्धि की नयी योजना बनायी और जर्मनी की सीमान्त पर सैनिकों की संख्या बढ़ा दी। यह इस बात का संकेत था कि रूस जर्मनी से बेहद नाराज है।

रूस के इसी विरोध रूख ने बिस्मार्क को जर्मनी की स्थिति और अधिक सुरक्षित करने को बाध्य किया और उसने निश्चय किया कि जर्मनी को अधिक से अधिक देशों के साथ संधि करनी चाहिए। अगस्त 1881 में उसने लिखा था कि "रूस के साथ अपनी स्थिति को सुदृढ़ करने के प्रयास की असफलता ने हमें दूसरी शक्तियों के प्रति अधिकाधिक सतर्कता बरतने को बाध्य किया।" इस

* बर्लिन की सन्धि पर अपना विचार प्रकट करते हुए जार एलेक्जेंडर ने कहा था कि "बिस्मार्क 1870 का अपना वचन भूल गया। एक मित्र का पक्ष लेकर उसने दूसरे मित्र को खो दिया।" इस प्रकार इस घटना ने भविष्य के उन दो महान अन्तर्राष्ट्रीय गुटों—त्रिगुट और द्विगुट—के बीज बोये जिनका यूरोप के आधुनिक इतिहास में बड़ा महत्त्व है। देखिये Hazen : *Modern European History*, p. 375.

हालत में विस्मार्क को सर्वप्रथम रूस और आस्ट्रिया में जो चुनाव करना था और कई कारणों से प्रेरित होकर विस्मार्क ने आस्ट्रिया के साथ संधि करना ही अच्छा समझा। इस निर्णय के कई कारण थे। सर्वप्रथम इसका व्यक्तिगत कारण था। आस्ट्रिया का चान्सलर काउन्ट आन्द्रासी विस्मार्क का पुराना दोस्त था और वह उस पर पूरा भरोसा करता था। 1879 के मध्य में ऐसा प्रतीत होने लगा कि आन्द्रासी पद त्याग कर देगा और उसकी जगह पर जिस व्यक्ति की नियुक्ति होनेवाली थी उस पर विस्मार्क का कम विश्वास था। अतएव विस्मार्क आन्द्रासी के कार्यकाल में ही आस्ट्रिया के साथ एक ठोस सन्धि कर लेना चाहता था। इसका दूसरा कारण भावनात्मक था। आस्ट्रिया और जर्मनी के लोग स्वजातीय थे और जर्मन जाति का भावनात्मक एकीकरण आवश्यक था। इसी समय जर्मनी के प्रति रूस के दृष्टिकोण ने विस्मार्क को अविलम्ब एक निर्णय लेने को बाध्य किया। मध्य यूरोप में जर्मनी की स्थिति असुरक्षित थी और जर्मनी के बचाव के लिए किसी महाशक्ति के साथ जर्मनी की गुटबन्दी परम आवश्यक था। विस्मार्क इटली अथवा इंगलैंड के साथ मिलकर एक गुट कायम कर सकता था। लेकिन इनके साथ मिलने में उसे कोई लाभ नहीं दिखायी पड़ रहा था। इटली और इंगलैंड संसदीय शासन-पद्धति वाले देश थे और इस कारण भी विस्मार्क को उन पर भरोसा नहीं था। इस हालत में आस्ट्रिया ही एक ऐसा देश बच जाता था जो विस्मार्क के उद्देश्य को पूरा करता था। आस्ट्रिया के प्रति विस्मार्क का झुकाव अत्यन्त स्वाभाविक था। रूस की नीति की अनिश्चितता, राजमहल के षड्यन्त्र आदि बातों ने विस्मार्क को बाध्य कर दिया कि वह कम-से-कम फिलहाल के लिए रूस की ओर से अपना मुख मोड़ ले और आस्ट्रिया के साथ आबद्ध हो जाय।

इसके पश्चात् विस्मार्क ने संधि-समझौता के लिए आन्द्रासी से वार्ता प्रारम्भ की। कुछ दिनों की वार्ता के उपरान्त आण्ड्रासी एक रक्षात्मक संधि के लिए तैयार हो गया। पर यह आसान काम नहीं था सम्राट् विलियम प्रथम की सहानुभूति अभी भी पूरी तरह रूस के साथ थी और आस्ट्रिया के साथ एक संधि करके वह रूस को नाराज करने के पक्ष में नहीं था। लेकिन विस्मार्क के महान् व्यक्तित्व से सम्राट् को प्रभावित होना पड़ा और बाद में वह भी आस्ट्रिया के साथ एक संधि के लिए राजी हो गया।

आस्ट्रो-जर्मन-संधि :— विस्मार्क और आन्द्रासी दोनों ने मिलकर एक आस्ट्रो-जर्मन-संधि की प्रारूप तैयार की और 7 अक्टूबर 1879 को दोनों चान्सलरों ने इस पर हस्ताक्षर कर दिये। इस संधि के अनुसार जर्मनी और आस्ट्रिया ने यह प्रतिज्ञा की कि यदि रूस उनमें से किसी पर भी आक्रमण करे, तो दूसरा राज्य आक्रान्त देश की सहायता करे। यदि फ्रांस इन दोनों राज्यों में से किसी पर

आक्रमण करेगा, तो दूसरा राज्य तटस्थ रहेगा। पर यदि फ्रांस द्वारा आक्रमण में रूस उसका सहायक हो तो दूसरा राज्य उसकी सहायता करे। इस तरह 1879 की आस्ट्रो-जर्मन-संधि के द्वारा यूरोप में एक रक्षात्मक गुट (defensive alliance) की स्थापना हुई। यह गुट विशेषतः रूस और कुछ अंशों में फ्रांस के विरुद्ध था। सन्धि की सभी शर्तें गुप्त रखी गयीं और 1881 तक उन्हें प्रकाशित नहीं किया गया। प्रारम्भ में यह सन्धि केवल पाँच वर्षों के लिए की गयी थी। 1883 में इसे तीन साल के लिए फिर दोहराया गया। इसके बाद प्रति तीन साल पर दोनों देश इस सन्धि को दोहराते रहे और इस प्रकार यह सन्धि 1918 तक कायम रही।*

आस्ट्रो-जर्मन-सन्धि ने केवल जर्मनी को चिन्ता से मुक्त नहीं किया, वल्कि आस्ट्रिया की स्थिति भी इस सन्धि से सुरक्षित हो गया। आस्ट्रिया को भय था कि वाल्कन-समस्या को लेकर रूस के साथ उसका युद्ध हो सकता है। लेकिन अब इस सन्धि के बाद अगर रूस से उसकी लड़ाई भी होती तो उसे अब जर्मनी की सहायता का भरोसा हो गया था।

द्विगुट का महत्त्व :—आस्ट्रो-जर्मन-सन्धि बिस्मार्क के राजनीतिक जीवन की सबसे महान् विजय थी। इसके कारण बिस्मार्क की सभी चिन्ताओं का अन्त हो गया। इस सन्धि के कारण जर्मनी की स्थिति बहुत सुरक्षित हो गयी। उसे इस बात का अब भरोसा हो गया कि यदि फ्रांस ने जर्मनी से बदला चुकाने का कभी प्रयास किया तो वह इस विपत्ति का सामना आसानी से कर सकता है। अगर फ्रांस को रूस ने मदद की तो वैसी हालत में जर्मनी को आस्ट्रिया की सहायता प्राप्त होगी। इस सन्धि से आस्ट्रिया भी उतना ही सन्तुष्ट था जितना जर्मनी। फ्रांसीसी-जर्मन युद्ध की स्थिति में जर्मनी को मदद देने के लिए आस्ट्रिया किसी तरह वाध्य नहीं था, लेकिन रूस के खिलाफ आस्ट्रिया को पूरा आश्वासन मिल गया। आस्ट्रिया की सीमाएं सुरक्षित हो गयी क्योंकि तत्कालीन यूरोप का सबसे शक्तिशाली देश जर्मनी उसके साथ था।

जर्मनी और आस्ट्रिया के बीच की यह द्विगुट सन्धि बिस्मार्क की कूटनीति का एक अद्भुत चमत्कार माना गया। इसके कारण जर्मनी में उसकी लोकप्रियता बढ़ी तथा सारे यूरोप में उसकी सोहरत फैल गयी। बिना युद्ध किये या खून बहाये उसने सम्पूर्ण जर्मन जाति का एक सूत्र में बाँध दिया। प्रथम विश्व-युद्ध तक आस्ट्रो-जर्मन सन्धि बिस्मार्क की कूटनीति की महान् सफलता मानी जाती रही। लेकिन प्रथम विश्व-युद्ध के बाद कुछ लोगों में बिस्मार्क को इस सफलता पर सन्देह होने लगा, क्योंकि इस सन्धि के कारण जर्मनी आँख मूँदकर आस्ट्रिया का समर्थन

* G. P. Gooch : *History of Modern Europe*, p. 45.

करता रहा जिसके परिणामस्वरूप विश्व-युद्ध के कई कारण उत्पन्न हुए। वाद में इन कारणों से कई लोगों ने इस सन्धि को विस्मार्क की महान् भूल वतलाया क्योंकि आस्ट्रिया से सन्धि करके विस्मार्क ने रूस की ओर से विमुख होने की प्रवृत्ति को वढ़ावा दिया जिसके कारण फ्रांस और रूस के वीच सन्धि अवश्यम्भावी हो गयी। आस्ट्रो-जर्मन-सन्धि ने प्रथम विश्व-युद्ध का पृष्ठाधार को तैयार किया।

लेकिन विस्मार्क पर यह दोपारोपण पूर्णतया सत्य नहीं है। आस्ट्रिया के साथ जर्मनी की जो सन्धि हुई उसका स्वरूप रक्षात्मक थी और वाद में यदि इसके स्वरूप में परिवर्तन हुआ तो उसका उत्तरदायित्व विस्मार्क का न होकर उसके उत्तराधिकारियों पर था। यदि विस्मार्क अपने पद पर वना रहता तो यह सम्भव था कि वह आस्ट्रिया की आकांक्षा पर अंकुश लगाये रहता और रूस और आस्ट्रिया के वीच प्रत्यक्ष टक्कर को होने से रोकता। इसलिए यदि आस्ट्रो-जर्मन-सन्धि ने प्रथम विश्व-युद्ध की पृष्ठभूमि तैयार की तो इसके लिए विस्मार्क को दोषी ठहराना गलत है। इस प्रकार की कोई भी उत्तरदायित्व उसके उत्तराधिकारियों के माथे ही मढ़ा जा सकता है।

आस्ट्रो-जर्मन-सन्धि के सम्बन्ध में यह भी समझना भूल है कि विस्मार्क का उद्देश्य रूसी मित्रता का सदा-सर्वदा के लिए परित्याग कर देना था। आस्ट्रिया से संधि करने के वाद भी विस्मार्क की इच्छा थी कि वर्लिन और सेंट पीटर्सवर्ग के वीच सम्बन्ध कायम रहे और इस दिशा में वह सदैव प्रयत्नशील रहा तथा वाद में उसने सफलता भी हासिल की।*

इस प्रकार आस्ट्रो-जर्मन-सन्धि को लेकर विस्मार्क के पक्ष तथा विपक्ष में कई तर्क उपस्थित किये जाते हैं। इस वाद-विवाद में पड़े विना हम निश्चित रूप से कह सकते हैं कि इस द्विगुट संधि ने प्रथम विश्व-युद्ध के कई मौलिक कारणों को उत्पन्न किया भले ही उसके लिए विस्मार्क जिम्मेवार नहीं हो। द्विगुट के निर्माण ने यूरोप में एक अनिश्चित कूटनीतिक वातावरण को तैयार किया और यूरोप के राष्ट्र अपनी सुरक्षा को खतरा में पड़ा मानने लगे। जवतक विस्मार्क के हाथों में जर्मनी की नीति के सञ्चालन का भार रहा तवतक यह भय सीमित रहा। लेकिन विस्मार्क के पतन के वाद जर्मनी के अन्य पड़ोसी राष्ट्र काफी भयभीत हो गये और व द्विगुट के खिलाफ अपना अलग गुट वनाने लगे। इस स्थिति ने यूरोपीय शान्ति को असुरक्षित वना दिया। चूँकि ऐसी स्थिति का जन्मदाता विस्मार्क था, इसलिए इस हद तक हम उसको जिम्मेवार मान सकते हैं।

वर्लिन-सन्धि और तीन सम्राटों के संघ की पुनर्स्थापना :—यह समझ लेना गलत होगा कि आस्ट्रो-जर्मन-संधि से रूस और जर्मनी का सम्बन्ध सदा के लिए

* S. B. Fay : *Origins of the World War*, p. 69.

समाप्त हो गया। बिस्मार्क किसी भी हालत में रूस को सदा के लिए विमुख नहीं करना चाहता था। उसे फ्रांस से भय था। यदि रूस जर्मनी से अलग हो जाता है तो फ्रांस के साथ उसकी दोस्ती हो जाने की सम्भावना थी। तब इस हालत में जर्मनी को दो सीमाओं पर युद्ध करना पड़ता। यह बात ठीक है कि बर्लिन-सम्मेलन के बाद तीन सम्राटों का संघ ढीला पड़ गया था; लेकिन अभी इसका विधिवत् अन्त नहीं हुआ था। रूस में कुछ ऐसे लोग अभी भी थे जो जर्मनी के साथ अच्छा सम्बन्ध बनाये रखना चाहते थे। 1881 में जार एलेक-जेन्डर द्वितीय की मृत्यु हो गयी थी और इसका उत्तराधिकारी एलेकजेन्डर तृतीय आस्ट्रिया से नया झगड़ा मोल लेने की जगह अपने राज्य में विद्रोह दमन के लिए अधिक चिन्तित था। इसके अतिरिक्त, बहुत दिनों से रूस की आँखें बाल्कन की तरफ लगी हुई थीं और बिना जर्मनी और आस्ट्रिया की मदद के इन आकांक्षाओं की पूर्ति असम्भव था। उधर बिस्मार्क भी रूस के साथ अच्छा सम्बन्ध चाहता था। उसे भय था कि कहीं रूस फ्रांस के साथ न मिल जाय। अतः वह तीन सम्राटों के संघ को फिर से कायम करना चाहता था। आस्ट्रिया भी रूस के साथ भरसक अच्छा सम्बन्ध बनाये रखना चाहता था। ऐसी स्थिति में तीनों राज्यों के बीच एक संधि का होना आश्चर्यजनक बात नहीं थी।* अतः जून, 1881 में जर्मनी रूस और आस्ट्रिया के बीच बर्लिन में एक संधि हुई। यह संधि बिल्कुल गुप्त थी और बहुत दिनों तक दुनिया को इसका पता नहीं था। इस समझौते के अनुसार तीनों राज्यों ने वादा किया कि यदि उन तीनों में किसी एक पर किसी चौथे देश ने हमला कर दिया तो अन्य दो राज्य तटस्थ रहेंगे और कोशिश करेंगे कि वह युद्ध फैले नहीं। इसके अतिरिक्त संधि की शर्तों द्वारा यह भी तय हुआ कि बर्लिन-सम्मेलन (1878) द्वारा बाल्कन-प्रायद्वीप के सम्बन्ध में जो फैसले हुए थे, रूस उनका उल्लंघन नहीं करेगा, और टर्की के विषय में यदि कोई समस्या भविष्य में उत्पन्न हो तो तीनों राज्य आपस में मिलकर उसका फैसला करेंगे।†

1881 की बर्लिन की सन्धि बिस्मार्क की कूटनीति की दूसरी सफलता थी। तीन सम्राटों का संघ जो मृतप्राय हो चुका था वह फिर से जीवित हो उठा। इससे यूरोपीय शान्ति बनाये रखने में, जो बिस्मार्क की सबसे बड़ी इच्छा थी, बड़ी सहायता मिली। टर्की और बाल्कन की समस्याओं को लेकर आस्ट्रिया और रूस में झगड़ा होने की बराबर सम्भावना बनी रहती थी। बर्लिन की सन्धि के द्वारा यह आशंका कुछ दिनों के लिए जाती रही।

---

* Petrie : *Diplomatic History* (1713-1933) p. 232.

† A. J. P. Tayor : *Struggle for Mastery in Europe*, p. 237.

त्रिगुट की स्थापना
(Triple Alliance)

तीन सम्राटों के संघ को कायम कर लेने से ही विस्मार्क सन्तुष्ट नहीं हुआ। केवल आस्ट्रिया और रूस का समर्थन प्राप्त करके उसके उद्देश्य की पूर्ति नहीं हो रही थी। फिर रूस पर ज्यादा भरोसा करना भी ठीक नहीं था। जर्मनी की रक्षा के लिए वह अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में एक ऐसी नवीन पद्धति का सूत्रपात करना चाहता था, जिससे जर्मनी को किसी भी कोने से कोई खतरा न रहे। आस्ट्रिया और रूस उसके दोस्त थे। पड़ोस में एक और राष्ट्र बच रहा था वह था इटली। उसे भी क्यों नहीं अपने गुट में शामिल कर लिया जाय? इससे फ्रांस और भी अकेला पड़ जावेगा और जर्मनी से बदला लेने का उसका सारा स्वप्न टूट जायगा।*

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम भाग में फ्रांस और इटली दोनों ही उत्तरी अफ्रिका में साम्राज्य विस्तार का प्रयत्न कर रहे थे। दोनों की आँखें ट्यूनिस पर लगी हुई थीं। विस्मार्क फ्रांस को ट्यूनिस पर अधिकार जमाने के लिए प्रोत्साहित करने लगा। इसमें उसकी एक जबर्दस्त चाल थी। वह एक ही पत्थर से दो शिकार करना चाहता था। अगर वह फ्रांस की साम्राज्यवादी आकांक्षाओं को प्रोत्साहित करता है तो उसे दो लाभ होंगे। एक तो फ्रांस में जर्मनी के लिए सद्भावना का वातावरण तैयार होगा और दूसरे फ्रांस साम्राज्यवादी झंझटों में इतना फँस जायेगा कि उसे जर्मनी से बदला लेने का मौका नहीं मिलेगा। 1881 में फ्रांस ने ट्यूनिस को अपने अधिकार में कर लिया। इससे इटली में काफी असन्तोष फैला। विस्मार्क इसी अवसर की प्रतीक्षा में था। इटली में फ्रांस के खिलाफ जो भावना फैल रही थी, विस्मार्क उससे लाभ उठाना चाहता था। वह इटली को भी अपनी गुटबन्दी की पंक्ति में लाना चाहता था। लेकिन इटली और आस्ट्रिया बहुत दिनों से एक दूसरे के खिलाफ थे। आस्ट्रिया के कारण ही इटली की एकता में बाधाएँ पैदा हुई थीं और इटलीवाले इसको भूल नहीं सके थे। लेकिन विस्मार्क ने इटली को समझाया कि इटली की राष्ट्रीय महत्त्वाकांक्षाएँ तभी पूरी हो सकती हैं जब वह अन्य राष्ट्रों की सहायता प्राप्त करे। यह सहायता कौन दे सकता था? फ्रांस इटली के रास्ते कांटा ही था और ब्रिटेन किसी देश के साथ सन्धि ही नहीं करना चाहता था। अतः इटली को आस्ट्रिया के साथ अपनी परम्परागत शत्रुता भूल जानी चाहिए और मध्य यूरोप के इन देशों के साथ सन्धि कर लेनी चाहिए।†

* Holland Rose : *The Development of European Nations*, (vol II) p. 15.

† G. P. Gooch : *History of Modern Europe*, p. 44.

इटली के सामने बिस्मार्क का यही तर्क था और इस तर्क से इटली प्रभावित भी हुआ। इसके बाद 20 मई 1882 को इटली, जर्मनी और आस्ट्रिया के बीच एक सन्धि हुई। यह सन्धि त्रिगुट-सन्धि (Triple Alliance) के नाम से प्रसिद्ध है।

इस सन्धि के अनुसार इटली, जर्मनी और आस्ट्रिया ने यह निश्चय किया कि यदि फ्रांस इटली पर आक्रमण करे, तो जर्मनी और आस्ट्रिया उसकी सहायता करेंगे। यदि फ्रांस जर्मनी पर आक्रमण करे तो इटली जर्मनी की सहायता करेगा। यदि कोई अन्य दो राज्य (अर्थात् फ्रांस और रूस) त्रिगुट में सम्मिलित किसी भी राज्य पर आक्रमण करें तो तीनों मिलकर उनका मुकाबला करेंगे। यह सन्धि पाँच साल के लिए की गयी थी; लेकिन समय-समय पर इसको दुहराया जाता रहा और यह प्रथा 1915 तक कायम रही। सन्धि की शर्तें गुप्त रखी गयीं।

त्रिगुट का निर्माण बिस्मार्क की कूटनीति का परिणाम था और इसके कारण जर्मनी कि स्थिति बहुत ही सुरक्षित हो गयी। फ्रांस से उसे अब कोई भय नहीं रह गया; क्योंकि अगल-बगल के सभी देश जर्मनी के मित्र थे। त्रि-सम्राट्-संघ अभी भी कायम था और आस्ट्रिया, इटली तथा रूस के साथ जर्मनी की सन्धि हो चुकी थी। फ्रांस को मदद करनेवाला कोई नहीं था। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में फ्रांस बिल्कुल अकेला पड़ गया था। अगर कोई राज्य फ्रांस की सहायता भी करता तो जर्मनी के लिए कोई चिन्ता की बात नहीं थी; क्योंकि आस्ट्रिया की शक्ति जर्मनी के साथ थी। इसी प्रकार जर्मनी को रूस के खिलाफ भी आस्ट्रिया की सहायता उपलब्ध थी। बिस्मार्क की कूटनीति के कारण जर्मन की स्थिति बहुत मजबूत हो गयी है।*

त्रिगुट का निर्माण दुनिया के कूटनितिक इतिहास की एक असाधारण घटना थी। हाल तक जर्मनी, आस्ट्रिया और इटली एक दूसरे के घोर शत्रु थे। बिस्मार्क की नीति ने ही आस्ट्रिया को जर्मनी की राजनीति से निकाल बाहर किया था और अभी सेडवा के बहुत अधिक दिन नहीं हुए थे। इटली और आस्ट्रिया तो वर्षों से एक दूसरे के दुश्मन थे और उनके बीच भी युद्ध को समाप्त हुए अभी बहुत दिन नहीं हुए थे। लेकिन 1882 आते-आते ये तीनों देश एक ही गुट में सम्मिलित हो गये। पुराने दुश्मन अब मित्र थे और वे बीती हुई बातें भूल चुके थे। इस तरह की स्थिति को पैदा करने का सारा श्रेय बिस्मार्क को था।† इसके अतिरिक्त इन तीनों राज्यों को कुछ बहुमूल्य लाभ भी थे, जिनके कारण वे आपस में मिलकर इस प्रकार का गुट बनाने में समर्थ हो सके। जर्मनी

* S. B. Fay : *Origins of the World War*, pp. 85-86.

† Slosson *Europe Since 1470*, p. 79.

को तो लाभ-ही-लाभ-था। (1) वह फ्रांस की तरफ से बहुत-कुछ निश्चित हो गया। फ्रांस में प्रतिशोध की भावना विस्मार्क के सिर-दर्द थी। अब यह दर्द जाता रहा। (2) आस्ट्रिया को इस गुट में शामिल होने से यह लाभ था कि बाल्कन-प्रायद्वीप-सम्बन्धी नीति में उसे जर्मनी-जैसे शक्तिशाली देश की सहायता प्राप्त हो गयी थी। इस क्षेत्र में आस्ट्रिया को केवल रूस से डर था। लेकिन जर्मनी की सहायता प्राप्त करके आस्ट्रिया रूस का मुकाबला कर सकता था। (3) जहाँ तक इटली का प्रश्न था, वह इसलिए त्रिगुट में शामिल हुआ कि आस्ट्रिया और जर्मनी का वरदहस्त प्राप्त करके वह अपने साम्राज्यवादी उद्देश्यों की पूर्ति कर सकता था। इटली के साथ यह दिक्कत थी कि उसके साम्राज्यवादी हित केवल फ्रांस से ही नहीं, बल्कि आस्ट्रिया के हित से भी टकराते थे। इसलिए इटली बहुत दिनों तक त्रिगुट का वफादार सदस्य नहीं रह सका। आगे चलकर वह त्रिगुट को छोड़कर निकल गया और जर्मनी के दुश्मनों से मिल गया।* वास्तव में इस संधि का कारण इटली का फ्रांस के प्रति क्रोध था, जर्मनी तथा आस्ट्रिया के प्रति सद्भावना नहीं।†

जर्मन-रूस-'पुनराश्वासन-सन्धि' (Re-insurance Treaty):—हम कह चुके हैं कि 1881 में बर्लिन में रूस, आस्ट्रिया और जर्मनी के बीच एक सन्धि हुई थी, जिसके आधार पर त्रि-सम्राट-संघ को फिर से जीवित किया गया था। लेकिन, इस सन्धि के साथ अनेक कठिनाइयाँ थीं। तीन सम्राटों का संघ और 1879 की आस्ट्रो-जर्मन-सन्धि का एक साथ निभना कठिन था। इसके अतिरिक्त बाल्कन-प्रायद्वीप के सम्बन्ध में रूस और आस्ट्रिया के हितों में इतना विरोध था कि जर्मनी के लिए उन दोनों शक्तिशाली राज्यों में सन्तोषजनक सम्बन्ध स्थापित कराते रहना सम्भव नहीं था। बाल्कन-समस्याओं से अपने को अलग रखना आस्ट्रिया के लिए असम्भव था। जार को आस्ट्रिया से घृणा हो गयी थी। यही कारण है कि 1881 बर्लिन-सन्धि को 1887 में जार ने दुहराने से इन्कार कर दिया और तीन सम्राटों का संघ की समाप्ति हो गयी। किस तरह 1881 की सन्धि पुनः कायम हो जाय; इसके लिए विस्मार्क ने लाखों यत्न किये; लेकिन जार अपनी जिद्द पर अड़ा रहा। विस्मार्क नहीं चाहता था कि आस्ट्रिया के कारण जर्मनी और रूस का सम्बन्ध सदा के लिए टूट जायं। उसे रूस से कोई प्रत्यक्ष विरोध नहीं था। उधर फ्रांस और जर्मनी का सम्बन्ध दिनोंदिन बिगड़ रहा था। उसी समय विस्मार्क की चिंता, इस अफवाह से कि फ्रांस और रूस के बीच गुट कायम करने के लिए गुप्त

* N. Mansergh: *The Coming of the First World War*, p. 29.

† Holland Rose: *The Development of European Nations*, (vol II) p. 15.

वार्तालाप चल रहा है, बढ़ने लगी। वह रूस को छोड़ना नहीं चाहता था। अतः जब रूस ने यह प्रस्ताव रखा कि जर्मनी और रूस आस्ट्रिया को बिना शामिल किये ही एक पृथक् सन्धि करें, तो बिस्माक तुरत तैयार हो गया। 1887 में आस्ट्रिया से छिपाकर जर्मनी और रूस के बीच एक दूसरी सन्धि हुई। यह सन्धि 'पुनराश्वासन सन्धि' Re insurance Treaty) के नाम से प्रसिद्ध है। इस सन्धि के अनुसार रूस और जर्मनी के बीच यह तय हुआ कि यदि उनमें से कोई एक किसी तीसरे देश से युद्ध में फंस जाय तो दूसरा उस युद्ध में तटस्थ रहेगा। साथ ही जर्मनी ने यह वादा भी किया कि वह बाल्कन-प्रायद्वीप में रूस के हितों का विरोध नहीं करेगा। इस युग की अन्य सन्धियों की तरह इस सन्धि की शर्तें भी गुप्त रखी गयी। इस सन्धि से जर्मनी को यह लाभ हुआ कि रूस और आस्ट्रिया दोनों के साथ उसका पृथक् रूप से समझौता हो गया। तीन सम्राटों का संघ टूट चुका था। 1881 की बर्लिन-सन्धि भी समाप्त हो चुकी थी। इतना होने पर भी 1887 में बिस्मार्क ने रूस के साथ एक दूसरी सन्धि की। इससे जर्मनी तथा रूस एक दूसरे के मित्र बने रहे। यह बिस्मार्क की कूटनीति की ही विशेषता थी।*

रूमानिया के साथ सन्धि---बिस्माक ने अपनी कूटनीति की बदौलत त्रिगुट का निर्माण तो कर लिया, लेकिन इसी से उसका काम नहीं चल रहा था। वह रूमानिया को भी अपने गुट में शामिल कर लेना चाहता था। अतएव बिस्मार्क के प्रयास से पहले रूमानिया और आस्ट्रिया के बीच ३० अक्टूबर 1883 को एक संधि हुई। इसके द्वारा रूमानिया त्रिगुट का समर्थक हो गया। संधि के अनुसार तय हुआ कि यदि किसी हस्ताक्षरकारी पर दूसरे राज्य ने (रूस ने) आक्रमण किया तो वे एक दूसरे की सहायता करेंगे। यद्यपि संधि की किसी धारा में रूस के नाम का उल्लेख नहीं किया गया लेकिन "दूसरे राज्य द्वारा आक्रमण" से रूस की ओर ही संकेत था। संधि की शर्तें पूर्णतया गुप्त रखी गई थी। उसी दिन जर्मनी भी इस संधि में शामिल हो गया। यह संधि प्रथम विश्व-युद्ध तक कायम रही।

फ्रांस के साथ सम्बन्ध-- बिस्मार्क की कूटनीति ने फ्रांस को अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में एकदम अकेला कर दिया। उसको स्पष्टतः पता चल गया कि जर्मनी से बदला लेना आसान नहीं है। लेकिन इस स्थिति में पहुँचने पर भी फ्रांस आल्सेस लोरेन को कभी नहीं भूला। अगले वर्षों में बिस्माक यही प्रयास करता रहा कि फ्रांस किसी तरह इस घटना को भूल जाय ताकि भविष्य में जर्मनी से कोई भय नहीं रहे। इसके लिए वह फ्रांस का ध्यान आल्सेस लोरेन से खींचकर औपनिवेशिक विस्तार की ओर लगाना चाहता था जिसे फ्रांस को खोये हुए प्रान्तों के विषय में

* S. B. Fay : *Origins of the World War*, pp. 97-100

सोचने का मौका नहीं मिले। उसने कई बार फ्रांस को आश्वासन दिया कि यदि वह ट्यूनिश पर अधिकार जमाना चाहता है तो इस काम में जर्मनी उसका हर तरह से समर्थन करने के लिए तैयार है। अन्य औपनिवेशिक बातों पर भी उसने फ्रांस का समर्थन करने का वचन दिया। इतना होने पर भी फ्रांस के लोग आल्सेस लोरेन को नहीं भूले।*

बूलांजे आन्दोलन—1886 के बाद फ्रांस में जर्मन-विरोधी आन्दोलन अत्यन्त उग्र हो गया। इस आन्दोलन की जड़ में बूलाँजे (Boulanger) नामक एक सैनिक अफसर था। जनवरी 1866 में वह युद्ध मंत्री के पद पर नियुक्त किया गया। बूलाँजे एक महत्त्वाकांक्षी व्यक्ति था जो फ्राँसीसी गणराज्य का अन्त कर स्वयं तानाशाह बनना चाहता था। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए वह काम करने लगा। पहले तो उसने सेना को प्रसन्न करके अपने पक्ष में करना चाहा। फिर जर्मनी के विरुद्ध जनता की भावना को उभाड़कर अपना प्रभाव बढ़ाना शुरू किया। वह बराबर कहा करता था कि "आल्सेस लोरेन में वे हमारी प्रतीक्षा कर रहे हैं।" फ्राँसीसी जनता बहुत पहले से जर्मनी से बदला लेने के लिए उतावली हो रही थी। जब जनरल बूलाँजे खुले तौर पर प्रतिशोध की बात करने लगा तो बहुत से व्यक्ति उसके कट्टर समर्थक हो गये। 1888 में जब फेरी मंत्रिमंडल का पतन हो गया तो बूलाँजे को एक प्रान्तीय सेना का सेनापति बना दिया गया। एक दिन वह बिना छुट्टी लिए ही पेरिस लौट आया। इस पर सरकार ने उसे पदच्युत कर दिया। इसके बाद वह प्रतिनिधि सभा की कई क्षेत्रों से चुनाव लड़ा और पाँच महीने में कई बार निर्वाचित भी हो गया। गणतन्त्र के लिए एक महान् संकट उपस्थित हो गया। यदि इस समय वह नेपोलियन की तरह सत्ता हस्तगत करने का यत्न करता तो सफल हो जाता, लेकिन वह डरपोक था। कुछ दिनों के बाद सरकार ने उस पर राज्य के विरुद्ध षड्यंत्र रचने का अभियोग लगाया और उसे कैद करने का आदेश दिया। इस पर बूलाँजे देश छोड़कर भाग गया और कुछ दिनों के बाद आत्म हत्या कर लिया।

बूलाँजे के इस अभ्युदय से फ्राँस और जर्मनी का सम्बन्ध बहुत खराब हो गया। युद्ध मन्त्री की हैसियत से बूलाँजे ने यह आदेश दिया कि पूर्वी सीमा पर अधिक-से-अधिक सेना रखी जाय और इसके लिए बड़े-बड़े बैरक बनने लगे। इस पर बिस्मार्क के कान खड़े हुए और उसने भी पश्चिमी सीमा पर एक बहुत बड़ी सैनिक टुकड़ी को तैनात कर दिया। इसको लेकर 1886 के अन्त में ऐसा प्रतीत होने लगा कि दोनों देशों के बीच पुनः लड़ाई छिड़ जायगी। लेकिन सौभाग्यवश ऐसा नहीं हो सका। बिस्मार्क को इन सारी घटनाओं की जानकारी होती रही

* G. P. Gooch : *History of Modern Europe* p. 108.

और वह इसको लेकर बहुत चिन्तित रहने लगा। अतएव जर्मनी की सैनिक शक्ति बढ़ाने के लिए उसने रीहस्टाग से 1887 में एक कानून पास करवाकर जर्मनी की सेना की संख्या को दुगनी करा दिया। पेरिस में इसकी तीव्र प्रतिक्रिया हुई और अगले वर्ष वहाँ के बजट में भी सेना पर बहुत अधिक खर्च करने का निश्चय किया गया। सैनिक खर्च में इस तरह वृद्धि हो रही थी, इसको लेकर 1888 में पुनः दोनों देशों में एक दूसरे के विरुद्ध भावना काफी बढ़ गयी और लगने लगा कि दोनों के बीच युद्ध होकर रहेगा।

च्नावेल कांड—इसी समय एक च्नावेल कांड (Schnaebele Crisis) को लेकर भी दोनों देशों का सम्बन्ध खराब हुआ। च्नावेल एक फ्रांसीसी पुलिस अफसर था। 20 अप्रिल 1887 को जर्मनी की भूमि पर उसे कैद कर लिया गया और उस पर यह आरोप लगाया कि वह जासूसी का काम कर रहा था। फ्रांस के लोगों ने कहा कि उसे धोखा से जर्मन सीमा के अन्दर ले जाया गया था और जान बूझ कर उसको फँसाने के लिए जर्मन सीमान्त के अधिकारियों ने ऐसा किया था। दोनों देशों में इस कांड को लेकर काफी हल्ला मचा। जब बिस्मार्क को इस बात का पता चला कि च्नावेल जर्मन अधिकारियों के आमंत्रण पर सीमा पार किया था तो उसने उसे तुरत मुक्त करने की आज्ञा दे दी।

बूलाँजे आन्दोलन और च्नावेल कांड से जर्मनी और फ्रांस के बीच लड़ाई तो नहीं हो सकी, पर इन घटनाओं ने फ्रांस और रूस के बीच सन्धि का मार्ग प्रशस्त कर दिया। इसी समय से फ्रांस और रूस के बीच मेलमिलाप की बात चलने लगी।

बिस्मार्क की विदेशनीति की समीक्षा

बिस्मार्क का पतन—सम्राट् विलियम प्रथम की मृत्यु 1888 में हुई। उसके मरने के बाद विलियम द्वितीय जर्मनी का सम्राट् हुआ। विलियम की उम्र उस समय केवल 29 वर्ष की थी। अनुभवहीन होने पर भी वह बहुत ही महत्त्वाकांक्षी था। वह राज्य के सम्पूर्ण मामलों में हस्तक्षेप करना चाहता था। बिस्मार्क-जैसे व्यक्ति के लिए यह असह्य था। उसने क्रुद्ध होकर अपना त्यागपत्र दे दिया। विलियम ने उसे सहर्ष स्वीकार कर भी लिया। राज्यरूपी जहाज का वह महासंचालक, जो वर्षों से इस जहाज को आंधी और तूफान से बचाकर चलाता आ रहा था, अन्त में विलियम के द्वारा हटा दिया गया। यह घटना जर्मनी के लिए शुभ नहीं थी। विलियम ने बिस्मार्क के त्यागपत्र को स्वीकार करते हुए कहा भी था—'ईश्वर की इच्छा के सम्मुख मनुष्य क्या कर सकता है ?'

जर्मनी के हित के लिए बिस्मार्क से जो कुछ हो सकता था उसने वह किया। उनके विचार में नवीन जर्मनी को सबसे बड़ा खतरा फ्रांस से था। बिस्मार्क की

कूटनीति ने फ्रांस को असहाय बना दिया था। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में फ्रांस बिल्कुल अकेला पड़ गया। अपने त्यागपत्र देने से पहले उसने यूरोप में गुटबन्दी का जाल-सा बिछा दिया था और इस जाल में इटली, आस्ट्रिया और रूस तीनों फँस चुके थे। इतनी गुटबन्दी के बाद अगर आस्ट्रिया जर्मनी पर चढ़ाई करता तो रूस की तटस्थता उसके पक्ष में थी। अगर जर्मनी पर रूस आक्रमण करता तो उसे आस्ट्रिया की तटस्थता प्राप्त थी। इसी तरह यदि जर्मनी और फ्रांस के बीच युद्ध होता तो जर्मनी को इटली की सहायता प्राप्त थी और अगर रूस तथा फ्रांस मिलकर जर्मनी पर आक्रमण करते तो जर्मनी को इटली तथा आस्ट्रिया की संयुक्त सहायता प्राप्त होती। जर्मनी को अब किसी यूरोपीय शक्ति की परवाह नहीं थी। फ्रांस असहाय हो चुका था; यूरोपीय राजनीति में अब उसका कोई महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं रहा गया था। बिस्मार्क की कूटनीति से यूरोप का नेता अब जर्मनी था। वह यूरोप के पाँच शक्तिशाली राष्ट्रों—आस्ट्रिया, फ्रांस, रूस, ब्रिटेन तथा इटली—को कठपुतली की तरह सफलतापूर्वक नचाया करता था। विलियम प्रथम के शब्दों में बिस्मार्क एक ऐसा बाजीगर था जो एक ही साथ पाँच गेंदों रूस, आस्ट्रिया, फ्रांस, इटली तथा ब्रिटेन को आकाश में उछालता रहता था।*

त्रिगुट में अन्तर्विरोध—बिस्मार्क ने जिस अन्तर्राष्ट्रीय पद्धति का प्रारम्भ किया उसमें अनेक कमजोरियाँ थीं। अनेक 'कठपुतलियों' को एक साथ नचाना एक कठिन और जटिल काम था। बिस्मार्क ही एक ऐसा 'बाजीगर' था जो इस जटिल कार्य को सरलता और सफलतापूर्वक सम्पन्न कर सकता था।† इसमें कोई शक नहीं कि बिस्मार्क की नीति के फलस्वरूप फ्रांस कुछ दिनों के लिए अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में असहाय हो गया और उसके लिए अपने राष्ट्रीय अपमान का बदला लेना असम्भव-सा हो गया। बिस्मार्क की नीति से यूरोपीय शान्ति और यथास्थिति, जिसको वह बनाये रखना चाहता था, कायम रही। लेकिन यह समझ लेना सर्वथा गलत होगा कि यह शान्ति और यथास्थिति बिस्मार्क की गुटबन्दी-पद्धति के कारण कायम रही। बिस्मार्क के कार्यकाल में शान्ति एकमात्र इसी कारण से बनी रही कि वह इसका सबसे बड़ा समर्थक था। बिस्मार्क जब तक जर्मनी का चान्सलर रहा तब तक वह यूरोपीय शान्ति का जबर्दस्त समर्थन करता रहा और उसने अपनी सारी राजनीतिक कुशलता इसी शान्ति को कायम रखने में लगा दी। यह कहना एक बहुत बड़ा भ्रम होगा कि गुटबन्दी से यूरोपीय शान्ति कायम रही। राष्ट्रों के गुटबन्दी से न आज तक कभी विश्व में शान्ति रही है और न भविष्य में कभी रह सकती है। और बिस्मार्क की गुटबन्दी-पद्धति से शान्ति की आशा

* Ketelbey : *History of Modern Times*, p. 377.

† *Ibid*, p. 377.

करना तो केवल अपने को भ्रम में रखना है; क्योंकि वह परस्पर विरोधी हितों से पूर्ण थी।

बिस्मार्क के गुट में आस्ट्रिया, रूस और इटली थे। इन तीनों राज्यों के हित एक दूसरे से टकराते थे और उनमें परस्पर समन्वय एकदम असम्भव था। आस्ट्रिया और रूस के लिए एक गुट में रहना काफी कठिन था। कारण, इन दोनों के हित और स्वार्थ बाल्कन-प्रायद्वीप में टकराते थे और वे हित एक दूसरे के इतने विरोधी थे कि उन पर इन दोनों राष्ट्रों में कभी मेल नहीं हो सकता था। इसी तरह आस्ट्रिया और इटली को भी एक गुट में रखना असम्भव कार्य था। यद्यपि फ्रांस के विद्वेष से इटली त्रिगुट में शामिल हो गया; पर वस्तुतः आस्ट्रिया के साथ उसका हित विरोध बहुत अधिक था—खासकर एड्रियाटिक सागर के तट पर इटली और आस्ट्रिया के स्वार्थों में गहरा विरोध था। इसीलिए, इटली कभी भी त्रिगुट का वफादार सदस्य नहीं रहा। यही हालत रूस की भी थी। यह कहना कि रूस आस्ट्रिया से घृणा करता था, कोई अतिरंजित नहीं होगा। रूस ज्यों-ज्यों बाल्कन-प्रायद्वीप में आस्ट्रिया के प्रभाव को बढ़ते हुए देखता था त्यों-त्यों उसकी चिन्ता बढ़ती थी और वह किसी ऐसे मित्र की तलाश में था, जो आस्ट्रिया के बढ़ते हुए प्रभाव को रोकने में उसकी मदद कर सके। स्वभावतः ऐसा मित्र फ्रांस हो सकता था और यही कारण है कि बिस्मार्क के कार्यकाल में ही रूस फ्रांस की तरफ झुकने लगा था।

ब्रिटेन की उपेक्षा बिस्मार्क की गुटबन्दी-पद्धति के और अवगुण थे। इसकी नींव—त्रिगुट तो कमजोर थी ही। इस पद्धति की सबसे बड़ी कमजोरी यह थी कि इसमें ब्रिटेन के लिए कोई स्थान नहीं था। उस समय ब्रिटेन विश्व का सबसे शक्तिशाली राष्ट्र था। ऐसे राष्ट्र द्वारा बढ़ाये गये दोस्ती के हाथ को स्वीकार करने से बिस्मार्क ने इन्कार कर दिया; क्योंकि ब्रिटेन से दोस्ती करने का अर्थ था रूस को अप्रसन्न करना। जमाने से रूस और ब्रिटेन एक-दूसरे के शत्रु थे। अरसे से रूस बाल्कन-प्रायद्वीप में प्रवेश करने की आकांक्षा पाल रहा था। और, इसी राह तुर्की-साम्राज्य का नाश कर भूमध्यसागर पर आधिपत्य कर ब्रिटेन के भारतीय साम्राज्य पर आक्रमण करने का मनसूबा बाँध रहा था। ब्रिटेन इस बात को कैसे सहन करता? ऐसी स्थिति में अगर बिस्मार्क ब्रिटेन से मिल जाता तो रूस जर्मनी का साथ न देता। बिस्मार्क के लिये रूस की मित्रता जितनी मूल्यवान थी उतनी ब्रिटेन की नहीं; क्योंकि रूस पड़ोसी राष्ट्र था और जर्मनी पर आसानी से चढ़ाई कर सकता था। अतः ब्रिटेन के बदले रूस को अपनाना जर्मनी के लिए कोई गलत नीति नहीं थी। पर इस तर्क से

ब्रिटेन को विस्मार्क की अन्तर्राष्ट्रीय पद्धति में स्थान नहीं देने को ठीक नहीं सावित किया जा सकता है। जिस नीति से एक दूसरे के शत्रु आस्ट्रिया और रूस एक गुट के सदस्य हो सकते थे उसी नीति से एक दूसरे के शत्रु रूस और ब्रिटेन भी एक गुट के सदस्य हो सकते थे। यह विस्मार्क की गलती थी कि उसने ब्रिटेन को अपने पक्ष में नहीं मिलाया। यद्यपि ब्रिटेन को विस्मार्क अपने गुट का सदस्य नहीं बना सका तथापि उसने जी-जान से यह कोशिश की कि ब्रिटेन और जर्मनी का सम्बन्ध अच्छा बना रहे और विस्मार्क के पदत्याग के बहुत दिनों बाद तक भी आँग्ल-जर्मन सम्बन्ध अच्छा रहा। लेकिन यह भी सत्य है कि ब्रिटेन विस्मार्क की गुटबन्दी-प्रथा से भीतर-ही-भीतर काफी भयभीत हो रहा था। उस समय ब्रिटेन अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में उदासीनता की नीति अपनाये हुए था। विस्मार्क की गुटबन्दी-प्रथा से ब्रिटेन को खतरा पहुँचने की सम्भावना थी। अतः ब्रिटेन में उदासीनता की नीति को परित्याग करने की बात चल पड़ी। कुछ दिनों के बाद ब्रिटेन ने इस नीति का परित्याग कर दिया और जब जर्मनी की गुटबन्दी काफी खतरनाक हो गयी तो उसके विरुद्ध ब्रिटेन ने भी एक गुट का निर्माण किया। अतएव विस्मार्क पर यह दोषारोपण किया जा सकता है कि उसने अपनी नीति से ब्रिटेन को जर्मनी के खिलाफ गुट कायम करने के लिए वाध्य किया।*

यही बात फ्रांस के साथ भी लागू हो सकती है। फ्रांस को 1891 में पराजित करने के बाद विस्मार्क को दो में से कोई एक काम करना चाहिए था। फ्रांस को या तो इस बात पर किसी तरह राजी करा लेना चाहिए था कि वह 1871 की बातों को भूल जाय और जर्मनी से बदला लेने की इच्छा का परित्याग कर दे। लेकिन, यह कुछ कठिन काम था और फ्रांस अपने राष्ट्रीय अपमान को आसानी से नहीं भूल सकता था। बिस्मार्क का दूसरा काम यह हो सकता था कि वह फ्रांस को सैन्य शक्ति की दृष्टि से इतना कमजोर बना देता, जिससे फ्रांस को जर्मनी से बदला लेने की कभी हिम्मत ही नहीं होती। पर विस्मार्क इन दोनों में एक काम भी नहीं कर सका। इसके विपरीत फ्रांस के खिलाफ गुट कायम करके उसने फ्रांस को वाध्य किया कि वह भी दुनिया में अपने लिए मित्र ढूढ़े।†

नवीन पद्धति—इस प्रकार विस्मार्क अपने उत्तराधिकारियों के लिए एक कठिन और जटिल समस्या छोड़ गया। उसने जिस अन्तर्राष्ट्रीय नीति का आरम्भ किया था उसका संचालन स्वयं वही कर सकता था। विलियम द्वितीय जैसा अनुभवहीन व्यक्ति उस नीति का संचालन करने में अयोग्य और असमर्थ था। इसके लिए स्वयं विस्मार्क भी कम जिम्मेवार नहीं था। उसने यूरोप को अन्तर्राष्ट्रीय

*Ketelbey : *History of Modern Times*, p. 378.

†Ketelbey : *Ibid.*

राजनीति में एक ऐसी नवीन पद्धति का सूत्रपात किया जो कूटनीतिक इतिहास के लिए एक बिल्कुल नयी चीज थी। पहले भी गुट बना करते थे परन्तु उनका निर्माण युद्धकाल में होता था और वे युद्ध के लिए तथा प्रायः युद्धकाल तक ही रहते थे। परन्तु बिस्मार्क ने शान्तिकाल में युद्ध रोकने और शान्ति बनाए रखने के लिए तथा आत्म-रक्षा के लिए गुट बनाने की प्रथा शुरू की। उसने आस्ट्रिया से मिलकर द्विगुट का निर्माण किया और इसमें इटली को शामिल करके उसे त्रिगुट का रूप दिया। रूस को भी उसने वर्षों तक 'तीन सम्राटों के संघ' में शामिल रखा। इन संधियों के अतिरिक्त उसने यूरोप में शान्ति बनाये रखने के उद्देश्य से 1881 में आस्ट्रिया और सर्बिया के बीच तथा 1883 में आस्ट्रिया और रूमानिया के बीच भी संधियाँ करवाई।* वह इंगलैंड को भी अपने गुट में शामिल करना चाहता था। इसमें उसे सफलता तो नहीं मिली परन्तु उसने इंगलैंड के साथ अच्छा सम्बन्ध रखा। 1887 में उसने प्रोत्साहन देकर इंगलैंड, आस्ट्रिया तथा इटली के बीच भूमध्यसागर में यथास्थिति कायम रखने तथा अन्य शक्तियों के अतिक्रमण को रोकने के लिए समझौते करवाए।† इस प्रकार उसने विभिन्न राज्यों से संधियाँ एवं समझौते करके जर्मनी के लिए एक बड़ी पेचीदी रक्षात्मक व्यवस्था की। इस व्यवस्था में बड़े पेच, अन्तर्विरोध और कमजोरियाँ थीं।

इसके अतिरिक्त जैसा हम देख चुके हैं, बिस्मार्क की यह नवीन अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था अत्यन्त पेचीदी थी। बिस्मार्क तो उसे सम्हाले रहा, परन्तु उसके बाद वह कायम न रह सकी। यद्यपि यह व्यवस्था शान्ति के लिए कायम की गयी थी, और इससे कुछ समय के लिए शान्ति स्थापित भी रही, तो भी अन्त में उसने यूरोप को दो सशस्त्र शिविरों में विभक्त कर दिया और यह अनिवार्य कर दिया कि भावी युद्ध एक साधारण स्थानीय युद्ध न होकर एक यूरोपीय युद्ध हो।£

---

*Petrie : *Diplomatic History* (1713-1933) p. 235.
†Slosson : *Europe Since* 1870, p. 80.
£Marriot : *Europe and Beyond*, p. 40.

फ्रांस और रूस के द्विगुट का निर्माण

जर्मनी की विदेशनीति :—1890 में विस्मार्क के पदत्याग के बाद जर्मनी की नीति का संचालन स्वयं सम्राट् विलियम के हाथों में आ गया। इसके परिणामस्वरूप जर्मनी की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में पर्याप्त परिवर्तन हुआ। कैसर में एक अच्छे कूटनीतिज्ञ की क्षमता नहीं थी। वह घमंडी व्यक्ति था और उसमें अहम् की भावना कूट-कूट कर भरी पड़ी थी। दोस्त या दुश्मन के साथ कैसा व्यवहार किया जाय, वह नहीं जानता था। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में उसने विस्मार्क की नीति का परित्याग कर दिया। उसके अनुसार जर्मनी एक तृप्त देश नहीं था, वल्कि एक ऐसा राष्ट्र था जिसका पर्याप्त विस्तार हो सकता था। उसकी यह महत्त्वाकाँक्षा थी कि जर्मनी संसार में शिरोमणि हो जाय। जर्मनी की दिलचस्पी केवल यूरोपीय राजनीति में ही नहीं थी वल्कि विश्व-राजनीति में भी थी। वह चाहता था कि जर्मनी संसार का नेतृत्व करे और "जर्मन तथा जर्मन-सम्राट् की अनुमति के विना अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में पत्ता तक भी न हिल सके।" विश्व-राजनीति में दिलचस्पी का अर्थ था कि संसार में जर्मनी का भी औपनिवेशिक साम्राज्य स्थापित हो। कैसर को इसके लिए वहुत दुःख था कि विस्मार्क ने जर्मनी के औपनिवेशिक साम्राज्य के लिए कोई विशेष प्रयत्न नहीं किया। जर्मनी की जनसंख्या वढ़ती जा रही थी। इस आवादी के लिए दुनिया में कहीं जगह तो चाहिए ही। जर्मनी के उद्योग-धन्धे वढ़ रहे थे और औद्योगिक क्रांति तीव्र गति से प्रगति कर रही थी। इसके लिए जर्मनी को वाजार की आवश्यकता थी। अतः जर्मनी के लिए भी उपनिवेश एक जीवन-मरण का प्रश्न था।

उपनिवेश-विस्तार के साथ-साथ कैसर नौ-सेना की वातें करने लगा। कैसर की इच्छा थी कि जर्मनी प्रथम श्रेणी की सामुद्रिक शक्ति वन जाय जिससे समुद्र में भी जर्मनी का मुकावला दूसरा राज्य न कर सके। अगर जर्मनी का प्रभाव समुद्र पर स्थापित नहीं हुआ तो ब्रिटेन उसे वरावर धमकाता रहेगा। अतः ब्रिटेन को शांत रखने के लिए जर्मनी को एक शक्तिशाली सामुद्रिक शक्ति वनना आवश्यक था।

इस तरह कैसर की विदेश-नीति के तीन आधार हो गये—विश्व-राजनीति, उपनिवेश और नौ-सेना। इस प्रकार की विदेश-नीति को अपनाकर कैसर विलियम ने विस्मार्क द्वारा स्थापित अन्तर्राष्ट्रीय पद्धति का सर्वनाश कर दिया। अव जर्मनी

की नीति यूरोप में यथास्थिति या शक्ति-संतुलन बनाये रखने की नही थी। कैसर का कहना था कि "इस संसार में हमारे और हमारी सेना के सिवा दूसरा कई शक्ति-संतुलन का सिद्धान्त नही है।" इस तरह की बातें कोई कूटनीतिज्ञ नहीं कर सकता था। इसका अर्थ यह होता था कि जर्मनी संसार पर अपना आधिपत्य कायम करना चाहता है। ऐसी हालत में बिस्मार्क द्वारा किये गये कामों का नष्ट हो जाना कोई आश्चर्यजनक बात नही थी। तीन साल के अन्दर रूस जर्मनी से विलग हो गया और फ्रांस के साथ मेल-मिलाप की बातें करने लगा। छह साल के भीतर ब्रिटेन भी रुष्ट हो गया और 1907 में रूस, फ्रांस तथा ब्रिटेन को मिलाकर जर्मनी के खिलाफ एक दूसरा त्रिगुट भी स्थापित हो गया। इटली भी जर्मनी से दूर हटने लगा।

पुनराश्वासन संधि का अन्त :—रूस और फ्रांस के बीच 1893 की सन्धि कैसर की नयी विदेश नीति का पहला परिणाम था। बिस्मार्क रूस और जर्मनी की मित्रता का बहुत बड़ा समर्थक था। वह नहीं चाहता था कि 'सेंट पिटर्सबर्ग-बर्लिन-मार्ग' में कहीं किसी प्रकार की खाई उत्पन्न हो जाय। इसी भावना से प्रेरित होकर अनेक कठिनाइयों के बाद भी उसने रूस के साथ 1887 में पुनराश्वासन सन्धि की थी। शर्त के अनुसार इस सन्धि को 1890 में दुहराया जाना चाहिए था और अगर बिस्मार्क की नीति का अनुसरण किया जाता तो यह सन्धि अवश्य दुहरायी जाती। लेकिन कैसर ने इसकी आवश्यकता नही समझी; क्योंकि उसके अनुसार यह सन्धि 'बहुत-ही जटिल' थी और इससे 'आस्ट्रिया को खतरा' था। अतः उस वर्ष 'पुनराश्वासन सन्धि' स्वयमेव समाप्त हो गयी। अब फ्रांस की तरह रूस भी यूरोपीय राजनीति में अकेला पड़ गया।* कैसर के विचार में बाल्कन-प्रायद्वीप को लेकर रूस और आस्ट्रिया के बीच युद्ध अवश्यम्भावी था और वह पहले से ही इस बात का निर्णय कर लेना चाहता था कि ऐसी हालत में वह किसका साथ देगा—रूस का या आस्ट्रिया का। कहना न होगा कि कैसर की निगाहों में रूस से बढ़कर आस्ट्रिया की मित्रता मूल्यवान थी। अतः उसने रूस की मित्रता की कुर्बानी कर दी।†

द्विगुट की स्थापना :—फ्रांस और रूस दो ऐसे देश थे, जिनकी परम्परा और संस्कृति एक दूसरे से बिल्कुल भिन्न थीं। एक क्रान्तिकारी प्रवृत्तियों तथा गणतंत्रवाद की जन्मभूमि था तो दूसरा एकतन्त्र स्वेच्छाचारी शासन का अखाड़ा। लेकिन इस तरह का सैद्धान्तिक मतभेद होने पर भी दोनों देशों के बीच 1894 में एक सन्धि हो गयी। इसके अनेक कारण थे।

* N. Mansergh : *Coming of the First World War*, p. 33.

† कुछ इतिहासकारों का कहना है कि पुनराश्वासन सन्धि को नहीं दुहराने से ही फ्रांस और रूस के बीच 1894 की सन्धि हुई। प्रोफेसर फे इस बात को नहीं मानते। इस पहलू पर उनके विचार के लिए देखिए *Origins of the World War*, pp. 92-96.

फ्रांस द्वारा मित्र की तलाश—बिस्मार्क की विदेशनीति के कारण फ्रांस कुछ दिनों के लिए यूरोपीय राजनीति में बिल्कुल अकेला पड़ गया था। 1871 के बाद से फ्रांस की ऐसी दशा हो गयी थी कि यूरोप में उसको कोई सहायक नजर नहीं आ रहा था। फ्रांस को जर्मनी से अपने राष्ट्रीय अपमान का प्रतिशोध लेना था और आल्सेस-लोरेन के प्रान्त को पुनः प्राप्त करना था; पर जर्मनी उस समय यूरोप का सर्वशक्तिमान राज्य था। मध्य यूरोप के सभी शक्तिशाली राष्ट्र उसके दोस्त थे। ऐसी स्थिति में अकेले रहकर फ्रांस किस प्रकार अपनी आकांक्षाओं की पूर्त्ति कर सकता था? अतएव फ्रांस एक ऐसे मित्र की तलाश में था जो समय पड़ने पर जर्मनी के विरुद्ध उसकी मदद करे।*

रूस द्वारा मित्र की तलाश—रूस में कुछ ऐसे व्यक्ति थे, जो रूस और जर्मनी के बीच अच्छा सम्बन्ध बनाये रखना चाहते थे। रूसी विदेश मन्त्री गियर्स इसको परम आवश्यक समझता था। इसलिए उसने पुनराश्वासन सन्धि को 1889 में दुहराने का प्रयत्न भी किया था। कैसर विलियम जैसा कि ऊपर बतलाया जा चुका है, इस सन्धि को दुहराना नहीं चाहता था। फलतः 1890 में यह सन्धि समाप्त हो गयी। अब रूस भी फ्रांस की तरह यूरोपीय राजनीति में अकेला पड़ गया। ऐसी स्थिति में रूस, फ्रांस की तरह, एक ऐसे मित्र की तलाश में था जो समय पड़ने पर उसकी मदद कर सके।†

बाल्कन प्रायद्वीप की राजनीति—बहुत दिनों से रूस की आकांक्षा थी कि वह पूर्वी यूरोप को अपने साम्राज्य में शामिल कर ले। पूर्वी यूरोप के अधिकांश लोग स्लाव-नस्ल के थे और ग्रीक चर्च में विश्वास करनेवाले ईसाई थे। रूस का जार अपने को दुनिया के सभी स्लाव-नस्ल के लोगों तथा ग्रीक चर्च के ईसाइयों का नेता मानता था। उसकी बड़ी इच्छा थी कि वह अपने नेतृत्व में इन सभी लोगों को एक सूत्र में बाँधे। यूरोप के इस हिस्से का अधिकांश तुर्की-साम्राज्य के अन्तर्गत पड़ता था। रूस की आकांक्षा तभी पूरी हो सकती थी जब तुर्की-साम्राज्य का विनाश हो जाता। लेकिन, ब्रिटेन और आस्ट्रिया रूस की इस आकांक्षा के बहुत बड़े विरोधी थे। ब्रिटेन के हितों की रक्षा इसी बात में थी कि तुर्की-साम्राज्य किसी तरह कायम रहे। आस्ट्रिया स्वयं बाल्कन प्रायद्वीप में अपना विस्तार करना चाहता था। इसलिए आस्ट्रिया और रूस के हित परस्पर टकराते थे और जर्मनी आस्ट्रिया का मित्र था। ऐसी स्थिति में रूस को अपनी आकांक्षों की पूर्ति के लिए कोई दूसरा रास्ता ढूँढ़ना आवश्यक था।

---

* G. P. Gooch : *History of Modern Europe*, p. 104.

† Grant and Temperley : *Europe in Nineteenth and Twentieth Centuries*, p. 323.

तुर्की-साम्राज्य की रक्षा में केवल ब्रिटेन को ही दिलचस्पी नहीं थी, बल्कि इधर हाल से जर्मनी भी उसमें दिलचस्पी लेने लगा था। जर्मनी अपने साम्राज्य-विस्तार के लिए तुर्की को अपना मित्र बनाना चाहता था। इससे रूस और भी सशंकित हो उठा। इसके अतिरिक्त उपनिवेश कायम करने के क्रम में जर्मनी को कुछ सामुद्रिक अड्डे की आवश्यकता थी। जुलाई, 1890 में ब्रिटेन और जर्मनी के बीच हेलिगोलैंड की सन्धि हुई। इस सन्धि के अनुसार जर्मनी को कुछ सामुद्रिक अड्डे प्राप्त हुए। रूस की शंका और भी बढ़ने लगी। उसको शक हुआ कि रूस और ब्रिटेन धीरे-धीरे एक दूसरे से मिल रहे हैं और दोनों आपस में मिलकर तुर्की में उसका विरोध करेंगे। रूस और जर्मनी के बीच तनाव का यह एक बहुत बड़ा कारण था।

त्रिगुट का दुहराया जाना—1887 से त्रिगुट-सन्धि के दुहराये जाने से रूस और जर्मनी के परस्पर सम्बन्ध और भी बिगड़ने लगे। इस सन्धि की शर्तें गुप्त रखी गयी थीं। इस कारण जार को यह भय हो रहा था कि कहीं इस सन्धि में रूस के विरुद्ध कोई धारा न हो। सन्धि के दुहराये जाने के कुछ ही दिनों के बाद इटली के प्रधान-मन्त्री ने कुछ ऐसे वक्तव्य दिये जिससे जार का सन्देह और भी बढ़ हो गया।

फ्रांसीसी ऋण—इस तरह रूस और जर्मनी के आपसी सम्बन्ध दिनोंदिन बिगड़ रहे थे। लेकिन अगर एक तरफ इन दोनों देशों के सम्बन्ध बिगड़ रहे थे तो दूसरी तरफ रूस और फ्रांस में मेल-मिलाप का वातावरण तैयार हो रहा था। ठीक इसी समय रूस में एक आर्थिक संकट उपस्थित हुआ। साम्राज्य-विस्तार की विविध योजनाओं में रूसी सरकार बहुत खर्च कर रही थी और इसको राष्ट्रीय आमदनी से पूरा नहीं किया जा सकता था। इसलिए रूस को कर्ज की बहुत बड़ी आवश्यकता थी। इस आर्थिक संकट के समय जर्मनी ने रूस की कोई सहायता नहीं की। लेकिन फ्रांस ने 1888 में कर्ज देकर रूस के आर्थिक संकट में मदद करने में बड़े उत्साह के साथ भाग लिया। रूस और फ्रांस की सन्धि में इस बात से बड़ी सहायता मिली।*

फ्रांसीसी रायफल—आर्थिक सहायता के बाद फ्रांस ने रूस को कुछ सैनिक सहायता भी दी। फ्रांस में इस समय एक नये प्रकार की रायफल बन रही थी। एकबार जार का भाई जब फ्रांस आया तो वह नयी रायफल को देखकर काफी प्रभावित हुआ। अन्त में फ्रांस और रूस के बीच एक समझौता हुआ, जिसके अनुसार फ्रांस ने रूस को पचास हजार रायफल देने का वादा किया। इससे रूस और फ्रांस एक दूसरे के और निकट आ गये।†

* G. P. Gooch : *History of Modern Europe*, p. 110.

† Ibid, p. 110.

फ्रांसीसी जहाजी बेड़ा – 1891 में फ्रांस के एक जहाजी बेड़ा ने रूस की यात्रा की। रूस में इस फ्रांसीसी बेड़े का बड़े धूमधाम से स्वागत किया गया—रूस के जार ने स्वयं अपने महल से निकलकर इस बेड़े का स्वागत किया था। अभी तक रूस में फ्रांसीसी राष्ट्रीय गीत के गाये जाने की मनाही थी लेकिन इस अवसर पर जार ने सिर झुकाकर बड़े सम्मान के साथ इस क्रान्तिकारी गीत का श्रवण किया।* फ्रांस में इस समाचार को पढ़कर खुशी मनायी गयी। फ्रांसीसियों ने समझा कि अब रूस और फ्रांस के बीच एक सन्धि अवश्य हो जायेगी। फ्रांस के अनुसार जिस समय फ्रांसीसी बेड़ा रूस के किनारे लगा उसी समय फ्रांस और रूस के बीच मेल-मिलाप हो गया। अब आवश्यकता केवल इसी बात की थी कि इस मेल मिलाप को सरकारी तौर से पक्का कर दिया जाय। इसके लिए जार वचनबद्ध था। वास्तव में फ्रांसीसी जहाजी बेड़े की यह रूस-यात्रा राजनीतिक दृष्टिकोण से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण थी। रूस और फ्रांस का सम्बन्ध निरन्तर बढ़ने लगा। फ्रांसीसी नेता इस अवसर से लाभ उठाना चाहते थे। उन्होंने रूस के सामने यह प्रस्ताव रखा कि दोनों देशों को सन्धि कर लेनी चाहिए। लेकिन यह सन्धि इतनी शीघ्र होने को नहीं थी। रूसी शासकों ने भी एक सन्धि करने की इच्छा प्रकट की। उनका कहना था कि यह सन्धि बहुत ही महत्त्वपूर्ण होगी; अतः इसकी शर्तें खूब सोच-समझकर तैयार होनी चाहिए। दोनों देशों के बीच किसी प्रकार की एक सन्धि का हो जाना अति आवश्यक था। अतएव अगस्त, 1891 में दोनों के बीच एक समझौता हुआ। इसके अनुसार दोनों देशों ने अपनी सामान्य समस्याओं को सुलझाने के लिए एक-दूसरे से विचार-विमर्श करते रहने का वादा किया। अगर यूरोपीय शान्ति को कोई खतरा हुआ और दोनों देशों में किसी एक पर कोई आक्रमण हुआ तो इसका मुकाबला करने के लिए वे मिलकर सम्मिलित प्रयास भी करेंगे।†

1894 की संधि – इस समझौते की शर्तें अस्पष्ट तथा सीमित थीं। इस समय फ्रांस चाहता था कि रूस के साथ एक ऐसी सन्धि हो जिसके सहारे वह जर्मनी से अपनी रक्षा कर सके और 1871 का बदला ले सके। लेकिन रूस अभी जर्मनी के साथ अच्छा सम्बन्ध बनाये रखना चाहता था। इस तरह दोनों देशों के हित-विरोध के कारण फ्रैंको-रूसी सन्धि होने में कुछ देर हो गयी। फ्रांस हिम्मत हारनेवाला देश नहीं था। उसे विश्वास था कि एक-न-एक दिन रूस के साथ उसकी सन्धि अवश्य होगी और इसी विश्वास के आधार पर फ्रांसीसी शासक प्रयास करने लगे।‡ इसी समय रूस में पुनः आर्थिक संकट उपस्थित हुआ और उसने एक

---

* Brandenburg: *From Bismarck to the Great War,* p. 22.
† S. B. Fay : *Origins of the World War,* pp. 117-119.
‡ G. P. Gooch : *History of Modern Europe,* p. 119.

बार फिर से कर्ज के लिए अपील की। इस बार भी फ्रांस ने कर्ज देने में बड़ा उत्साह दिखाया। लेकिन इसके बाद भी रूस ने सन्धि के लिए कोई तत्परता नहीं दिखलायी। उधर फ्रांस के शासक इसके लिए व्यग्र हो रहे थे।

इसी बीच दोनों देशों में सन्धि होने का वातावरण तैयार हो रहा था। अक्टूबर, 1893 में एक रूसी जहाजी बेड़े ने भी फ्रांस की यात्रा की। जिस समय इस बेड़े के अफसर पेरिस पहुँचे उस समय उसके स्वागत के लिए पेरिस के नागरिकों में होड़ पैदा हो गयी।* मित्रता के इस वातावरण में आखिर 1894 में इन दोनों राज्यों में परस्पर सन्धि हो गयी। इस सन्धि के अनुसार यह निश्चय किया गया कि यदि अकेले जर्मनी या, जर्मनी और इटली फ्रांस पर आक्रमण करें, तो रूस फ्रांस की सहायता करेगा और इसी प्रकार यदि जर्मनी और आस्ट्रिया रूस पर आक्रमण करें, तो फ्रांस रूस की सहायता करेगा। सन्धि की सभी शर्तें गुप्त रखी गयीं।†

द्विगुट का महत्त्व

फ्रांस और रूस पर प्रभाव—यूरोप के आधुनिक इतिहास में इस सन्धि का बड़ा महत्त्व है। यूरोप की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में बिस्मार्क ने जर्मनी को जिस स्थिति में पहुँचा दिया था, उस स्थिति का अब अन्त हो चुका था। विश्व-राजनीति में दोनों देश अकेले पड़ गये थे फ्रांस बिस्मार्क के कारण और रूस कैसर के कारण। लेकिन इस सन्धि से फ्रांस और रूस की अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति बहुत मजबूत हो गयी। शर्त के अनुसार यह सन्धि एक विशुद्ध रक्षात्मक सन्धि थी। इसका उद्देश्य किसी देश पर आक्रमण करने का नहीं था। लेकिन सन्धि का रक्षात्मक स्वरूप होने पर भी वह बहुत महत्त्वपूर्ण थी। फ्रांस को फसोदा या मोरक्को में रूस की सैनिक सहायता की आवश्यकता नहीं थी। उसे एलसस-लोरेन के प्रान्त लौटाने थे। इसी तरह रूस को भी यूरोप से बाहर फ्रांसीसी सैनिक सहायता की आशा नहीं थी। वह बाल्कन-प्रायद्वीप में अपनी स्थिति को मजबूत करना चाहता था। इसका परिणाम यह हुआ कि फ्रांस में जर्मनी के खिलाफ भावना काफी तीव्र होने लगी। फ्रैंको-जर्मन-युद्ध अब अवश्यम्भावी हो गया। इधर इस सन्धि की स्थापना होने के बाद रूस ने बाल्कन प्रायद्वीप की राजनीति में एक नये जोश के साथ प्रवेश किया। यूरोप की राजनीति अब डावांडोल हो गयी। जर्मनी के त्रिगुट को

---

* Ibid, p. 121.

† S. B. Fay : *Origins of the World War*, p. 118.

सन्तुलित करने के लिए अब रूस और फ्रांस का शक्तिशाली गुट तैयार हो गया था।*

जर्मनी की कमजोर स्थिति—यूरोपीय राजनीति के दृष्टिकोण से इस सन्धि की स्थापना इस बात की ओर संकेत कर रहा था कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में बिस्मार्क का युग समाप्त हो चुका है। बिस्मार्क को एक विरोधी गुट की स्थापना का जो भय था उसकी स्थापना हो गयी। बिस्मार्क इस समय तक काफी बूढ़ा हो चुका था। उसने कैसर विलियम को बहुत कुछ बुरा-भला कहा। उसने भविष्यवाणी की कि "यह युवक (कैसर) किसी दिन अपने राज्य को कुप्रबन्ध के कारण विनष्ट कर देगा"। पर अब क्या हो सकता था ? विलियम ने रूस की दोस्ती को ठुकरा दिया था और उसका परिणाम हुआ एक जर्मन-विरोधी गुट की स्थापना। फ्रैंको रूसी गुट की स्थापना के बाद से 1914 तक यूरोप दो गुटों में बँटा रहा और अन्त में इसके परिणामस्वरूप सारा यूरोप महाविनाश के गर्त में गिर पड़ा। इसमें कोई शक नहीं कि त्रिगुट इस नये द्विगुट से अधिक शक्तिशाली था और जब तक ब्रिटेन की सहानुभूति प्राप्त थी तब तक इसकी स्थिति काफी मजबूत थी। अब प्रश्न था कि उस हालत में क्या होगा जब ब्रिटेन की सहानुभूति रूस और फ्रांस को प्राप्त हो जाय ? वैसी हालत में यूरोप की कूटनीतिक स्थिति में परिवर्तन होगा ही। यूरोप का शक्ति-सन्तुलन रूस और फ्रांस के पक्ष में होगा और जर्मनी-आस्ट्रिया का पलड़ा हल्का पड़ जायेगा। †

ब्रिटेन पर प्रभाव उस समय ब्रिटेन में द्विगुट की स्थापना का स्वागत नहीं हुआ। वहाँ के राजनीतिज्ञों को यह भय होने लगा कि रूस का सहारा पाकर फ्रांस उसे मिस्र में और अधिक परेशान करेगा। उधर रूस भी इसी सन्धि के बल पर तुर्की

* The completion of the Franco-Russian Entente certainly entailed a serious change for the worse in the general political situation of Germany. France was released from the ban of isolation This might have had a traqu llising effect upon the proud and sensative people, but it also allowed hopes of revenge, which now seemed attainable, to spring up afresh and translate themselves into deeds. Russia had a dangerous tool ready for use in case we were not complaisant in the East So it was that the electric current hitherto lacking between the two sources of unrest–Alsace-Lorrain and the Balkan–was set up and the danger of a war on two fronts, so dreaded by Bismarck, was brought within measurable distant.

* Brandenberg : *From Bismarck to the Great War*, p. 27.

† G. P. Gooch : *History of Modern Europe. p*, 124.

में अपनी महत्वाकांक्षा की पूर्ति करने के लिए नये-नये तरीके अपनाने लगा। अब ब्रिटेन के लिए अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में पृथकता की नीति को अपनाये रहना असम्भव हो गया। वस्तुतः परम्परा से चली आनेवाली पृथकता की नीति के परित्याग की बात ब्रिटेन में इसी समय से चलने लगी।*

जर्मनी की प्रतिक्रिया—द्विगुट की स्थापना से अधिक से अधिक चिन्ता जर्मनी को हुई। प्रारम्भ में जर्मनी में इस सन्धि की स्थापना से कोई विशेष घबड़ाहट नहीं हुई। इसका एक कारण यह था कि इसकी शर्तें इतनी गुप्त रखी गयी थीं कि बहुत दिनों तक पेरिस-स्थित जर्मन-राजदूत को इसका पता भी नहीं लगा। जनवरी, 1895 में इस सन्धि के विषय में पहले-पहल घोषणा की गयी। इस घोषणा के बाद जार ने फ्रांस की यात्रा की और फ्रांस का राष्ट्रपति रूस गया। इतना होने के बाद भी जर्मनी में कोई विशेष घबड़ाहट पैदा नहीं हुई; क्योंकि कैसर को विश्वास था कि फ्रैंको-रूसी-गुट के कायम होने के बावजूद त्रिगुट काफी मजबूत है और उसका मुकाबला आसानी से किया जा सकता है। कैसर को यह भी विश्वास था कि ब्रिटेन इस गुट में कभी शामिल नहीं होगा; क्योंकि फ्रांस और रूस दोनों के साथ उसकी परम्परागत शत्रुता थी। अतः, प्रारम्भ में कैसर के द्वारा इस सन्धि का कोई विरोध नहीं हुआ। इसके विपरीत विविध अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं में उसने रूस और फ्रांस का साथ देना शुरू किया। उदाहरण के लिए 1894 में जर्मनी और फ्रांस ने एक साथ मिलकर ब्रिटेन द्वारा कांगो-प्रदेश के एक छोटे-से भू-भाग पर आधिपत्य जमाने के प्रयास का विरोध किया। फिर, 1895 में जर्मनी, रूस तथा फ्रांस ने मिलकर जापान को बाध्य किया कि वह चीन के एक प्रदेश को लौटा दे। इस तरह का सहयोग कई अन्य समस्याओं पर होता रहा। लेकिन, भीतर-ही-भीतर कैसर फ्रैंको-रूसी सन्धि की स्थापना से काफी चिन्तित था। उसने जार को दो पत्र लिखे। इन पत्रों में जार से उन कठिनाइयों की चर्चा की जो इस सन्धि के फलस्वरूप पैदा हो सकती थीं। कैसर को अब पूरा विश्वास हो गया था कि फ्रांस में प्रतिशोध की भावना और तीव्र होगी और अल्सेस-लोरेन को लौटाने का आन्दोलन काफी जोर पकड़ेगा। उसकी दृष्टि में अब जर्मनी की सुरक्षा खतरे में पड़ गयी थी।† अतः, उसने अपनी सैन्य-शक्ति को बढ़ाना शुरू किया। लेकिन कैसर के विरोध और सैनिक तैयारी के बावजूद द्विगुट तब तक कायम रहा जब तक रूस से जारशाही का अन्त नहीं हो गया। उधर फ्रांस में खुशी का ठिकाना नहीं था। फ्रांस के शासक दिल खोलकर कह रहे थे—'अब हमलोगों को किसी से डरने की आवश्यकता नहीं है।" और, उधर बूढ़ा बिस्मार्क कैसर को कोस रहा था।

---

* S. B, Fay : *Origins of the World War*. p. 125.

† N. Mansergh : *The Coming of the First World War* p. 39.

"शानदार पृथक्ता" की नीति और आंग्ल-जर्मन सम्बन्ध
(Policy of Splendid Isolation & Anglo-German-Relations)

विषय प्रवेश—किसी भी देश की विदेशनीति उसकी भौगोलिक स्थिति और ऐतिहासिक परम्परा पर आधारित होती है। ऐसे विदेशनीति के निर्धारण में कई तत्त्वों का प्रभाव पड़ता है, पर उसके मूल में उपर्युक्त दोनों तत्त्व अनिवार्य रूप से विद्यमान रहते हैं। ब्रिटेन की विदेशनीति के सम्बन्ध में भी यह तथ्य सत्य है। परम्परा की दृष्टिकोण से शक्ति सन्तुलन (balance of power) का सिद्धान्त ब्रिटिश विदेशनीति का एक मूलाधार रहा है। सामान्य अवस्था में ब्रिटेन यूरोपीय राजनीति में हस्तक्षेप नहीं करता था। यूरोपीय समस्याओं के प्रति वह एक तरह से तटस्थता की नीति का अवलम्बन करता था। लेकिन जब कभी भी यूरोपीय शक्ति सन्तुलन के विगड़ने की सम्भावना प्रतीत होती ब्रिटेन अपनी सारी शक्ति के साथ यूरोपीय राजनीति में कूद पड़ता था।* इस नीति को लार्ड गोशेन ने पहले-पहल "शानदार पृथकता" की नीति की संज्ञा दी।† ब्रिटेन के हित में यह नीति अत्यन्त लाभदायक थी। यूरोपीय राजनीति से अलग रहकर ब्रिटेन अपने को ऐसी स्थिति में रखता था जिससे महाद्वीपीय शक्ति-सन्तुलन विगड़ने न पावे।

1870 के फ्रेंको-प्रशिया युद्ध के वाद यूरोपीय शक्ति-सन्तुलन में एक परिवर्तन हुआ। इस युद्ध के फलस्वरूप एक महान् शक्तिशाली जर्मनी के प्रादुर्भाव से ऐसा प्रतीत होने लगा कि यूरोप की व्यवस्था में एक आश्चर्यजनक उथल-पुथल हो गया है। लेकिन ब्रिटेन की नीति निर्धारकों पर इस घटना का कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा और फ्रेंको-प्रशिया युद्ध के बाद भी वे शानदार पृथकता की नीति का अनुसरण करते रहे। वस्तुतः इस समय ब्रिटेन को जर्मनी से कोई भय नहीं था। इसके विपरीत ब्रिटेन में जर्मनी के लिए अपार सहानुभूति थी। यह विल्कुल स्वाभाविक था। उन्नीसवीं शताब्दी के शुरू से ही दोनों देशों का आपसी सम्बन्ध वहुत अच्छा था। दोनों एक दूसरे के परम मित्र थे। दोनों ने एक साथ मिलकर नेपोलियन का मुकावला किया था। जर्मनी के राष्ट्रीय एकता के संग्राम के दिनों में ब्रिटेन का रुख अत्यन्त सहानुभूतिपूर्ण रहा। इसलिए जब 1882 में जर्मनी, आस्ट्रिया और इटली को मिलाकर विस्मार्क ने त्रिगुट की स्थापना की तब भी ब्रिटेन में कोई भय

* S. B Fay : *Origins of the World War*, p. 124.

† N. Mansergh : *The Coming of the First World War*. p. 65.

उत्पन्न नहीं हुआ। इसका एक विशेष कारण था। बिस्मार्क के समय में दोनों देशों का सम्बन्ध सदा की भाँति अच्छा बना रहा। उसका विश्वास था की जर्मनी और ब्रिटेन में विरोध होने का कोई प्रत्यक्ष कारण नही है। बिस्मार्क इस बात को अच्छी तरह जानता था कि ब्रिटेन के सामुद्रिक आधिपत्य पर आघात पहुँचाने से ही ब्रिटेन और जर्मनी का सम्बन्ध खराब हो सकता है। इसलिय बिस्मार्क ने ब्रिटेन के विश्व व्यापी साम्राज्य को नुकसान नही पहुँचाने तथा उसके सामुद्रिक प्रभुत्व को चुनौती नही देने की नीति का अवलम्बन किया। जर्मनी एक स्थलशक्ति था और ब्रिटेन एक जल-शक्ति। बिस्मार्क का कहना था कि "जमीन के चूहे" और "जल के चूहे" के बीच संघर्ष का होना असम्भव है। वह ऐसा कोई काम करना नहीं चाहता था जिससे ब्रिटेन जर्मनी का विरोधी हो जाय। इसलिए शुरू में वह जर्मनी के लिए औपनिवेशिक साम्राज्य की स्थापना के विरोध में था। लेकिन इस समय तक असाधारण गति से जर्मनी में औद्योगिक क्रांति की प्रगति हो रही थी और हाल में जर्मनी के लिए उपनिवेश कायम करना आवश्यक हो रहा था। इसलिए बिस्मार्क के समय में ही उपनिवेश-विस्तार की तरफ जर्मन-सरकार का ध्यान गया था और बिस्मार्क के प्रयास से प्रशान्त महासागर तथा अफ्रिका में जर्मनी में कुछेक उपनिवेश कायम भी हुए। जर्मनी के औपनिवेशिक लालच को देखकर ब्रिटेन में कुछ घबडाहट अवश्य हुई थी। ब्रिटेन के शासक कुछ सशंकित अवश्य हो गये थे। लेकिन बिस्मार्क की कूटनीति ने ब्रिटेन की इस शंका को केवल दूर ही नहीं कर दिया, बल्कि जर्मनी के लिए उसने ब्रिटेन की सहानुभूति भी प्राप्त कर ली। 1884 ने बर्लिन में एक सम्मेलन हुआ जहाँ औपनिवेशिक बातों पर दोनों देशों के बीच एक समझौता हो गया। इस समझौते का आधार अत्यन्त ठोस था। जर्मनी को ब्रिटेन से पूरी सहानुभूति मिल गयी। 1885 में ब्रिटिश संसद में बोलते हुए प्रधान मंत्री ग्लैडस्टोन ने कहा था कि "जर्मनी एक औपनिवेशिक शक्ति बनना चाहता है तो मैं यही कहूँगा कि ईश्वर उसको सफलता दे"। इससे यह स्पष्ट होता है कि ब्रिटेन में जर्मनी के प्रादुर्भाव से किसी तरह के भय का संचार नहीं हुआ। यही कारण है कि शक्तिशाली जर्मनी के प्रदुर्भाव से ब्रिटेन की नीति में कोई परिवर्तन नहीं हुआ और न किसी ऐसे परिवर्तन की आवश्यकता ही समझी गयी। 1871 के बहुत दिनों के बाद तक भी ब्रिटेन अपनी शानदार पृथकता की नीति का अवलम्बन करता रहा।

पृथकता की नीति के परित्याग के कारण

दो गुटों में यूरोप का विभाजन—उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम दशाब्दी में यूरोप की कूटनीतिक स्थिति डाँवाडोल होने लगी। दो विरोधी गुटों में यूरोप

के बँट जाने के लक्षण प्रकट होने लगे। इस हालत में ब्रिटेन के नीति-निर्धारक परम्परागत नीति के परित्याग की बात सोचने लगे। इस समय कूटनीतिक स्थिति कुछ ऐसी हो गयी थी कि ब्रिटेन के लोग यह महसूस करने लगे कि पृथकता की नीति "शानदार" है, पर वह खतरे से खाली नहीं है।* 1894 में रूस और फ्रांस की द्विगुट की स्थापना से ब्रिटेन को विदेश नीति में परिवर्तन का होना अवश्यम्भावी हो गया। जर्मनी के त्रिगुट से ब्रिटेन को भयभीत होने का कोई कारण नहीं था, क्योंकि उसके सदस्य राज्यों से ब्रिटेन का कोई प्रत्यक्ष विरोध नहीं था। लेकिन द्विगुट के दोनों राज्यों से ब्रिटेन का परम्परागत प्रत्यक्ष विरोध था। रूस और फ्रांस सदियों से ब्रिटेन के विरोधी थे। अपने विरोधियों को इस तरह संगठित होते देख ब्रिटेन में भय का उत्पन्न होना बिल्कुल स्वाभाविक था। और, यह गुप्त सन्धियों का युग था। कौन कह सकता था कि फ्रांस और रूस की द्विगुट में कोई ऐसी धारा न हो जिसको विशेषतः ब्रिटेन के विरुद्ध रखा गया हो। इस हालत में ब्रिटेन में विदेश नीति के पुनर्निर्धारण की बात चल पड़ी।

इसके अतिरिक्त फ्रांस और रूस की द्विगुट सन्धि ने यूरोपीय राजनीति के रंग को ही बदल दिया। यूरोप अब स्पष्टतः दो विरोधी गुटों में बँट गया था और दोनों गुट एक दूसरे के विरोध में जुट गये थे। यूरोप की राजनीति अत्यन्त अनिश्चित हो गयी थी। इस हालत में ब्रिटेन में क्या करे? क्या वह चुपचाप इन असाधारण घटनाओं को देखता रहे, और वह भी ऐसे समय में जब यूरोप के राज्य अपनी स्थिति को सम्हालने के लिए गुटबन्दियों का जाल बिछा रहे थे? गुटबन्दियों की इस राजनीति में ब्रिटेन को अपना उपयुक्त स्थान खोजने के लिए बाध्य होना पड़ा। फ्रांस और रूस ब्रिटेन के प्रत्यक्ष विरोधी थे। एक अफ्रिका में और दूसरा निकट पूर्व में ब्रिटेन के लिए संकट पैदा करते आ रहे थे। पर ब्रिटेन को इनसे कोई विशेष भय नहीं था। उसको अपनी शक्ति पर पूरा भरोसा था। फिर भी उसको इस बात का भय बराबर रहता था कि जर्मनी, रूस और फ्रांस तीनों सम्मिलित रूप से मिलकर उसको तंग न करने लगें। अपने संस्मरण में सर एडवर्ड ग्रे ने इस बात का सबूत दिया है कि ग्लेडस्टोन के शासन काल के अन्तिम दिनों में ये दोनों गुट ब्रिटेन को तंग करने के उद्देश्य से उस पर हमेशा किसी न किसी तरह का कूटनीतिक दबाव डालते रहते थे।† कैसर विलियम के हाथों में शासन सूत्र आने से ब्रिटेन के प्रति जर्मनी के रुख में घोर परिवर्तन हो गया था। वह ब्रिटेन के खिलाफ मध्य यूरोप के देशों को मिलाकर एक विशाल गुट कायम करने की योजना बना

*S. B. Fay : *Origins of the World War* p. 125

†N. Mansergh : *The Coming of the First World War*, p 65

रहा था। इस हालत में ब्रिटेन की अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति बड़ी कमजोर हो गयी थी और देश के हित में पृथकता की नीति का परित्याग वांछनीय प्रतीत होने लगा था।

जर्मन विदेश नीति में परिवर्तन :—हम कह आये हैं कि बिस्मार्क के कार्य-काल में जर्मनी और ब्रिटेन का सम्बन्ध बड़ा ही मधुर था। इसका कारण यह था कि बिस्मार्क जर्मन साम्राज्य को एक ऐसा तृप्त राज्य मानता था जिसका उद्देश्य केवल आत्म-रक्षा था। वह जर्मनी को विश्व-राजनीति के भंवर जाल में फँसाने का कट्टर विरोधी था। पर 1890 में चांसलर पद से बिस्मार्क के हटने के बाद जर्मनी की विदेश नीति का संचालन का काम स्वयं कैसर विलियम ने अपने हाथ में ले लिया। वह जर्मनी को तृप्त राज्य नहीं मानता था। उसके अनुसार जर्मनी एक ऐसा राज्य था जो विश्व-राजनीति में सक्रिय भाग ले सकता था। वह जर्मनी के लिए उपनिवेश कायम करना चाहता था और उपनिवेश-विस्तार के साथ-साथ वह जर्मन नौ-सेना का विस्तार करना चाहता था। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए जर्मन संसद् में 1897 में और फिर 1900 में दो नौ-सेना विधेयक पेश किये गये और वे स्वीकृत हो गये। अब ब्रिटेन को एक महान् संकट का अनुभव हुआ। समुद्र पर ब्रिटेन का अभी तक एकाधिपत्य था। उसके पास संसार की सर्वाधिक शक्तिशाली नौ-सेना थी। जर्मनी पहले से ही सबसे महान् थल-शक्ति था। अब वह नौ-सेना के क्षेत्र में ब्रिटेन से आगे बढ़ जाने का मनसूबा बाँधने लगे। यह ब्रिटेन के लिए एक चुनौती थी। नौ-सेना में श्रेष्ठता ब्रिटेन के लिए जीवन-मरण का प्रश्न था। जर्मनी द्वारा उसकी इस स्थिति पर अतिक्रमण करना भावः सूचना का सकेत था जिसका मुकाबला पृथकता की नीति का अवलम्बन कर नहीं किया जा सकता था।

तुर्की साम्राज्य पर जर्मनी का बढ़ता हुआ प्रभाव :—केवल नौ-सेना के क्षेत्र में ही ब्रिटेन और जर्मनी का मुकाबला नहीं हुआ; कुछ अन्य जगहों पर भी जर्मन की ओर से ब्रिटेन को चुनौती मिलने लगी। तुर्की का साम्राज्य एक ऐसा ही क्षेत्र था। अठारहवीं शताब्दी के मध्य से ही तुर्की यूरोप का मरीज कहा जाने लगा था और उसी समय से रूस कांसटेन्टिनोप्ल पर जारशाही का झंडा फहराने का प्रयास कर रहा था। लेकिन ब्रिटेन के विरोध के कारण रूस की यह मनोकामना पूरी नहीं हो सकी। बात यह थी कि ब्रिटेन तुर्की साम्राज्य को अपने भारतीय साम्राज्य तथा यूरोप के अन्य साम्राज्यवादी राज्यों के बीच में स्थित एक 'बफर स्टेट' (buffer state) मानता था और भारतीय साम्राज्य की सुरक्षा के लिए तुर्की साम्राज्य का कायम रहना आवश्यक मानता था। अतएव ब्रिटेन की नीति थी कि इस मरीज को जैसे भी हो जिन्दा रखा जाय। मरीज को जिन्दा रखने

के लिए उसने युद्ध का सहारा भी लिया और जब भी रूस ने तुर्की साम्राज्य को खत्म करने के उद्देश्य से उस पर आक्रमण किया तो ब्रिटेन ने उसका घोर विरोध किया। 1853 का क्रिमीया युद्ध तथा 1877 की सनस्टीफानो की संधि का विरोध इसके दो प्रबल उदाहरण हैं। लेकिन 1878 में सनस्टीफानो संधि को रद्द करने के लिए जो बर्लिन सम्मेलन हुआ उसमें ब्रिटेन ने तुर्की के एक द्वीप साइप्रस पर अपना अधिकार जमा लिया। ब्रिटेन की इस नीति से तुर्की के सुलतान को जबर्दस्त सदमा पहुँचा। जो ब्रिटेन अभी तक उसका रक्षक था, वह भी तुर्की साम्राज्य के लूट में शामिल हो गया। इसके विपरीत जर्मनी ने तुर्की के प्रति अत्यन्त ही सहानुभूतिपूर्ण रूख अपनाया। जहाँ एक ओर यूरोप के सभी राज्य बर्लिन सम्मेलन में तुर्की साम्राज्य के भू-भागों पर अपना दावा लेकर आये थे, वहाँ जर्मनी ने उसके किसी भी प्रदेश पर दावा नहीं किया। इस परिस्थिति में बर्लिन में तुर्की और जर्मनी की मित्रता की नींव पड़ी तथा ब्रिटेन तुर्की से विमुख होने लगा। इसका एक और कारण था। बर्लिन सन्धि के बाद ब्रिटेन ने यह अनुभव किया कि तुर्की के प्रति उसकी नीति दोषपूर्ण थी। मरीज को उसने बहुत मौका दिया था ताकि वह अपने को चंगा करके स्वस्थ कर ले। कई बार ब्रिटेन ने उसको सर्वनाश से बचाया था। लेकिन तुर्की ने ऐसे अवसरों से कोई लाभ नहीं उठाया। अब ब्रिटेन ने अनुभव किया कि तुर्की के प्रति उसकी परम्परागत नीति व्यर्थ है और मरीज को मरने से रोका नहीं जा सकता है। तुर्की का विनाश अवश्यम्भावी है।

तुर्की के प्रति ब्रिटेन की बदलती हुई नीति का प्रथम संकेत 1895 में मिला जब लार्ड सैलिसबरी ने जर्मनी के समक्ष तुर्की साम्राज्य के बँटवारे का प्रस्ताव रखा। लेकिन दुर्भाग्यवश ब्रिटेन का यह प्रस्ताव जर्मनी को मान्य नहीं हुआ। ब्रिटेन ने इस प्रस्ताव को जर्मनी के शासकों ने शंका की दृष्टि से देखा। उनको यह शक हुआ कि ब्रिटेन के इस प्रस्ताव का उद्देश्य द्विगुट और त्रिगुट के देशों के बीच फूट पैदा कराना है।* अतएव जर्मनी ने इस प्रस्ताव को नामंजूर कर दिया।

इस तरह ब्रिटेन अब तुर्की के प्रति उदासीन रहने लगा। उधर कैसर ने इससे खूब लाभ उठाया। बर्लिन-सम्मेलन में तुर्की और जर्मनी की मित्रता की जो नींव पड़ी थी उसको कैसर ने और भी मजबूत किया। तुर्की के सुलतान के साथ कैसर की व्यक्तिगत मित्रता कायम हुई। 1889 में अपने चान्सलर के मना करने पर भी वह कान्सटेटिनोप्ल गया और अक्टूबर 1898 में तुर्की की राजधानी में उसकी दूसरी यात्रा हुई। इस यात्रा के दौरान में कैसर ने सुलतान को आश्वासन दिया कि

* S. B. Fay : *Origins of the World War*, p. 127

संकट के दिनों में वह जर्मनी के समर्थन का भरोसा कर सकता है।* इसके बाद तुर्की पर जर्मनी का प्रभाव बढ़ने लगा। ब्रिटेन का प्रभाव यहाँ पहले से ही कम हो रहा था; कैसर की यात्रा ने बचे खुचे ब्रिटिश प्रभाव का भी अन्त कर दिया। तुर्की में जर्मनी को राजनीतिक, सैनिक और आर्थिक कई तरह की सुविधाएँ मिली। पर इन सभी सुविधाओं में रेल लाइन बनाने की सुविधा अत्यन्त महत्त्वपूर्ण थी। तुर्की साम्राज्य के अन्तर्गत रेल की लाइनें बिछाने का ठेका जर्मनी के फर्मों को मिलने लगा। इस समय यूरोपीय साम्राज्यवाद को दूसरे देशों पर लादने का यह एक सहज तरीका था। तुर्की धीरे-धीरे जर्मनी के जाल में फँसने लगा।

पर इन रेलवे लाइनों में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण बर्लिन बगदाद रेलवे की योजना थी जो जर्मनी की पूँजी और उसी के देखरेख में बननेवाली थी। जर्मनी फर्मों को इसका ठेका देने की बातचीत चलने लगी।

बर्लिन-बगदाद रेलवे की योजना एक महत्त्वाकांक्षी योजना थी। लेकिन इसको लेकर ब्रिटेन और जर्मनी का सम्बन्ध बहुत बिगड़ गया। नौ-सेना के क्षेत्र में जर्मनी पहले ही ब्रिटेन को चुनौती दे चुका था। अब बर्लिन से बगदाद तक रेल लाइन बनाकर वह अंगरेजों के भारतीय साम्राज्य पर प्रत्यक्ष संकट पैदा कर रहा था। बर्लिन-बगदाद रेलवे की योजना के कारण सारा ब्रिटेन उत्तेजित हो गया। ऐसा लगा कि जर्मनी हर स्थल पर ब्रिटेन से झगड़ा मोल लेकर उसको तंग करने की योजना बना रहा है। यह स्थिति एक ऐसे समय में आयी जब यूरोप दो गुटों में विभक्त हो चुका था और ब्रिटेन अभी भी पृथकता की नीति का अवलम्बन कर रहा था। जिस तरह प्रत्येक क्षेत्र में जर्मनी से ब्रिटेन को चुनौती मिल रही थी उसको दृष्टि में रखकर पृथकता की नीति अत्यन्त खतरनाक प्रतीत हो रही थी। अतएव इस कारण भी ब्रिटेन को अपनी इस नीति को परित्याग करना पड़ा। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि तुर्की पर जर्मनी का बढ़ता हुआ प्रभाव तथा बर्लिन बगदाद रेलवे की योजना दो ऐसे मुख्य तथ्य थे जिनके कारण ब्रिटेन को अपनी विदेश नीति का पुनर्निर्धारण करने के लिए बाध्य होना पड़ा।

अफ्रिकी संकट : बोअर युद्ध तथा फसोदा संकट—इसी समय अफ्रिका में साम्राज्यवादी संघर्ष से उत्पन्न दो महत्त्वपूर्ण घटनाएँ घटी। 1899 में बोअर युद्ध शुरू हुआ। ब्रिटेन डच किसान बोअरों के ट्राँसवाल गणराज्य को अपने दक्षिणी अफ्रिकी साम्राज्य में मिला लेना चाहता था और जब बोअरों ने इसका विरोध किया तो लड़ाई शुरु हो गयी। अंग्रेजी की अपेक्षा बोअर किसान बहुत कमजोर पड़ते थे। फिर भी उन्होंने ब्रिटिश सेना का डट कर मुकाबला किया और कई बार

* P. T. : *Moon, Imperialism and World Politics*, p. 240

उसे पराजित भी किया। इस युद्ध में यूरोपीय राज्यों, विशेषकर जर्मनी, की सहानुभूति बोअर किसानों के साथ थी। यूरोप के सभी समाचार पत्रों ने बोअरों की वीरता की प्रशंसा की।* इस समय यूरोप के अधिकांश देशों से ब्रिटेन को समर्थन नहीं मिला और जब आस्ट्रिया के सम्राट् ने वियना स्थित ब्रिटिश राजदूत से यह कहा कि "बोअर युद्ध में आस्ट्रिया की सहानुभूति ब्रिटेन के पक्ष में है", तो ब्रिटेन की सरकारी हलकों में इस पर अपार हर्ष प्रकट किया गया।

बोअर युद्ध में ब्रिटेन का पलायन चरम सीमा पर उस समय पहुँचा जब कैसर ने जर्मनी की तरफ से बोअर गणराज्य के राष्ट्रपति पाल क्रूगर के पास एक बधाई का तार भेजा जिसमें बोअरों के वीरतापूर्ण प्रतिवाद पर हर्ष प्रकट किया गया था। दक्षिण अफ्रिका की राजनीति में जर्मन सरकार की यह नयी दिलचस्पी ब्रिटेन को बड़ा ही खतरनाक प्रतीत हुआ। "बधाई के तार" की घटना से ब्रिटेन के शासन बड़े क्रुद्ध हुए। उन्हें इस बात का शक होने लगा कि जर्मनी अपनी स्वार्थ पूर्ति के लिए बोअरों का पक्ष ले रहा है। ब्रिटेन में यह शंका व्यक्त की जाने लगी कि जर्मनी नौसेना के क्षेत्र तथा निकट पूर्व में ही ब्रिटेन का विरोध नहीं कर रहा है अपितु अफ्रिका में भी हस्तक्षेप करने का इरादा रखता है। बोअर युद्ध को लेकर-अन्य यूरोपीय राज्य भी ब्रिटेन का विरोध कर रहे थे। ऐसी स्थिति में ब्रिटेन को पहले-पहल पृथकता की नीति की व्यर्थता का अनुभव हुआ। अन्तर-राष्ट्रीय राजनीति में अपनी स्थिति को मजबूत बनाये रखने के लिए इस नीति का परित्याग आवश्यक हो गया।†

---

* When it was discovered that the untrained Boers could on occasion defeat British regulars, sympathy turned to enthusiasm and the efforts of the two little states to defend their independence against a mighty empire were watched with breathless interest and rewarded with unstined applause. To hostile eyes England appeared as the great bully who had already swallowed half the world and was about to gobble the two peasant republics ... With scarcely an exception the press of Europe sympathised with the Boers..."

G. P. Gooch : *History of Modern Europe* p. 201

†In shaping Britain's foreign policy, the Boer War played no small part. British statesmen felt, as never before, the disadvantages of British isolation, when they found themselves in 1899 confronted by a disapproving world."

P. T. Moon : *Imperialism and World Politics*, p 181.

लगभग इसी समय ब्रिटेन एक और संकट मे फँसा हुआ था। सूडान स्थित फसोदा को लेकर सितम्बर 1898 से मार्च 1899 ब्रिटेन और फ्रांस का सम्बन्ध अत्यन्त तनावपूर्ण हो गया और ऐसा प्रतीत होने लगा कि फसोदा पर आधिपत्य कायम करने के सिलसिले में दोनो देशो के बीच युद्ध हो जायगा। संकट के इस अवसर पर ब्रिटेन का साथ देने वाला कोई नहीं था। ब्रिटेन का पलायन देखकर कैसर भीतर ही भीतर खुश हो रहा था और उसकी हार्दिक इच्छा थी कि ब्रिटेन और फ्रांस के बीच युद्ध छिड़ जाय। लेकिन कैसर की यह मनोकामना पूरी नहीं हो सकी। फसोदा को लेकर दोनों सम्बन्धित देशों के बीच समझौता हो गया और युद्ध की सम्भावना टल गयी। लेकिन ब्रिटेन को अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में अपने अकेलेपन की स्थिति का एक बार फिर कटु अनुभव हुआ और वहाँ के शासक पृथकता की नीति के परित्याग की बात सोचने लगे।*

रूस का खतरा :—उन्नीसवी शताब्दी के अन्तिम वर्षों में फ्रांस और जर्मनी ही ब्रिटेन का विरोध नही कर रहे थे। उसका पुराना दुश्मन रूस भी इस कार्य में हिस्सा बँटा रहा था। बहुत दिनों से रूस तुर्की साम्राज्य का अन्त कर उस पर अपना अधिकार जमा लेना चाहता था। लेकिन ब्रिटेन के विरोध के कारण उसको सफलता नहीं मिल रही थी। 1878 की बर्लिन की सन्धि के बाद रूस को इस निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ा कि निकट पूर्व में ब्रिटेन के विरोध के कारण उसका साम्राज्यवादी विस्तार अत्यन्त कठिन है। अतएव वह अपना साम्राज्यवादी जाल दूसरे क्षेत्रों में बिछाने लगा। बर्लिन सन्धि के बाद रूस की सारी साम्राज्यवादी कूटनीति पूर्वी एशिया, मध्य एशिया और पश्चिमी एशिया में केन्द्रित हो गयी। पूर्व में रूस मंचूरिया और मंगोलिया पर अधिकार जमाने की चेष्टा करने लगा। चीन के शोषण में भी उसको हिस्सा मिला और वहाँ का एक विशाल प्रदेश रूसी प्रभाव-क्षेत्र बन गया। पूर्व की तरफ से रूसी साम्राज्य के विस्तार की योजना ब्रिटेन के लिए एक और संकट बन गया। स्थिति यहीं तक सीमित नहीं रही। तिब्बत, फारस और अफगानिस्तान भी रूसी षड्यंत्र के शिकार होने से नहीं बच सके। इन देशो को अपने प्रभाव में लाने के लिए रूस की कूटनीति बहुत अधिक सक्रिय हो उठी। ब्रिटेन के भारतीय साम्राज्य के लिए एक अत्यन्त खतरापूर्ण स्थिति पैदा हो गयी। रूस के इस नवीन संकट ने ब्रिटेन को अपनी पृथकता की नीति पर पुनर्विचार करने के लिए बाध्य किया।†

इस प्रकार हम देखते हैं कि उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम और बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों में ब्रिटेन की अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति बड़ी नाजुक हो गयी

* N. Mansergh : *The Coming of the First World War*, p. [illegible]5.

† S. B. Fay : *Origins of the World War*, pp. 128-9

थी। वह चारों तरफ से अपने को संकट की स्थिति में घिरा देखने लगा। यूरोप दो शिविरों में विभाजित हो चुका था। त्रिगुट और द्विगुट के साथ छोटे-छोटे झगड़े भी विकराल रूप धारण करने लगे थे और कब क्या हो जायगा यह कहना कठिन था। ब्रिटेन में इस विषय पर वाद-विवाद होने लगा कि इस संकट पूर्ण स्थिति का सामना करने के लिए उनको क्या करना चाहिए। ब्रिटेन के समाचार पत्रों में पृथक्कता की नीति को त्यागने की बात चलने लगी। लेकिन ब्रिटेन के शासकों के बीच इस विषय पर मतभेद था। प्रधान मन्त्री लार्ड सैलिसबरी इस नीति का प्रबल समर्थक था। अपनी नीति के पक्ष में उसने एक स्मृति-पत्र (Memorandum) तैयार की और पृथक्कता की नीति के औचित्य को सिद्ध किया। लेकिन उपनिवेश मन्त्री जोजफ चैम्बरलेन का विचार इसे बिल्कुल भिन्न था। वह पृथक्कता की नीति का अन्त करके ब्रिटेन को यूरोप के किसी गुट में सम्मिलित करने का समथन कर रहा था। उसका तर्क यह था कि यूरोपीय राजनीति में जबतक ब्रिटेन पृथक्कता की नीति का अवलम्बन करता रहेगा तबतक ब्रिटेन का औपनिवेशिक विस्तार नहीं हो सकेगा। इसके लिए वह किसी गुट में सम्मिलित होना अनिवार्य मानता था। अन्त में जोजेफ चैम्बरलेन के विचारों की विजय हुई और ब्रिटिश सरकार ने यह निश्चय कर लिया उसे तटस्थता की नीति का परित्याग करना है।

आंग्ल-जर्मन वार्त्तालाप और उसकी असफलता

जर्मनी की ओर झुकाव - ब्रिटेन ने यह निश्चय कर लिया कि उसे पृथक्कता की नीति का परित्याग करना है। पर अब प्रश्न यह था कि इस नीति का परित्याग करके ब्रिटेन अपने को किस शक्ति के साथ संलग्न करे। यह एक विकट प्रश्न था। फिर भी ब्रिटेन ने सबसे पहले रूस के साथ अपने मतभेदों को तय करने का निश्चय किया। 19 जनवरी, 1898 को ब्रिटेन ने रूस के समक्ष अपने मतभेदों को सुलझाने के लिए एक प्रस्ताव रखा। ब्रिटेन और रूस में इस समय तुर्की तथा चीनी साम्राज्यों को लेकर मतभेद था। शान्ति पूर्ण ढंग से इन साम्राज्यों में प्रभाव-क्षेत्र कायम करने की बात ब्रिटिश प्रस्ताव में कही गयी थी। लेकिन रूस की सरकार ने ब्रिटेन के इस प्रस्ताव को स्वीकार नहीं किया।* इस हालत में निराश होकर ब्रिटेन को दूसरी ओर झुकना पड़ा।

अब प्रश्न यह था कि ब्रिटेन किस गुट या देश के साथ अपने को संलग्न करे। रूस ने उसके प्रस्तावों को ठुकरा दिया था, फ्रांस के साथ उसका तीव्र मतभेद था जो दिन-प्रति-दिन उग्रतर हो रहा था। संयुक्त राज्य अमेरिका जो एक महाशक्ति

* S. B. Fay : *Ibid.*, p. 129.

था इस समय स्वयं असंलग्नता की नीति का अवलम्बन कर रहा था। अतएव उसके साथ किसी तरह की गुटबन्दी नहीं की जा सकती थी। आस्ट्रिया और इटली के साथ सन्धि करने से कोई विशेष लाभ नहीं दिखायी पड़ रहा था। अब बाकी रह गया केवल जर्मनी। यद्यपि इधर हाल में जर्मनी की नवीन विदेश नीति के कारण ब्रिटेन और जर्मनी का सम्बन्ध खराब हो गया था, फिर भी जर्मनी के साथ ब्रिटेन का अभी तक कोई मौलिक मतभेद नहीं था और न दोनों में पुरानी शत्रुता की कोई परम्परा थी। जर्मनी निश्चय ही ब्रिटेन का विरोधी हो रहा था, लेकिन यह विरोध अभी उतना गहरा नहीं हुआ था जो समझौता द्वारा तय नहीं किया जा सकता था।

कैसर विलियम की उग्र नीति के बावजूद ब्रिटेन और जर्मनी का पारस्परिक सम्बन्ध शोचनीय स्थिति में नहीं पहुँचा था। गद्दी पर बैठने के कुछ ही दिनों के बाद कैसर ने कहा था कि "यूरोपीय शान्ति की सबसे बड़ी गारन्टी ब्रिटेन और जर्मनी के बीच एक सन्धि का होना है।" इसके तुरत ही बाद कैसर ने ब्रिटेन की यात्रा की। वहाँ उसका अपूर्व स्वागत हुआ। इस तरह के स्वागत से खुश होकर कैसर ने कहा—"इस सुन्दर देश (ब्रिटेन) में हमने बराबर ऐसा अनुभव किया है मानों हम अपने ही घर में हैं।....मैं आप लोगों को यह आश्वासन दे सकता हूँ कि हमारा प्रयास दोनों देशों की ऐतिहासिक मित्रता कायम रखने का होगा।" अपनी यात्रा के सिलसिले में कैसर ने ब्रिटेन को इस तरह प्रभावित किया कि ब्रिटेन के सुप्रसिद्ध अखबार 'मॉर्निंग पोस्ट" ने उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की थी। ब्रिटेन के साथ जर्मनी की इस मित्रता का फल यह हुआ कि 1890 में ब्रिटेन ने जर्मनी को हेलिगोलैंड के द्वीप दे दिये। किल-नहर बनाने के लिए जर्मनी हेलिगोलैंड पर अधिकार प्राप्त करना चाहता था। ब्रिटेन ने ज़ँजीबार के बदले में जर्मनी को हेलिगोलैंड के द्वीप दे दिये। इस पर कैसर बहुत खुश हुआ। खुशी में उछलकर उसने कहा—'बिना आँसू बहाये' बिना युद्ध किये यह सुन्दर द्वीप मेरे कब्जे में आ गया। मैं उस महान् महिला (महारनी विक्टोरिया) के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करता हूँ जिसके कारण यह द्वीप हमलोगों को प्राप्त हुआ है।" इस तरह यह पता चलता है कि कैसर के हाथ में जर्मनी की नीति आने पर भी आंग्ल-जर्मन सम्बन्ध काफी अच्छा बना रहा। यद्यपि दोनों देशों के बीच कुछ बातों को लेकर मन-मुटाव पैदा होना शुरू हो गया था, फिर भी यूरोप में जर्मनी ही एक देश था जिसके साथ ब्रिटेन का कोई समझौता हो सकता था। इस हालत में ब्रिटेन ने जर्मनी से वार्तालाप करके मतभेदों को सुलझाने तथा उसके साथ अपने को सम्बद्ध करने का निश्चय किया। चैम्बरलेन जर्मनी के साथ समझौते का बहुत बड़ा पक्षपाती था। इसलिए जब रूस ने ब्रिटेन के जनवरी 1898 के प्रस्तावों को अस्वीकार कर दिया

तो ब्रिटिश कैबिनेट ने चैम्बरलेन को इजाजत दे दी कि वह जर्मनी के साथ समझौता करने के लिए वार्तालाप शुरू कर दे। इस तरह जर्मनी के साथ मनमुटाव होने के बावजूद ब्रिटेन के शासक जर्मनी की तरफ दोस्ती के लिए झुके।

वार्तालाप का प्रारम्भ—29 मार्च 1898 को चैम्बरलेन ने लन्दन स्थित जर्मन राजदूत को रात्री के भोजन के लिए आमन्त्रित किया और उसी अवसर पर उसने अपने अतिथि को सूचित किया कि ब्रिटेन ने पृथकता की नीति का परित्याग करने का निश्चय कर लिया है और जर्मनी के साथ एक रक्षात्मक संधि करने का उसने अपना इरादा प्रकट किया। जर्मनी यह कह सकता था कि ऐसी संधि को ब्रिटेन की दूसरी सरकार न माने। इसलिए चैम्बरलेन ने राजदूत को यह आश्वासन दिया कि वह जर्मनी के साथ किये गये संधि का अनुमोदन संसद् से करवा लेगा ताकि कोई भी सरकार इसको मानने से इन्कार नहीं करें। राजदूत ने दूसरे दिन इस प्रस्ताव की सूचना बर्लिन भेज दी। बर्लिन में चान्सलर बूलो ने इस पर विचार किया और अन्त में इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि ब्रिटेन के साथ संधि करने में काफी कठिनाइयाँ हैं। उसने राजदूत को आदेश दिया कि वह न तो प्रस्ताव को माने और न इन्कार ही करें तथा टालमटोल की नीति अपनावे।

जर्मन राजदूत के समक्ष चैम्बरलेन का प्रस्ताव अत्यन्त गोपनीय था। इसके बावजूद, कैसर ने जार को एक पत्र लिखा जिसमें कहा गया था कि ब्रिटेन ने हाल में जर्मनी के सामने संधि करने के अनेक प्रस्ताव रखे हैं और ब्रिटेन रूस को "बहुत कुछ" देने को तैयार है। लेकिन ब्रिटिश सरकार को जवाब देने के पूर्व "मैं आप से राय ले लेना चाहता हूँ, क्योंकि यह एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बात है। निश्चय ही इस प्रकार की संधि रूस के विरुद्ध होगी। इस हालत में यदि हम ब्रिटेन के प्रस्ताव को नामंजूर कर दें तो हम यह जानना चाहेंगे कि इसके बदले में हमें आप क्या देने को तैयार हैं।"

स्पष्ट है कि कैसर रूस के समक्ष इस तरह का प्रस्ताव रखकर ब्रिटेन और रूस के मनमुटाव को और गहरा करने का उद्देश्य रखता था। उसका इरादा था कि रूस को अपने पक्ष में मिलाकर फ्रांस को भी जर्मनी के पक्ष में किया जाय तथा त्रिगुट और द्विगुट का एक सम्मिलित महाद्वीपीय संघ ब्रिटेन के विरुद्ध कायम किया जाय। लेकिन जार स्वयं बहुत चालक था। वह कैसर के जाल में फँसने वाला नहीं था। उसने तुरत कैसर को जवाब दिया कि हाल ही में ब्रिटेन ने उसके समक्ष भी ऐसे ही प्रस्ताव रखे थे। लेकिन रूस की सरकार का ब्रिटेन पर भरोसा नहीं है। अतएव उसने उसके प्रस्ताव को नामंजूर कर दिया है। "ब्रिटिश प्रस्ताव को मंजूर करना या अस्वीकार करना एक ऐसी बात है जिसका निर्णय आप स्वयं कर सकते हैं।"

कैसर को जब जार का यह पत्र मिला तो उसके आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा। इसका अर्थ उसने यह लगाया कि ब्रिटेन रूस और जर्मनी के समक्ष गुप्त प्रस्ताव रखकर दोनों में संघर्ष करना चाहता है। चैम्बरलेन के प्रस्ताव को उसने कूटनीति चालवाजी की संज्ञा दी और मार्च 1898 के प्रस्ताव की अकाल मृत्यु हो गयी।*

ब्रिटेन का दूसरा प्रस्ताव—नवम्बर 1899 में चान्सलर वूलो के साथ कैसर ब्रिटेन गया। इस समय तक वोअर युद्ध छिड़ चुका था और सारा यूरोप ब्रिटेन का विरोध कर रहा था। ऐसी हालत में चेम्बरलेन ने कैसर और वूलो दोनों के साथ फिर से एक संधि के लिए वार्ताएँ शुरू कीं लेकिन इस बार भी जर्मन नेताओं की ओर से कोई प्रोत्साहन नहीं मिला। फिर भी कुछ दिनों के बाद लेस्टर नामक एक स्थान पर चेम्बरलेन का एक महत्त्वपूर्ण भाषण हुआ जिसमें सार्वजनिक तौर पर उसने जर्मनी के साथ एक संधि का प्रस्ताव रखा। इसमें सयुक्त राज्य अमेरिका को भी सम्मिलित करने का सुझाव था। लेकिन इस समय तक वोअर युद्ध के परिणाम दृष्टिगोचर होने लगे थे और सभी देशों में विशेषकर जर्मनी में ब्रिटेन की निन्दा की जा रही थी। इस हालत में जर्मन रीहस्टाग में वोलते हुए वूलो ने चेम्बरलेन के लेस्टर-प्रस्ताव को नामंजूर कर दिया।

ब्रिटेन का तीसरा प्रस्ताव—1900 में अनेक कारणों से ब्रिटेन और जर्मनी के सम्बन्धों में कुछ सुधार हुआ। वोअर-युद्ध के समाप्त होने के लक्षण प्रकट होने लगे और राष्ट्रपति क्रूगर प्रेटोरिया से भागकर यूरोप पहुँचा। पेरिस में उसका अभूतपूर्व स्वागत हुआ तथा फ्रांसीसी विदेश मंत्री से घंटों तक उसकी वार्ताएँ हुईं। इसके बाद क्रूगर वर्लिन गया। लेकिन कैसर ने उससे मिलने और ब्रिटेन के विरुद्ध किसी तरह की मदद देने से इन्कार कर दिया। जर्मन संसद् में सरकार की इस नीति की आलोचना हुई, लेकिन चान्सलर ने इस नीति का जबर्दस्त समर्थन किया। जर्मनी के इस रुख का ब्रिटेन पर बड़ा ही अच्छा प्रभाव पड़ा।†

इस समय महारानी विक्टोरिया जोरों से बीमार पड़ी और खबर मिलते ही कैसर अपनी दादी को देखने के लिए लन्दन रवाना हो गया और महारानी की मृत्यु के दो दिन पहले ओस्वोर्न पहुँचा। कैसर की इस सहानुभूतिपूर्ण यात्रा का ब्रिटेन के लोगों पर गहरा प्रभाव पड़ा। जर्मन सम्राट् के आगमन पर चेम्बरलेन ने फिर से जर्मनी के साथ संधि की वर्ताएँ शुरू कर दीं। इस समय चीन को लेकर रूस के साथ ब्रिटेन का झगड़ा बहुत बढ़ गया था। इस हालत में चेम्बरलेन ने यह सुझाव रखा कि ब्रिटेन, जर्मनी और जापान तीनों को मिलाकर

* Brandenburg : *From Bismarck to the Great War*, p. 84,

† G. P. Gooch : *History of Modern Europe*, p, 212.

एक प्रतिरक्षात्मक सन्धि कर लेनी चाहिए। लेकिन इस बार भी जर्मनी से कोई प्रोत्साहन नहीं मिला। वस्तुतः जर्मनी रूस के विरुद्ध सन्धि करके उसको अपना प्रत्यक्ष विरोधी नहीं बनाना चाहता था। जुलाई 1901 के मध्य तक चेम्बरलेन को इस निष्कर्ष पर पहुँच जाना पड़ा कि जर्मनी के साथ वार्ताएँ करना व्यर्थ है। उसके बाद दिसम्बर तक लार्ड लैंसडाउन ने वार्ताएँ जारी रखीं। लेकिन उसका भी कोई नतीजा नहीं निकला। जर्मनी की मांग थी कि ऐसी संधि में त्रिगुट के राज्यों को भी सम्मिलित किया जाय तथा ब्रिटिश संसद् के एक जबर्दस्त बहुमत से इसका अनुमोद न हो। बोअर युद्ध को लेकर इस समय ब्रिटेन और जर्मनी के संबंधों की जो स्थिति थी उसको देखकर यह कहना मुश्किल था कि ब्रिटिश पार्लियामेंट जर्मनी के साथ किये गये ऐसी सन्धि का अनुमोदन कर ही देती। इस हालत में चार वर्ष के वार्तालाप के बाद दिसम्बर 1901 में संधि के लिए आंग्ल-जर्मन वार्तालाप सदा के लिए बन्द कर दिया गया। अब ब्रिटेन दूसरी ओर प्रयास करने लगा।

जर्मनी की शर्त — अगर जर्मनी और ब्रिटेन में एक सन्धि हो जाती, अगर कैसर चेम्बरलेन के सुझावों को मान लेता, तो दोनों देशों के हक में बहुत ही अच्छा होता। लेकिन ऐसा नहीं हो सका। चेम्बरलेन के सुझावों को अस्वीकार करके कैसर ने एक बहुत बड़ा अवसर खो दिया। अब प्रश्न यह उठता है कि आंग्ल-जर्मन वार्तालाप असफल क्यों हो गया? इसके अनेक कारण थे। जर्मनी कुछ खास-शर्तों पर ब्रिटेन के साथ सन्धि करने को तैयार था। "जर्मनी चाहता था कि ब्रिटेन आल्सेस-लोरेन को जर्मनी का अभिन्न अंग मान ले। जर्मनी की दूसरी इच्छा थी कि ब्रिटेन आस्ट्रिया-हंगरी साम्राज्य की प्रादेशिक अखंडता को बनाये रखने का आश्वासन दे। जब तक ब्रिटेन इन दोनों शर्तों को नहीं मान लेता तब तक आंग्ल-जर्मन-गुट का रूस या फ्रांस के विरुद्ध कोई मतलब नहीं होता। बीसवीं सदी के प्रारम्भ में बाल्कन-प्रायद्वीप की हालत चिन्ताजनक हो गयी थी। उस क्षेत्र में युद्ध की सम्भावना थी और जर्मनी को भय था कि आस्टिया के कारण वह भी इस युद्ध में न फँस जाय। इस सम्भावित युद्ध में जर्मनी ब्रिटेन का पूर्ण सहयोग चाहता था। चेम्बरलेन के सुझाव में इस तरह की कोई चर्चा नहीं की गयी थी और अगर चेम्बरलेन इस तरह का कोई आश्वासन दे भी देता तो ब्रिटिश-संसद् उसे अवश्य ही नामंजूर कर देती। इस स्थिति में जर्मनी ने ब्रिटेन की दोस्ती प्राप्त करने के लिए आस्ट्रिया की दोस्ती की कुर्बानी क्यों नहीं कर दी? इस प्रश्न के उत्तर में कहा जाता है कि किसी यूरोपीय युद्ध के अवसर पर जर्मनी के लिए आस्ट्रिया की दोस्ती ब्रिटेन की दोस्ती से अधिक मूल्यवान थी। संकट के समय में आस्ट्रिया ही जर्मनी की सहायता कर सकता था और उसकी रक्षा भी। जैसा कि

एक व्यक्ति ने कहा था—"ब्रिटेन की नौ-सेना कोई चक्के पर नहीं चलती है।" इसका अर्थ था कि अगर जर्मनी पर कोई हमला हो जाता है तो ब्रिटेन की नौ-सेना उनकी रक्षा नहीं कर सकती थी। यूरोपीय महाद्वीप में रूस की थल सेना सबसे अधिक शक्तिशाली थी। जर्मनी को इससे बहुत बड़ा खतरा था। ब्रिटेन के साथ मित्रता करके और आस्ट्रिया को ठुकराकर जर्मनी दो सीमाओं पर युद्ध नहीं कर सकता था। आस्ट्रिया की दोस्ती जर्मनी के लिये आवश्यक थी। अतः जर्मनी ने चैम्बरलेन के प्रस्ताव को ठुकरा दिया।*

जर्मनी की गलत धारणा—जर्मनी द्वारा ब्रिटिश-प्रस्ताव को ठुकराने का एक दूसरा कारण यह था कि जर्मनी के शासक अपने इस विचार पर पूर्णतया निश्चित थे कि ब्रिटेन किसी भी हालत में फ्रांस और रूस-जैसे अपने दुश्मनों के साथ नहीं मिल सकता है। जर्मनी में रूस और ब्रिटेन तथा फ्रांस और ब्रिटेन में मेल मिलाप की कल्पना भी नहीं की जाती थी। खासकर रूस और ब्रिटेन की दोस्ती जर्मनों की निगाह में असम्भव ही थी। कुछ समय के लिए जर्मन लोग ब्रिटेन तथा फ्रांस के बीच मेल-मिलाप को सम्भव मानते थे; लेकिन जहाँ तक रूस का सम्बन्ध था वे कभी भी विश्वास करने को तैयार नहीं थे। ऐसी स्थिति में जर्मनी के शासकों ने ब्रिटेन के प्रस्ताव को आसानी से ठुकरा दिया।†

बोअर-युद्ध—बोअर-युद्ध के कारण ब्रिटेन और जर्मनी का सम्बन्ध अत्यन्त खराब हो चला था। इस युद्ध को लेकर जर्मनी का जनमत ब्रिटेन से काफी क्षुब्ध था। जर्मनी के लोग नहीं चाहते थे कि बोअरों के दमन करनेवाले अँग्रेजों के साथ उनका देश दोस्ती करे। उधर ब्रिटेन में भी बोअर युद्ध को लेकर जर्मनी का काफी विरोध हो रहा था। ब्रिटेन की जनता समझती थी कि जर्मन-सरकार बोअरों को ब्रिटेन के खिलाफ मदद कर रही है। इस मनमुटाव के वातावरण में दोनों देशों के अखबारों ने आग में घी का काम किया। जर्मनी के अखबार ब्रिटेन के खिलाफ और ब्रिटेन के अखबार जर्मनी के खिलाफ आग उगलते थे और जनमत को दूषित बना रहे थे। ऐसी स्थिति में अगर ब्रिटेन और जर्मनी के बीच एक सन्धि भी हो जाती तो यह बात निश्चित थी कि ब्रिटेन की संसद् उसे अवश्य ही नामंजूर कर देती।‡

कुछ ब्रिटिश राजनीतिज्ञों का विरोध—इसमें कोई शक नहीं कि ब्रिटेन की तरफ से ऑग्ल-जर्मन-सन्धि का प्रस्ताव हुआ था। इससे यह नहीं समझ लेना चाहिए कि ब्रिटेन के प्रायः सभी लोग जर्मनी के साथ सन्धि करने के पक्ष में थे। वास्तव में चैम्बरलेन को छोड़कर ब्रिटेन में कोई भी व्यक्ति जर्मनी के साथ सन्धि

*N. Mansergh : *The Coming of the First World War*, p. 73.

† S. B. Fay : *Origins of the World War*, pp. 139-40.

‡ N Mansergh : *Coming of the First World War*, pp. 74-76

करने के लिए उत्सुक नहीं प्रतीत हो रहा था। ब्रिटेन की तरफ से भी इस तरह की सन्धि कायम करने में काफी कठिनाई थी। ब्रिटेन के कुछ राजनीतिज्ञों का यह विचार था कि अगर ब्रिटेन और जर्मनी में कोई सन्धि हो जाती है तो यूरोप का शक्ति-संतुलन और भी नष्ट हो जायेगा। दूसरे, फ्रांस ब्रिटेन से काफी नाराज हो जायेगा। इस सब बातों के अतिरिक्त इस प्रकार की सन्धि से ब्रिटेन को कोई विशेष लाभ नहीं पहुँचता था; क्योंकि त्रिगुट में देर से शामिल होने के कारण उस गुट के पुराने सदस्य ब्रिटेन के विचारों का उतना वजन नहीं देते जितना एक महान् राष्ट्र को मिलना चाहिए। ब्रिटेन में तटस्थता की नीति छोड़ने की बात थी; लेकिन इतने बड़े मूल्य पर नहीं। ऐसी स्थिति में आंग्ल-जर्मन-वार्तालाप का असफल होना कोई आश्चर्यजनक बात नहीं थी।

वार्तालाप की असफलता के परिणाम—'लार्ड लेन्सडाउन की जीवनी' के लेखक लार्ड न्यूटन के अनुसार 1901 के आंग्ल-जर्मन-वार्तालाप की असफलता विश्व-इतिहास में एक युगान्तकारी घटना थी। जर्मनी ने ब्रिटेन की मित्रता ठुकरा दी तो ब्रिटेन अनिवार्यतः दूसरे देशों की तरफ झुका। उधर अन्य कारणों से भी ब्रिटेन और जर्मनी के सम्बन्ध खराब हो रहे थे। ऊपर बतलाया जा चुका है कि केसर के हाथों से जर्मन विदेश नीति के संचालन का काम जिस समय आया उसी समय से जर्मनी की विदेश नीति में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन होने लगे। केसर विश्व-राजनीति में जर्मनी के लिए 'नया मार्ग' का अवलम्बन करना चाहता था। इस 'नये मार्ग' का अर्थ था औपनिवेशिक साम्राज्य कायम करना। औपनिवेशिक साम्राज्य के लिए आवश्यक था कि जर्मनी केवल एक थल-शक्ति ही नहीं रहे, बल्कि वह एक बहुत बड़ा सामुद्रिक शक्ति भी हो जाय। उसके पास बहुत-बड़े-बड़े जहाजी बेड़े हों। इस दिशा में ब्रिटेन और जर्मनी में पारस्परिक विरोध बिल्कुल स्वाभाविक था। ब्रिटेन यह नहीं सह सकता था कि उसके सामुद्रिक आधिपत्य को कोई दूसरा राज्य नष्ट करने का प्रयत्न करे, या उसका कोई नया प्रतिद्वन्दी मैदान में उतर आये। कैसर की प्रेरणा से जर्मनी की नाविक शक्ति दिन दूनी रात चौगुनी बढ़ रही थी। जर्मनी की संसद् ने 1898 और 1900 में दो कानून पास किये। इन कानूनों का उद्देश्य जर्मनी की नाविक शक्ति को बढ़ाना था। ब्रिटेन के लोग इस बात से काफी चिन्तित थे यद्यपि जर्मन-सरकार बार-बार यह घोषणा करती थी कि नाविक शक्ति की यह वृद्धि केवल आत्मरक्षा के लिए है; पर ब्रिटिश जनता इसके वास्तविक अभिप्राय को भली भाँति समझती थी। वे लोग अच्छी तरह अनुभव करते थे कि जर्मनी के रूप में एक नया प्रतिद्वन्दी उनके सामुद्रिक आधिपत्य को नष्ट करने के लिये उत्पन्न हो रहा है* और यदि शीघ्र ही उसकी

*Brandenburg : *From Bismarck to the Great War*, pp. 175-76

बढ़ती हुई शक्ति को नष्ट नहीं किया जायगा तो ब्रिटेन का सामुद्रिक उत्कर्ष नष्ट हुए बिना नहीं रहेगा। जिस समय जर्मन-संसद् में नौ-सेना-सम्बन्धी कानून पास हो रहे थे उसी समय मित्रता कायम करने के लिए आँग्ल-जर्मन-वार्तालाप भी चल रहा था। जब यह वार्तालाप असफल हो गया तो ब्रिटेन के लोगों की चिन्ता और भी बढ़ गयी।

केवल सामुद्रिक शक्ति बढ़ाने तक ही बात सीमित नहीं रही। कैसर की अभिलाषाएँ असीम थीं और वह यूरोप से बाहर उन क्षेत्रों की राजनीति में भी हस्तक्षेप करने लगा था, जिसको ब्रिटेन अपने स्वार्थों की रक्षा के लिए अत्यन्त आवश्यक समझता था। कैसर अब इस बात का उद्योग कर रहा था कि तुर्की के सुल्तान के साथ मैत्री स्थापित करके उसके साम्राज्य पर अपना प्रभाव स्थापित किया जाय। इस तरह की बातों को देखकर ब्रिटेन के शासकों की चिन्ता और भी बढ़ी। वे अनुभव करने लगे कि ब्रिटेन की 'शानदार तटस्थता' की नीति खतरे से खाली नहीं है और जितना जल्द इसका अन्त हो उतना ही अच्छा है। जर्मनी ने ब्रिटेन के प्रस्ताव को ठुकरा दिया था, और जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, इस अकेलेपन की स्थिति में ब्रिटेन दूसरे दोस्तों की खोज में निकल पड़ा। जर्मनी द्वारा ब्रिटेन के प्रस्तावों की अस्वीकृति का पहला परिणाम हुआ 1902 का आँग्ल-जापानी सन्धि और उसके बाद 1904 को आँग्ल-फ्रांसीसी सन्धि।

—o—

आंग्ल-फ्रांसीसी समझौता

(Anglo French Entente)

(क) कूटनीतिक क्रांतियाँ

वर्तमान शताब्दी की प्रथम दशाब्दी कूटनीतिक क्रांतियों का युग था। इस दशाब्दी में विविध राष्ट्रों के बीच कुछ ऐसी संधियाँ हुईं जिनके परिणामस्वरूप विश्व-राजनीति की रूपरेखा में युगान्तरकारी परिवर्तन हुए। इन संधियों में चार संधियाँ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण थीं—(1) 1902 की आंग्ल-जापानी सन्धि, (2) 1902 का इटली और फ्रांस की संधि (3) 1904 का आंग्ल फ्रांसीसी समझौता तथा (4) 1907 की आंग्ल-रूसी सन्धि बाद की दो सन्धियाँ पीछे चलकर ब्रिटेन, फ्रांस तथा रूस को मिलाकर एक दूसरे त्रिगुट के रूप में परिवर्तित हुई। ये चारों सन्धियाँ इतनी महत्त्वपूर्ण मानी जाती हैं कि इनको लेकर इस काल को कूटनीतिक क्रांति का काल माना जाता है।

बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में जर्मनी यूरोप का सबसे शक्तिशाली देश था। आस्ट्रिया और इटली उसके गुट में सम्मिलित थे। यूरोपीय राजनीति में जर्मनी की शक्तिशाली स्थिति को कोई भी चुनौती देनेवाला नहीं था। इसमें कोई शक नहीं कि 1893 में रूस और फ्रांस आपस में सन्धि करके एक द्विगुट का निर्माण कर चुके थे; लेकिन यह द्विगुट जर्मनी के त्रिगुट से अधिक शक्तिशाली नहीं था। द्विगुट की स्थापना से जर्मनी की चिन्ता तो अवश्य बढ़ गयी थी; पर वह घबड़ाया नहीं था। त्रिगुट के मुकाबले में द्विगुट अभी छोटा था और यूरोप में जर्मनी का बोलबाला ज्यों-का-त्यों बना हुआ था। परन्तु इस तरह की स्थिति हमेशा के लिए कायम रहने को नहीं थी। बीसवीं शताब्दी की प्रथम दशाब्दी में स्थिति बदलने लगी। सर्वप्रथम 1902 में औपनिवेशिक बातों पर इटली और फ्रांस में एक समझौता हो गया। इसके फलस्वरूप इटली अब धीरे-धीरे त्रिगुट की तरफ से उदासीन होने लगा। त्रिगुट के प्रति इटली की वफादारी कम होने लगी और कुछ दिनों के बाद वह त्रिगुट से निकल भी गया। इसके बाद 1907 में ब्रिटेन, रूस तथा फ्रांस ने मिलकर एक दूसरे त्रिगुट की स्थापना की। इस नये त्रिगुट की स्थापना के फलस्वरूप यूरोप की राजनीति से जर्मनी की प्रबलता जाती रही। वर्षों से जो स्थिति चली आ रही थी वह देखते-देखते बदल गयी। यही बीसवीं शताब्दी की प्रथम दशाब्दी की कूटनीतिक क्रान्ति थी।

बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में निश्चित रूप से कोई भी व्यक्ति नहीं कह सकता था कि ब्रिटेन को जापान, फ्रांस और रूस के साथ सन्धि हो जायेगी। जापान एशिया का एक देश था और कोई भी यूरोपीय देश किसी एशियाई देश के साथ समानता के स्तर पर सन्धि करने को तैयार नहीं था। लेकिन, 1902 में इस प्रकार की एक सन्धि हो गयी। इस दृष्टिकोण से यह सन्धि भी एक कूटनीतिक क्रान्ति थी। ब्रिटेन और फ्रांस को सन्धि के विषय में भी ऐसी ही बात कही जाती है। ब्रिटेन और फ्रांस में सदियों से शत्रुता चली आ रही थी। भारत में ईस्ट इंडिया-कम्पनी की स्थापना के बाद से ही एक देश दूसरे देश का शत्रु बना रहा। साम्राज्यवाद की दौड़ में दोनों देश पूरी अठारहवीं शताब्दी भर लड़ते रहे। उन्नीसवीं शताब्दी में भी नेपोलियन को लेकर दोनों देश एक दूसरे के दुश्मन बने रहे। नेपोलियन को हराने के लिए ब्रिटेन के नेतृत्व में ही समय-समय पर यूरोपीय राष्ट्रों ने चार गुट कायम किये थे। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में अफ्रिका को लेकर दोनों देशों की शत्रुता ज्यों-की-त्यों कायम रही। 1899 में तो फसोदा-संकट को लेकर दोनों देशों के बीच युद्ध होते-होते बचा था; लेकिन ऐसे देश के साथ भी 1904 में ब्रिटेन की सन्धि हो गयी।

रूस के साथ ब्रिटेन का सम्बन्ध तो फ्रांस से भी अधिक खराब था। दोनों एक दूसरे के घोर शत्रु थे। जैसा कि ऊपर कहा गया है, रूस की आकांक्षा थी तुर्की साम्राज्य पर अधिकार जमाकर भारत में ब्रिटिश-साम्राज्य पर आघात करना। ब्रिटेन प्रारम्भ से ही इसका विरोध करता आ रहा था। इन सब बातों को देखकर ब्रिटेन और रूस की सन्धि किसी भी अनुभवी व्यक्ति की कल्पना के बाहर की बात थी। लेकिन, 1907 में यह भी होकर रहा। यह एक महान् कूटनीतिक क्रान्ति थी। इन्हीं सब घटनाओं को देखकर बीसवीं शताब्दी की प्रथम दशाब्दी को कूटनीतिक क्रान्तियों का युग कहते हैं। अगले पृष्ठों में इन्हीं क्रान्तियों का विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया जायेगा।

(ख) आंग्ल-जापानी सन्धि (1902)

संधि का पृष्ठाधार—1902 की आंग्ल-जापानी सन्धि बीसवीं शताब्दी की प्रथम दशाब्दी की पहली कूटनीतिक क्रान्ति थी। उन्नीसवीं सदी के अन्तिम चरण से जापान की अपूर्व प्रगति हो रही थी। औद्योगिक क्रान्ति के फलस्वरूप जापान बिल्कुल बदल चुका था। इसके परिणामस्वरूप जापान को भी उपनिवेश कायम करने की अभिलाषा हुई। उस समय जापान का पड़ोसी राष्ट्र चीन सबसे कमजोर था। यूरोपीय राष्ट्र चीन की लूट-खसोट में लगे हुए थे। जापान की निगाहें भी चीन पर लगी थीं और वह भी चीन की लूट-खसोट में सम्मिलित हो गया। 1894-

95 का चीन-जापान युद्ध जापान की इसी साम्राज्यवादी प्रवृत्ति का परिणाम था। इस युद्ध में ब्रिटेन की सहानुभूति जापान के साथ थी। जापानी लोग ब्रिटेन के द्वारा इस प्रकार की सहानुभूति प्रदर्शित किये जाने पर काफी खुश थे। इसी समय 1894 में ब्रिटेन और जापान में एक सन्धि हुई, जिसके द्वारा दोनों देशों के बीच सभी असमान स्तर पर की गयी सन्धियों का अन्त कर दिया गया। जापान ब्रिटेन के इन सद्भावनाओं से काफी खुश था। ऐसा लगता था कि ब्रिटेन की सुदूर पूर्वीय नीति में कोई महान् परिवर्तन होनेवाला है। ब्रिटेन और जापान का मेल-मिलाप बढ़ रहा था। ब्रिटेन द्वारा तटस्थता की नीति का परित्याग करने का सबसे बड़ा समर्थक चेम्बरलेन इस वातावरण से लाभ उठाना चाहता था। जिस समय वह जर्मनी से वार्तालाप कर रहा था उसी समय 1898 उसने जापान के साथ सन्धि करने की बात भी उठायी थी। कुछ कारणवश चेम्बरलेन की यह अभिलाषा भी पूरी न हो सकी। ब्रिटेन में अभी भी तटस्थता की नीति के समर्थकों की संख्या अधिक थी और वे नहीं चाहते थे कि ब्रिटेन किसी अन्य देश के साथ गठबन्धन करे। ऐसा होने पर भी बीसवीं सदी के प्रारम्भ में जापान और ब्रिटेन के बीच एक सन्धि का हो जाना आवश्यक हो गया।

सुदूर पूर्व में रूस की प्रसार-नीति के कारण ही आंग्ल-जापानी सन्धि सम्भव हो सकी। पिछले पच्चास वर्षों से रूस इस क्षेत्र में अपने साम्राज्यवादी जाल को फैलाने का सफलतापूर्वक प्रयास करता चला आ रहा था। मंचूरिया, मंगोलिया तथा तुर्किस्तान में रूस का अधिकार हो चुका था। रूस का यह प्रसार ब्रिटेन और जापान दोनों के लिए चिन्ता का विषय बन रहा था। चीन में जापान का गहरा स्वार्थ था। वह सम्पूर्ण चीन को अपने साम्राज्य में सम्मिलित करना चाहता था। उधर ब्रिटेन के लिए भी रूसी प्रसार सर-दर्द बना हुआ था। ब्रिटेन को भय था कि सुदूर पूर्व में अपना प्रभाव जमाकर कहीं रूस भारतवर्ष पर न आ धमके। इस प्रकार इस क्षेत्र में ब्रिटेन और जापान दोनों के हित रूस से टकराते थे। ऐसी स्थिति में आंग्ल-जापानी सन्धि का होना कोई आश्चर्यजनक घटना नहीं थी।

1901 में ही लन्दन में आंग्ल-जापानी सन्धि के लिए वार्तालाप प्रारम्भ हो चुका था। इस प्रकार की सन्धि का प्रस्ताव सर्वप्रथम जर्मनी की ओर से आया था। जिस समय जर्मनी और ब्रिटेन में सन्धि के लिए वार्तालाप चल रहा था उस समय जर्मनी ने यह सुझाव रखा था कि उस प्रस्तावित सन्धि में जापान को भी सम्मिलित किया जाय। पीछे चलकर स्वयं जर्मनी ही इस वार्तालाप से अलग हो गया; क्योंकि वह रूस को नाखुश करके कोई सन्धि नहीं करना चाहता था। पर ब्रिटेन ने जापान के साथ वार्तालाप जारी रखा और 1902 में दोनों राज्यों के बीच सन्धि हो गयी।

1894 के चीन-जापान-युद्ध के बाद जापान की राजनीति में दो दल थे। एक दल का विचार था कि जापान को अपनी हित-रक्षा के लिए रूस के साथ दोस्ती कर लेनी चाहिए। इसके विपरीत दूसरा दल ब्रिटेन के साथ मैत्री का समर्थक था। अन्ततोगत्वा दूसरे दल के विचारों की विजय हुई और ब्रिटेन तथा जापान में सरकारी तौर से सन्धि के लिए वार्तालाप होने लगा।

यह बात समझ में आ सकती है कि जापान ब्रिटेन के साथ सन्धि करने को इच्छुक था। लेकिन ब्रिटेन ऐसी सन्धि के लिए क्यों इच्छुक था? एक एशियाई देश के साथ सन्धि करने के लिए ब्रिटेन ने परम्परा से आनेवाली 'शानदार तटस्थता' की नीति का क्यों परित्याग कर दिया? इसका एकमात्र कारण यही था कि ब्रिटेन रूस के प्रसार से काफी डर गया था। उन्नीसवी सदी के अन्तिम दिनों में ब्रिटेन उत्तरी अफ्रिका के प्रश्न को लेकर व्यस्त था। लेकिन उस शताब्दी के अन्त होने के साथ-साथ ब्रिटेन के उत्तरी अफ्रिका के संकटों का भी अन्त हो गया। अब ब्रिटेन सुदूरपूर्व की राजनीति में दृढ़तापूर्वक हस्तक्षेप करने की स्थिति में पहुँच चुका था। ब्रिटेन के कूटनीतिज्ञ सुदूर पूर्व में रूस की बढ़ती हुई शक्ति को रोकने के लिए तैयार हो गये। ब्रिटेन पहले जर्मनी के साथ समझौता करने को राजी नहीं था। उधर फ्रांस भी रूस का मित्र था। दोनों देश द्विगुट के सदस्य थे। अब पश्चिमी शक्तियों में केवल संयुक्त राज्य अमेरिका ही बच रहा था, जिसके साथ ब्रिटेन की कोई सन्धि हो सकती थी। उस समय संयुक्त राज्य अमेरिका भी अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में 'पृथकता की नीति' का अवलम्बन कर रहा था। अमेरिका ब्रिटेन के साथ सन्धि करने को तैयार नहीं था। ऐसी हालत में जापान ही एक ऐसा देश बच गया जिसके साथ ब्रिटेन की सन्धि हो सकती थी। फलस्वरूप कुछ हिचकिचाहट के बाद ब्रिटेन ने तटस्थता की नीति का परित्याग करने का निर्णय कर लिया और जापान के साथ 1902 में उसकी सन्धि हो गयी। श्री विनायक के शब्दों में विश्व-राजनीति के इतिहास में यह 'एक महान् घटना' थी।

सन्धि की शर्तें—सन्धि की शर्तों के अनुसार—(१) दोनों राष्ट्रों ने सुदूर पूर्व में यथास्थिति तथा चीन की प्रादेशिक अखण्डता बनाये रखने का वादा किया। (२) दोनों राष्ट्रों ने यह वादा भी किया कि वे चीन में 'खुले दरवाजे की नीति' (open door policy) का अवलम्बन करेंगे। (३) जापान ने इस बात को मान लिया कि चीन में ब्रिटेन का विशेष स्वार्थ है और ब्रिटेन ने इसके बदले में इस बात को मान्यता दे दी कि चीन में विशेष स्वार्थ होने के साथ-साथ कोरिया में भी जापान का विशेष स्वार्थ था। इन विशेष स्वार्थों की रक्षा के लिए यदि दोनों में से किसी देश को किसी तीसरे देश से युद्ध हो जाता है तो वैसी हालत में दूसरा देश तटस्थ रहेगा और इस युद्ध को विश्व व्यापी युद्ध के रूप में परिणत होने

से रोकेगा। (५) युद्ध की हालत में अगर कोई अन्य देश जापान या ब्रिटेन के शत्रु का साथ देंगे तो वैसी स्थिति में इस सन्धि पर हस्ताक्षर करनेवाले दोनों देश एक दूसरे को सक्रिय मदद करेंगे। (६) सन्धि की शर्त्तें पाँच वर्ष तक लागू रहेंगी।

सन्धि का महत्त्व :—इस प्रकार आंग्ल-जापानी सन्धि का यह अर्थ था कि कूटनीतिक क्षेत्रों में दोनों मित्रराष्ट्र एक-दूसरे से मिल-जुलकर काम करेंगे, जिससे सुदूर पूर्व में रूस का प्रभाव और अधिक नहीं बढ़े। यदि कूटनीतिक उपायों से रूस के प्रसार को नहीं रोका गया तो जापान युद्ध के मैदान में रूस का विरोध करेगा। ऐसी स्थिति में ब्रिटेन का यह काम होगा कि वह इस प्रकार का कूटनीतिक प्रयास करे जिससे रूस को किसी अन्य राष्ट्र से मदद नहीं प्राप्त हो। यदि ब्रिटेन अपने इस प्रयास में असफल हो जाय और रूस का साथ कोई अन्य देश दे तो वैसी हालत में ब्रिटेन अपनी सम्पूर्ण सैन्य-शक्ति के साथ जापान की मदद करे। आंग्ल-जापानी सन्धि का यही उद्देश्य था।

आंग्ल-जापानी सन्धि के कायम होने से रूस और फ्रांस दोनों काफी भयभीत हो गये। इसका तात्कालिक प्रभाव यह हुआ कि रूस को अपनी सुदूर पूर्वीय की नीति में काफी परिवर्तन करना पड़ा और कुछ दिनों के लिए प्रसार की नीति का परित्याग भी कर देना पड़ा। लेकिन, इससे भी बढ़कर इसके व्यापक परिणाम और भी महत्त्वपूर्ण थे।

ब्रिटेन जैसे पश्चिम के एक महान् राष्ट्र के साथ जापान-जैसे एशियाई देश का सन्धि होना विश्व के कूटनीतिक इतिहास की एक असाधारण घटना थी। जापान के उत्थान तथा उसके एशिया का एक महान् राष्ट्र बनने के इतिहास में यह एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण कदम था। आधुनिक युग में आंग्ल-जापानी सन्धि ही वह प्रथम सन्धि थी, जो एक यूरोपीय और एक एशियाई देश के बीच समानता के स्तर पर की गयी थी। इसके पूर्व यूरोपीय देश एशियाई देशों को हेय दृष्टि से देखते थे। श्री विनायक के शब्दों में इसका अर्थ यह था कि अब से जापान की गणना संसार के महान् राष्ट्रों में होने लगी। सन्धि द्वारा जापान को सरकारी तौर पर यह मान्यता प्राप्त हो गयी। विश्व-राजनीति के रंग-मंच पर जापान को वह स्थान प्राप्त हो गया जो अभी तक किसी एशियाई देश को नहीं मिल सका था। इसका तात्कालिक परिणाम यह हुआ कि इस सन्धि की बदौलत जापान रूस के प्रसार को रोकने के लिए तैयार हो गया। 1895 में जापान को रूसी जार के मन्त्रियों की बात माननी पड़ी थी; लेकिन अब वह समय दूर नहीं था जब रूस को जापान की बातों का आदर करना पड़े। इस सन्धि ने जापानी साम्राज्यवाद की नींव को मजबूत बना दिया और जापान की सम्पूर्ण साम्राज्यवादी नीति इसी मजबूत नींव पर आधारित हो गयी।

आंग्ल-जापानी सन्धि का महत्त्व केवल सुदूरपूर्व की राजनीति में ही नहीं, बल्कि यूरोप के इतिहास में भी है। ब्रिटेन अपनी तटस्थता की नीति को छोड़ रहा था, इसका प्रथम संकेत इसी सन्धि से मिला। इसी सन्धि से प्रोत्साहित होकर जापान ने रूस के प्रसार को रोकने के लिए 1904 में उसके साथ युद्ध किया और उसमें उसे पराजित भी किया। रूस अब सुदूरपूर्व की राजनीति में सहमी-सहमी हालत में कदम उठाने लगा। प्रसार का मार्ग अब खतरे से खाली नहीं था।

(ग) इटली और फ्रांस का समझौता
(Rapprochment)

1902 विश्व के कूटनीतिक इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण वर्ष है। इसी वर्ष आंग्ल-जापानी सन्धि हुई थी, जिसके फलस्वरूप ब्रिटेन की तटस्थता की नीति का अन्त हो गया। इसके अतिरिक्त इसी वर्ष एक दूसरी कूटनीतिक घटना भी घटी जिसके परिणामस्वरूप यूरोपीय शक्ति सन्तुलन में क्रान्तिकारी परिवर्तन आ गया। वह थी 1902 का इटली और फ्रांस की सन्धि जो बीसवीं सदी की प्रथम दशाब्दी की दूसरी कूटनीतिक क्रान्ति थी।

त्रिगुट से उदासीनता :—हम पहले लिख चुके हैं कि उन्नीसवीं सदी के अंतिम भागों में फ्रांस और इटली दोनों ही उत्तरी अफ्रिका में अपने साम्राज्य-विस्तार के लिए प्रयत्नशील थे। ट्यूनिस पर इन दोनों की आँखें गड़ी थीं। 1881 में फ्रांस ने ट्यूनिस को अपने कब्जे में कर लिया। इससे इटली में बहुत असन्तोष हुआ। इसी असन्तोष के फलस्वरूप 882 में इटली जर्मनी के साथ सन्धि करके त्रिगुट में सम्मिलित हो गया था। लेकिन, इटली इस त्रिगुट का वफादार सदस्य नहीं बना रह सकता था; क्योंकि त्रिगुट का तीसरा सदस्य आस्ट्रिया था और एड्रियाटिक सागर के तट पर इटली और आस्ट्रिया के स्वार्थों में विरोध था। त्रिगुट में रहने से इटली को कोई विशेष लाभ नहीं हो रहा था। इटली साम्राज्यवाद की दौड़ में बहुत पीछे सम्मिलित हुआ था और वह बहुत जल्दी में था। त्रिगुट से उसको कोई सहायता नहीं मिल रही थी।* ऐसी स्थिति में इटली ने ब्रिटेन और फ्रांस से मेल कर लेने का निश्चय किया।

फ्रांस के साथ समझौता :—1900 में इटली और फ्रांस के बीच उत्तरी अफ्रिका की औपनिवेशिक समस्याओं पर समझौता हुआ। लेकिन इस समझौता की शर्तें अत्यन्त सीमित थीं और फ्रांस इस सन्धि से सन्तुष्ट नहीं था। इस समय फ्रांस का विदेश-मन्त्री देल्कासे था। उसकी सर्वोपरि इच्छा जर्मनी से बदला लेने की थी। इसके लिए वह अधिक-से-अधिक राष्ट्रों के साथ मित्रता करना चहता था। उसके प्रयास के कारण 1902 में फ्रांस और

* N. Mansergh : *The Coming of the First World War*, p, 82.

इटली के बीच एक समझौता हो गया। इस समझौते के अनुसार इटली को ट्रिपोली और फ्रांस को मोरक्को में मनमानी करने का अधिकार मिला। दोनों देशों ने फिर यह वादा किया कि अगर उनमें से कोई एक किसी देश के साथ युद्ध में फँस गया तो वैसी स्थिति में दूसरा उदासीनता की नीति अपनायेगा। सन्धि की शर्तें गुप्त रखी गयीं। इस प्रकार इटली और फ्रांस मित्र बन गये। यद्यपि इटली अब भी जर्मनी के गुट में शामिल था; पर फ्रांस के साथ उसका कोई विरोध नहीं रह गया।

समझौते का महत्त्व—इटली और फ्रांस में समझौता होने से यूरोप की राजनीति में त्रिगुट का प्रभाव बहुत कम हो गया। समझौता होने के कारण इटली की विदेशनीति में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन होना अवश्यम्भावी हो गया। इटली अब त्रिगुट का वफादार सदस्य नहीं रह सकता था। वह उसकी ओर से विमुख होने लगा। आगे चलकर इटली त्रिगुट से केवल निकल ही नहीं गया, बल्कि उसके विरोधियों के साथ भी मिल गया।

इस समझौते के कारण फ्रांस की अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति काफी सुरक्षित हो गयी। देल्कासे का उद्देश्य जर्मनी और आस्ट्रिया के विरुद्ध एक ऐसा गुट तैयार करना था, जिसके द्वारा वह इन शक्तिशाली राष्ट्रों का मुकाबला कर सके। इटली के साथ समझौता का होना इस नीति की पहली सफलता थी। फ्रांस को अपनी चिन्ताओं से मुक्ति मिलने ही वाली थी।

जर्मन प्रतिक्रिया जब जर्मनी को इटली-फ्रांसीसी समझौते का पता लगा तो वहाँ के शासकों की चिन्ता बढ़ी। लेकिन प्रारम्भ में वे अपनी चिन्ता को प्रकट नहीं कर रहे थे। जर्मन संसद् में बोलते हुए जर्मनी के चान्सलर बूलो ने कहा—"सुखी दाम्पत्य जीवन में पति इस बात पर ध्यान नहीं देता कि उसकी पत्नी किसी दूसरे व्यक्ति के साथ नृत्य कर रही है। असल ध्यान इस बात पर देना है कि पत्नी उस दूसरे व्यक्ति के साथ भाग खड़ी न हो।"* लेकिन इटली और फ्रांस का "सहनृत्य तथा प्रणयलीला" खतरे से खाली नहीं था। उसमें इस बात की पूर्ण सम्भावना थी कि वह अपने नये प्रेमी के साथ कहीं गुप्त रूप से भाग न जाय। इटली और फ्रांस का यह 'गुप्त प्रेम' कितना गहरा हो चुका था इसका पता जर्मनी को अलजिसरास सम्मेलन में लगा। इस सम्मेलन में इटली ने जर्मनी के विरुद्ध फ्रांस का साथ दिया था। इसके कुछ पहले इटली के प्रधान मन्त्री ने यह

* 'In a happy marriage the husband does not mind the wife indulging in an innocent extra dance. The main thing is that she should not elope." – Fay : *Origins of the World War*, p, 146..

भी कह दिया की "त्रिगुट के प्रति वफादार होने के साथ-साथ हमलोग ब्रिटेन और फ्रांस के साथ भी अपनी परम्परागत मैत्री कायम रखेंगे। इसका उत्तर कैसर ने निम्नलिखित शब्दों में दिया—'एक व्यक्ति एक ही साथ दो स्वामियों की सेवा नहीं कर सकता है और तीन स्वामियो का तो कदापि नही। इटली एक ही साथ ब्रिटेन, फ्रांस तथा त्रिगुट के साथ रहे, यह असम्भव है। हम इस निष्कर्ष पर पहुँच गये हैं कि इटली आंग्ल-फ्रांसीसी गुट में शामिल हो गया है। हमलोग इस चुनौती का जवाब देने को तैयार हैं। इटली अब मित्र राष्ट्रों की श्रेणी में नहीं है।"

यह था 1902 के इटली-फ्रांसीसी 'मेल-मिलाप' का परिणाम। यूरोपीय कूटनीति को इसने एक दूसरा मोड़ दिया। फ्रांस की अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति अच्छी होने लगी और इसके साथ साथ जर्मनी की स्थिति बिगड़ने लगी। इसी कारण इस समझौते को बीसवी शताब्दी की प्रथम दशाब्दी का दूसरी कूटनीतिक क्रान्ति कहा जाता है।

(घ) आंग्ल-फ्रांसीसी समझौता
(Entente)

समझौता का पृष्ठाधार

जर्मन नौसेना—एक तरफ विश्व-राजनीति में इस प्रकार की कूटनीतिक क्रान्तियां हो रही थीं, तो दूसरी तरफ जर्मनी और ब्रिटेन का आपसी सम्बन्ध निरन्तर खराब हो रहा था। इसके तत्कालीन दो कारण थे। कैसर जर्मनी की सामुद्रिक शक्ति बढ़ाने पर तुला हुआ था। 1898 और 1900 में जर्मन-संसद् ने दो कानून पास किये। इन कानूनों का उद्देश्य जर्मन नौ-सेना को और अधिक शक्तिशाली बनाना था। ब्रिटेन के लिए यह एक चुनौती थी। ब्रिटेन इस बात को सहने के लिए कदापि तैयार नहीं था कि उसके सामुद्रिक प्रभुत्व को कोई अन्य राज्य नष्ट कर दे। लेकिन नौ-सेना के क्षेत्र में जर्मनी प्रतिद्वन्द्वी के रूप में मैदान में उतर रहा था। जर्मन-चान्सलर बूलो का कहना था—'हमलोगों को अपनी नौ-सेना की वृद्धि ब्रिटिश नीति को ध्यान में रखकर करनी चाहिए।'"*

बर्लिन बगदाद रेलवे—ब्रिटेन के सामुद्रिक एकाधिपत्य को नष्ट करने के अतिरिक्त जर्मनी की एक दूसरी योजना भी थी। कैसर बर्लिन से बगदाद तक एक रेलवे लाइन का निर्माण करना चाहता था। पहले से ही तुर्की में जर्मनी का प्रभाव बढ़ रहा था। तुर्की के आर्थिक जीवन पर प्रभाव कायम करने के लिए कान्स्टेन्टिनोप्ल में बर्लिन-बैंक की एक शाखा खोली गयी। 1888 में जर्मन पूँजीपतियों को कान्सटेंटिनोप्ल से अंगोरा तक रेलवे-निर्माण की अनुमति मिल गयी। 1893 में यह लाइन बनकर तैयार हो गयी। इसके बाद जर्मन पूँजीपतियों तथा इन्जीनियरों

* "Our fleet must be built with our eyes on English policy,"

ने 1896 तक एक दूसरी लाइन भी बना ली और तुर्की के सुल्तान से वे इस बात की अनुमति माँगने लगे कि इस लाइन को बढ़ाकार बगदाद तक पहुँचा दिया जाय। कैसर सोचता था कि यदि कान्सटेंटिनोप्ल और बगदाद के बीच में रेलवे-लाइन का निर्माण जर्मन पूँजी द्वारा हो जाय, तो बर्लिन से बगदाद तक का रेल-मार्ग जर्मन प्रभाव में आ जायेगा और जर्मनी के लिए एशिया पहुँचने का एक ऐसा मार्ग कायम हो जायगा, जो पूणतया जर्मन-अधिकार में होगा। राजनीतिक तथा सामरिक दृष्टिकोणों से इस रेलवे मार्ग का बहुत बड़ा महत्त्व था और यूरोप के सभी राष्ट्र इसके महत्त्व का अनुभव कर रहे थे।* 1903 में तुर्की सुल्तान ने बगदाद-रेलवे के निर्माण की अनुमति जर्मनी को प्रदान कर दी।

तुर्की के सुल्तान की इस अनुमति से ब्रिटेन के लिए मानों वज्र गिर गया। बर्लिन-बगदाद रेलवे की योजना में ब्रिटेन को जर्मनी की छाया भारतवर्ष में दीखने लगी। क्या इस रेल-मार्ग के सहारे जर्मनी ब्रिटेन के भारतीय साम्राज्य के द्वार पर नहीं पहुँच जायेगा ? यह बात ब्रिटेन को किसी भी दशा में सह्य नहीं थी। जर्मनी अपनी सामुद्रिक शक्ति को बढ़ा रहा था, जर्मनी ब्रिटेन द्वारा दोस्ती के लिए बढ़ाये गये हाथ को पकड़ने से इन्कार कर रहा था और अन्त में यह बर्लिन-बगदाद-रेलवे की बात आयी। 1903 में लार्ड लैंसडाउन ने स्पष्ट शब्दों में यह कह दिया कि "ब्रिटेन अपनी सम्पूर्ण शक्ति के साथ इस योजना का विरोध करेगा।" लेकिन-विरोध तो पीछे होता, वर्तमान की स्थिति अत्यन्त नाजुक थी। जर्मनी जिस नीति का अवलबन कर रहा था उसका साफ-साफ यह मतलब था कि वह सम्पूर्ण संसार पर अपना आधिपत्य कायम करना चाहता है। ब्रिटेन इसका विरोध करने के लिए अब तैयार हो गया। लेकिन जर्मनी एक महान् शक्ति था। अकेले ब्रिटेन उसका मुकाबला नहीं कर सकता था। उसे कुछ अन्य राष्ट्रों के साथ मित्रता का सम्बन्ध कायम करना आवश्यक था। अतः ब्रिटेन ने अपनी तटस्थता की नीति को छोड़ने का फैसला कर लिया। जापान के साथ 1902 में उसकी सन्धि हो चुकी थी; लेकिन यूरोपीय राजनीति में जापान की मित्रता का कोई विशेष महत्त्व नहीं था। जर्मनी का विरोध करने के लिए यूरोपीय राष्ट्रों से मित्रता करना जरूरी था। फ्रांस पड़ोस का राष्ट्र था और ब्रिटेन की तरह वह भी जर्मनी का विरोधी था। यद्यपि फ्रांस और ब्रिटेन बहुत दिनों से एक दूसरे के विरोधी थे, लेकिन जर्मनी का खतरा दोनों के लिए समान था। परिस्थिति की मांग थी कि ये दोनों देश अपने परम्परागत विरोध को भूलकर आपस में गले-गले मिल जायँ। अतः 1904 में दोनों देशों के बीच एक समझौता हुआ। इतिहास में यह आंग्ल-फ्रांसीसी

* P. T. Moon : *Imperialism and World Politics*, pp 245-7

समझौते के नाम से प्रसिद्ध है। बीसवीं शताब्दी की प्रथम दशाब्दी की यह तीसरी कूटनीतिक क्रान्ति थी।

आंग्ल-फ्रांसीसी समझौते की उत्पत्ति

विदेश-मंत्री देल्कासे के विचार—अगर एक तरफ ब्रिटेन और जर्मनी के बीच का सम्बन्ध दिनोदिन बिगड़ रहा था तो दूसरी तरफ फ्रांस और ब्रिटेन के बीच सद्भावना और मित्रता का वातावरण भी तैयार हो रहा था। इसमें कोई शक नहीं कि ब्रिटेन और फ्रांस सदियों से एक दूसरे के कट्टर दुश्मन थे। यहाँ तक की फसोदा-संकट को, जिसके कारण दोनों देशों के बीच युद्ध होना अवश्यम्भावी हो गया था, अभी अधिक दिन नहीं हुए थे। लेकिन अब इस घटना को दोनों देश भूल जाने को तैयार थे। यूरोपीय राष्ट्रों के बीच अगर इस समय ब्रिटेन का कोई स्वाभाविक मित्र हो सकता था तो वह फ्रांस था। फ्रांस की मित्रता प्राप्त करने के लिए ब्रिटेन अपनी पुरानी शत्रुता को भूल जाने को तैयार था। उधर जून, 1898 में देल्कासे फ्रांस का विदेश-मन्त्री बना। वह ब्रिटेन की दोस्ती का बहुत बड़ा समर्थक था। उसका विचार था कि अगर फ्रांस को अपने औपनिवेशिक साम्राज्य को बढ़ाना है और आल्सेस-लोरेन को वापस लौटाना है तो फ्रांस को ब्रिटेन के साथ अवश्य मित्रता कर लेनी चाहिए। इस मित्रता के मार्ग को प्रशस्त करने के लिए उसने अनेक कदम उठाये। उसने ब्रिटेन के साथ छोटे-छोटे औपनिवेशिक प्रश्नों को तय कर लिया। इसके बाद फसोदा से उसने फ्रांसीसी सेना को वापस बुला लिया। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि दोनों देशों का सम्बन्ध अच्छा करने के लिए देल्कासे से जो कुछ भी हो सकता था उसने किया।

टामस बर्कले का प्रयास—दोनों देशों का जनमत अभी तक किसी प्रकार के समझौता के विरुद्ध था; फिर भी दोनों देशों का मेल-मिलाप बढ़ रहा था। उस समय ब्रिटेन में आंग्ल-फ्रांसीसी मित्रता का सबसे बड़ा समर्थक सर टामस बर्कले नामक एक पूँजीपति था। उसके प्रयास से ब्रिटेन का एक व्यावसायिक मंडल पेरिस गया और उसके बाद फ्रांस का एक व्यावसायिक मंडल लंदन आया। व्यावसायिक मंडलों के भ्रमण के बाद दोनों देशों की संसद के सदस्यों की बारी आयी।

व्यक्तियों का प्रभाव—इसी बीच 1901 में महारानी विक्टोरिया की मृत्यु हो गयी और सप्तम एडवर्ड ब्रिटेन का सम्राट बना। एडवर्ड की व्यक्तिगत सहानुभूति फ्रांस के साथ थी। इसके कुछ ही दिनों बाद ब्रिटेन के विदेश-मन्त्रालय में भी परिवर्तन हुआ। 1902 में लार्ड लेन्सडाउन ब्रिटेन का विदेश-मंत्री नियुक्त हुआ।

लैन्सडाउन की माँ फ्रांसीसी महिला थी और वह स्वयं फ्रांस के साथ दोस्ती का बहुत बड़ा समर्थक था। भाग्यवश उस समय लंदन में फ्रांसीसी राजदूत कैम्बो बहुत ही योग्य व्यक्ति था और वह भी अपने विदेश मंत्री (देलकासे) की तरह आंग्ल-फ्रांसीसी समझौते का समर्थक था।

राज्याध्यक्षों की यात्रा सितम्बर 1903 में महाराजा सप्तम एडवर्ड फ्रांस की यात्रा पर पेरिस पहुँचा। वहाँ उसका भव्य स्वागत हुआ। महाराजा ने वहाँ जो भाषण दिया उसने जनता के हृदय को जीत लिया। "आपसे कहने की आवश्यकता नहीं है," सम्राट् एडवर्ड ने कहा, "कि पेरिस में एक बार फिर आने से मुझे कितनी प्रसन्नता हो रही है। जैसा कि आप जानते हैं, पेरिस में मैं कई बार आया हूँ और प्रत्येक बार मुझे पहले से अधिक प्रसन्नता हुई है। पेरिस के लिए मैं एक ऐसे प्रेम का अनुभव करता हूँ जो अनेक सुखों और अविस्मरणीय स्मृतियों के कारण और भी सुदृढ़ होता चला गया है। मुझे पूरा विश्वास है कि दोनों देशों के बीच विरोध के दिन अब सदा के लिए समाप्त हो गये हैं। मैं ऐसे अन्य दो देशों को नहीं जानता जिनकी समृद्धि एक दूसरे पर इतना अधिक निर्भर है। भूत में गलतफहमियों और मतभेद के कारण रहे होंगे, परन्तु यह प्रसन्नता की बात है कि अब वह समाप्त हो चुका है और भुलाया जा चुका है। मेरा सारा ध्यान इसी पर केन्द्रित रहता है कि दोनों देशों की मित्रता को कैसे बढ़ाया जाय।" पेरिस की जनता पर सम्राट् के इस भाषण का गहरा प्रभाव पड़ा। प्रोफेसर गूच लिखते हैं इस यात्रा ने दोनों देशों के उस गम्भीर विरोध का अन्त किया जिसका आरम्भ फसोदा के संकट से हुआ था।*

इसके तीन महीने बाद फ्रांस के राष्ट्रपति लूवे ने ब्रिटेन का भ्रमण किया। लन्दन में उसका भी अपूर्व स्वागत हुआ। प्रीतिभाज के अवसरों पर दोनों देशों के राज्याध्यक्षों ने ऐसे उद्गार व्यक्त किये जिससे अपूर्व मित्रता का वातावरण तैयार हो गया। जब राष्ट्रपति लूवे ब्रिटेन से विदा हुआ तो सम्राट् एडवर्ड ने इस प्रकार का एक सन्देश भेजा—"यह मेरी हार्दिक इच्छा है कि दोनों देशों के बीच का सहयोग चिरस्थायी बने।"

मध्यस्थता का समझौता— इसके बाद दोनों देशों के बीच तुरत ही एक मध्यस्थता सम्बन्धी समझौता हुआ। इसके द्वारा यह निश्चय किया गया कि "कानूनी दृष्टिकोण के सम्बन्ध में मतभेद, विशेषकर वे मतभेद जिनका सम्बन्ध मौजूदा समझौतों की व्याख्या की कठिनाइयों से है, हेग समझौते की 16 वीं धारा के अनुसार स्थायी अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के सामने प्रस्तुत किये जायेंगे।" ब्रिटेन और फ्रांस

* G. P. Gooch : *History of Modern Eurrope*, p. 224

में इस तरह के एक समझौते के सबसे बड़े समर्थक टामस बर्कले थे। समझौता हो जाने पर लन्दन स्थित फ्रांसीसी राजदूत पाल कैम्बो ने लिखा "यह समझौता दिन प्रतिदिन उठनेवाली अनेक कठिनाइयों को, जिनके परिणामों के सम्बन्ध में कोई पहले से अनुमान नहीं कर सकता था, हटा देगा।"

ब्रिटेन और फ्रांस में समझौता राष्ट्रपति लूबे के साथ फ्रांसीसी विदेश मंत्रि देल्कासे भी लंदन आया था। वहाँ उसने ब्रिटिश विदेश मंत्री लार्ड लैंसडाउन से बातचीत शुरू कर दी थी। दोनों विदेश-मंत्री मित्रता के इच्छुक थे। ब्रिटेन और फ्रांस के बीच औपनिवेशिक प्रश्नों को लेकर कटुता थी। दोनों विदेश-मंत्री इस कटुता का अन्त कर देना चाहते थे। बातचीत होने लगी। दोनों पक्ष एक-दूसरे की कठिनाइयों को दूर कर देना चाहते थे। जिन-जिन औपनिवेशिक प्रश्नों पर झगड़ा था, उनको शान्तिपूर्वक तय करने के लिए वे तैयार हो गये। 8 अप्रिल, 1904 के दिन दोनों देशों के बीच एक समझौता हो गया। इतिहास में यह आंग्ल-फ्रांसीसी समझौता के नाम से प्रसिद्ध है।

इस समझौते के अनुसार सर्वप्रथम मिस्र का मामला तय हुआ। मिस्र और सूडान को लेकर ब्रिटेन और फ्रांस बहुत दिनों से झगड़ते आ रहे थे। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम वर्षों में इन प्रश्नों को लेकर दोनों राज्यों में रणभेरी का निनाद सुनाई देने लगा था। इस समझौते के अनुसार फ्रांस ने यह स्वीकार किया कि मिस्र और सूडान पर ब्रिटेन का प्रभुत्व रहेगा और वह इस मामले में कोई हस्तक्षेप नहीं करेगा। ब्रिटेन को अधिकार होगा कि वह इस क्षेत्र में अपनी शक्ति और प्रभाव का विस्तार कर सके। इसके बदले में ब्रिटेन ने इस बात को मान लिया कि मोरक्को में फ्रांस का विशेष स्वार्थ है। अतः ब्रिटेन को इस बात से कोई एतराज नहीं होगा कि फ्रांस मोरक्को में अपने प्रभुत्व की वृद्धि करे। इसके अतिरिक्त दोनों देशों के बीच कुछ अन्य छोटे-छोटे औपनिवेशिक मतभेद भी तय कर लिये गये। न्यूफाउन्डलैंड, सेनिगेम्बिया, स्याम, मेडागासकर इत्यादि को लेकर इन दोनों देशों के बीच बहुत दिनों से झंझट चल आ रहा था। इस समझौते ने इन सभी झंझटों का अन्तिम रूप से निराकरण कर दिया। मोरक्को से सम्बन्धित इस सन्धि की शर्तों को गुप्त रखा गया। जब स्पेन को इस सन्धि का पता चला तो उसके शासक बिगड़ खड़े हुए। मोरक्को में स्पेन का भी स्वार्थ था और बिना उसकी राय से ब्रिटेन तथा फ्रांस के बीच मोरक्को पर सन्धि हो गयी थी। स्पेन ने इसका विरोध किया। देल्कासे ने स्पेन को आश्वासन दिया कि अगर कभी मोरक्को का बँटवारा हुआ तो उसमें स्पेन को भी उसका हिस्सा मिलेगा। इस बात की पुष्टि अक्टूबर, 1904 में एक सन्धि द्वारा कर दी गयी। स्पेन अब चुप हो गया।

समझौते का महत्त्व :—

रोजबरी के विचार :— आंग्ल-फ्रांसीसी समझौता ब्रिटेन और फ्रांस दोनों देशों की राजनीति में एक क्रांति था। दोनों देशों में बड़े उत्साह के साथ इसका स्वागत हुआ। सम्पूर्ण उन्नीसवीं सदी में दोनों देश एक-दूसरे के घोर विरोधी थे। अब वे परस्पर मित्रता के सूत्र में बँध गये। इस पर सबको खुशी थी। केवल लार्ड रोजबरी ही एक ऐसा व्यक्ति था जिसको इस समझौते पर आशंका थी। उसका कहना था—"मेरा दुखमय और दृढ़ विश्वास है कि यह समझौता शांति कायम रखने के बदले समस्याओं को और भी जटिल बना देगा।" लार्ड रोजबरी की भविष्यवाणी ठीक निकली।*

"औपनिवेशिक समझौता" : ब्रिटिश-विदेश मंत्री लार्ड लैंसडाउन की निगाहों में यह समझौता ब्रिटेन और फ्रांस के बीच केवल औपनिवेशिक झगड़ों को तय करने के सिवा कुछ और नहीं था।† लेकिन इस समझौते का दायरा केवल औपनिवेशिक झगड़ों तक ही सीमित नहीं था। इसमें कोई शक नहीं कि इस समझौता के द्वारा दोनों के औपनिवेशिक झगड़ों का अन्त हो गया लेकिन इस समझौता का महत्त्व इससे अधिक था। इसके द्वारा ब्रिटेन की उस विदेश नीति की नींव पड़ी जिसका अवलम्बन वह प्रथम विश्व-युद्ध तक करता रहा। ब्रिटेन सदा के लिए जर्मनी से विमुख हो गया और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में आंग्ल-फ्रांसीसी सहयोग की नींव पड़ गयी।

फ्रांस के लाभ :— आंग्ल-फ्रांसीसी समझौता से फ्रांस का आत्म-विश्वास बढ़ गया। लैंसडाउन के ख्याल में यह भले ही केवल औपनिवेशिक समझौता रहा हो; लेकिन देल्कासे को इस समझौता में भविष्य का सुनहला दृश्य दिखलाई पड़ रहा था। अभी तक केवल रूस ही फ्रांस का मित्र था। लेकिन रूसी मित्रता का क्या कहना! वह तो बराबर सुदूरपूर्व या बाल्कन प्रायद्वीप की राजनीति में व्यस्त रहता था। पर अब फ्रांस को किसी का परवाह नहीं रह गया। पूर्व में रूस उसका मित्र था और पश्चिम में ब्रिटेन। देल्कासे उस सुनहले दिन का स्वप्न देखने लगा जब आल्सेस-लोरेन फिर से फ्रांस को वापस मिल जायेंगे।£ उसकी दृष्टि में वह दिन अब दूर नहीं था जब 'मोरक्को पके हुए फल की तरह फ्रांस के बगीचे में स्वयं गिर जायेगा"।‡ लैंसडाउन इस तरह की कल्पना करने में असमर्थ था। वह

---

* Ketelbey : *History of Modern Times*, p. 513

† G. P. Gooch : *History of Modern Europe*, p. 227

£ Brandenburg : *From Bismarck to the Great War*, p. 152

‡ "You will see Morocco fall into our garden like a ripe fruit."

यही सोच रहा कि आंग्ल फ्रांसीसी समझौता केवल 'औपनिवेशिक समझौता' मात्र है।

इटली की स्थिति : आँग्ल-फ्रांसीसी समझौते ने इटली को भी त्रिगुट में अपने स्थान पर फिर ये विचार करने के लिए बाध्य किया। हम देखते आ रहे हैं कि बहुत दिनों से इटली की विदेश-नीति अवसरवादी होती जा रही थी। इटली बराबर इसी ताक में रहता था कि वह उसी गुट का साथ दे जिसका पलड़ा अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में भारी हो। जब जर्मनी का पलड़ा भारी था तो उसने उसका साथ दिया। लेकिन अब फ्रांस-ब्रिटेन का पलड़ा भारी था। क्या ऐसी स्थिति में इटली जर्मनी का साथ देगा? उसका स्वार्थ अब फ्रांस का साथ देने में सधता था। अतः, वह आंग्ल फ्रांसीसी गुट की तरफ झुकने लगा।

सुदूरपूर्व पर प्रभाव :—आंग्ल-फ्रांसीसी समझौता से सुदूरपूर्व की राजनीति के सुलझने की सम्भावना भी बढ़ गयी। इस समय जापान और रूस के बीच युद्ध अवश्यम्भावी हो गया था। ब्रिटेन जापान का मित्र था और फ्रांस रूस का। ऐसी सम्भावना हो गयी थी कि इस भावी युद्ध में ये चारो राष्ट्र फँस जायेंगे। लेकिन आंग्ल-फ्रांसीसी समझौते के फलस्वरूप यह सम्भावना मिट गयी। इतना ही नहीं, आंग्ल-फ्रांसीसी ने आंग्ल-रूसी समझौता के लिए भी रास्ता साफ कर दिया। एक तरफ फ्रांस और ब्रिटेन मित्र थे और दूसरी तरफ फ्रांस और रूस। ऐसी स्थिति में ब्रिटेन और रूस कब तक एक दूसरे के दुश्मन बने रहते। देल्कासे की अब केवल एक ही अभिलाषा रह गयी थी—ब्रिटेन, फ्रांस और रूस को मिलाकर एक दूसरे विरोधी त्रिगुट की स्थापना करना। आंग्ल-फ्रांसीसी समझौते के कारण यह काम अत्यन्त सुगम हो गया।

जर्मनी पर प्रभाव : केसर ने इस समझौते को फ्रांसीसी कूटनीति की सफलता कहा। बात बिल्कुल ठीक थी। रूस की मित्रता को गँवाये बिना उसे ब्रिटेन की मित्रता प्राप्त हो गयी और मोरक्को में उसका प्रभुत्व कायम हो गया। ब्रिटेन को भी इस समझौते से बहुत लाभ हुए क्योंकि अब फ्रांस का भय जाता रहा और इस कारण वह जर्मनी के प्रति और उग्र नीति का अवलम्बन कर सकता था। इस नवीन तथ्य को मानने से बूलो इन्कार कर सकता था यद्यपि आंग्ल फ्रांसीसी समझौता का होना उसकी नीति की महान् असफलता थी। इसके अतिरिक्त इस समझौते के कारण जर्मनी के त्रिगुट में फूट पड़ने की सम्भावना भी प्रतीत होने लगी। यह स्पष्ट था कि समझौता इटली की नीति को प्रभावित करेगा और वह जर्मनी से दूर हटने लगेगा। लेकिन बूलो को विश्वास था और इसी आधार पर उसने केसर को आश्वासन दिया कि आंग्ल फ्रांसीसी समझौता तुरत ही खत्म हो

जायगा। उसका अनुमान था कि जब रूस-जापान युद्ध को खत्म करने के लिए उन दोनों युद्धरत देशों के बीच सन्धि का वार्तालाप शुरू होगा तो उस समय फ्रांस रूस का और ब्रिटेन जापान का पक्ष लेगा और उस हालत में यह समझौता भंग हो जायगा। लेकिन जैसा कि प्रो० ब्रैन्डेनबर्ग लिखते हैं— यह एक दूसरा भ्रम था जो शीघ्र ही चूर-चूर हो गया। रूसी जापानी संधि वार्तालाप शुरू हुआ और आंग्ल-फ्रांसीसी समझौता ज्यों-का-त्यों कायम रहा। इस हालत में जर्मनी की स्थिति डावांडोल होने लगी। आंग्ल-फ्रांसीसी समझौता का यह एक महत्त्वपूर्ण परिणाम था।*

इस सब कारणों से विश्व-राजनीति के इतिहास में इस समझौते का बहुत बड़ा महत्त्व है। ब्रिटेन और फ्रांस सदियों से एक दूसरे के दुश्मन थे। लेकिन परिस्थिति ऐसी आ गयी कि इन देशों को इस शत्रुता को भूल जाना पड़ा। जर्मनी की बढ़ती हुई शक्ति से फ्रांस और ब्रिटेन दोनों ही समान रूप से चिन्तित थे। अतः उन्होंने आपस के झगड़ों को दूर कर समझौता कर लेना ही उचित समझा। जर्मनी के भय ने ब्रिटेन और फ्रांस की पुरानी शत्रुता को दूर कर उन्हें मित्र बना दिया। प्रोफेसर गूच ने भी लिखा है— 'जर्मन नौसेना के भय ने हमलोगों को फ्रांस के साथ जकड़ दिया।" इस स्थिति के लिए केवल एक ही व्यक्ति जिम्मेवार था और वह था जर्मनी का घमण्डी शासक कैसर विलियम द्वितीय। शक्ति और अधिकार के घमण्ड में वह इतना चूर हो गया था कि चैम्बरलेन के विविध प्रस्तावों को उसने सहज ही टुकरा दिया। अगर जर्मनी इस प्रस्तावों को मानकर ब्रिटेन के साथ किसी प्रकार का समझौता कर लिये रहता तो ब्रैन्डेनबर्ग जैसे जर्मन इतिहासकारों को आज पछताना नहीं पड़ता।†

---

* Brandenburg : *Form Bismarck to the Great War*, pp. 151-55

† "With the coming of the Anglo French Entente Germany's outwardly brilliant position between the two groups of great powers had passed away for ever ... The consummation of the entente in 1904 destroyed for ever the semblance of our position as arbiter. We suddenly began to realise our parlous plight."—*Brandenburg : From Bismarck to the Great War, p.* 152.

मोरक्को का संकट

(The Moroccan-Crisis)

मोरक्को की स्थिति और मेदरिद कन्वेनशन - अफ्रिका के एक प्रायः अज्ञात और महत्त्वहीन देश मोरक्को का एकाएक विश्व-राजनीति के रंगमंच पर लाकर खड़ा कर देना आंग्ल-फ्रांसीसी समझौता का तात्कालिक परिणाम हुआ। इसको लेकर जर्मनी और फ्रांस के बीच एक तीव्र संघर्ष प्रारम्भ हुआ जो आल्सेस लोरेन के झगड़े से भी अधिक भयानक हो गया।

मोरक्को उत्तरी अफ्रिका का एक छोटा-सा देश है। उन्नीसवीं सदी के अन्तिम वर्षों में यह एक सुल्तान के अधीन स्वतन्त्र देश था। मोरक्को पर यूरोप के प्रायः सभी देश आँखें गड़ाये हुए थे। उसका शासक बहुत कमजोर था और उसके राज्य में बराबर बलवा विद्रोह होते रहते थे। सुल्तान इतना शक्तिहीन था कि वह इन विद्रोहों से विदेशियों की रक्षा नहीं कर सकता था। मोरक्को में यूरोपीय बाशिन्दों की जान-माल सुरक्षित नहीं थी। वे बराबर खतरा की स्थिति में रहते थे। अतः 1880 में मेदरिद में यूरोपीय राष्ट्रों के साथ मोरक्को के सुल्तान की एक सन्धि हुई। इस सन्धि के अनुसार मोरक्को के सुल्तान ने वादा किया कि वह विदेशियों की हिफाजत का अच्छा प्रबन्ध करेगा तथा सन्धि के हस्ताक्षरकारी देशों को समान रूप से अपने देश में व्यापारिक सुविधाएँ देगा। मेदरिद-सन्धि का यह मतलब था कि मोरक्को में संसार के तेरह राष्ट्रों की, जिन्होंने इस संधि पर दस्तखत किये थे, दिलचस्पी है। इन तेरह राष्ट्रों में फ्रांस और स्पेन का मोरक्को में विशेष स्वार्थ माना गया था।* आंग्ल-फ्रांसीसी समझौते के अनुसार ब्रिटेन ने मोरक्को में फ्रांस को सहायता देने का वादा किया था। जब स्पेन को यह बात मालूम हुई तो उसके शासक बिगड़ खड़े हुए। इस पर देलकासे ने स्पेन को आश्वासन देकर उसे शान्त कर दिया। अब जर्मनी की बारी थी। जर्मनी 1880 की मेदरिद-सन्धि का एक हस्ताक्षरकारी था। आँग्ल-फ्रांसीसी समझौते के द्वारा मोरक्को के भविष्य का फैसला कर दिया गया; लेकिन इसमें जर्मनी से राय तक नहीं ली गयी। मोरक्को में जर्मनी का भी स्वार्थ था। क्या जर्मनी इतनी साधारण शक्ति हो चुका है कि फ्रांस और ब्रिटेन उसको अवहेलना की दृष्टि से देखें? इसलिए जर्मनी के शासक उससे काफी असन्तुष्ट थे। उनका कहना था कि

† P. T. Moon : *Imperialism and World Politics*, p. 189.

आज मोरक्को में जर्मनी की अवहेलना की गयी है तो कल दूसरी अन्तर्राष्ट्रीय समस्या में उसकी अवहेलना की जायगी। जर्मनी की दृष्टि में यह एक नये रोग का खतरनाक लक्षण था। लेकिन जर्मनी कर क्या सकता था ? मोरक्को के विषय में सरकारी तौर पर उसको खबर नहीं दी गयी थी।

फ्रांस का शान्तिपूर्ण प्रवेश :—उधर आंग्ल-फ्रांसीसी समझौता द्वारा ब्रिटेन का आशीर्वाद प्राप्त कर लेने के बाद फ्रांस ने मोरक्को में "सुधार का काम" नये उत्साह के साथ आरम्भ किया। इन सुधारों में सहायता पहुँचाने के लिए फ्रांस ने मोरक्को को जून 1904 में बीस लाख फ्रैंक के कर्ज प्रदान किये। इसी समय मोरक्को के आदिवासी एक अमरीकी नागरिक पर्डि कैरिस को अपहरण करके कैद कर लिया। इसने यह बात स्पष्ट कर दिया कि यूरोपीयों के जान माल की रक्षा के लिए मोरक्को में एक सशक्त शासन की कितनी आवश्यकता है। और इस घटना के बाद मोरक्को में फ्रांस के "शांतिपूर्ण प्रवेश" की मार्ग प्रशस्त हो गया। वर्ष के अन्त में फ्रांस की सरकार ने मोरक्को के सुल्तान के पास सुधार की एक वृहत् योजना भेज दी। मोरक्को की सैनिक तथा पुलिस व्यवस्था का पुनर्गठन, सड़कों और तारों का निर्माण, एक बैंक की स्थापना आदि अनेक कार्य वृहत पैमाने पर शुरू हुए। इस प्रकार आंग्ल-फ्रांसीसी समझौते के बाद ब्रिटेन के विरोध से निश्चिन्त होकर फ्रांस मोरक्को को अपने पूर्ण अधिकार में लाने का काम शुरू कर चुका था। ऐसी हालत में जर्मनी के शासक बड़े पशोपेश में पड़े हुए थे। परिस्थिति गम्भीर हो रही थी। इसको सम्हालने ने लिए उन्हे क्या करना चाहिए और कैसे करना चाहिए ? जर्मनी के शासकों के सामने अब यही प्रश्न था।

जर्मनी की नीति :—प्रारम्भ में बूलो ने चुपचाप रहना ही ठीक समझा। बर्लिन में इस तरह की उदासीनता दिखलायी जाने लगी जिसका अर्थ होता था कि जर्मनी आंग्ल-फ्रांसीसी समझौते के विषय में कुछ मालूम ही नहीं है। बूलो को जल्दी-बाजी नहीं थी। उसको पूर्ण विश्वास था कि अधिक दिनों तक जर्मनी की अवहेलना नहीं की जा सकती है। देल्कासे को मोरक्को सम्बन्धी समझौते के विषय में जर्मनी को बतलाना ही होगा। लेकिन एक वर्ष गुजर गया और सरकारी तौर पर जर्मनी को कोई सूचना नहीं दी गयी। उधर 'सुधार' के नाम पर फ्रांस मोरक्को के आंतरिक मामलों में हस्तक्षेप कर रहा था। फ्रांसीसी पूँजीपति बड़ी शीघ्रता से मोरक्को में सड़क, तार, बन्दरगाह इत्यादि बना रहे थे। मोरक्को में फ्रांसीसी बैंक खुल रहे थे। मोरक्को की पुलिस और सेना को फ्रांसीसी अफसर शिक्षा दे रहे थे। ऐसा मालूम होता था कि कुछ ही दिनों में मोरक्को अफ्रिका का दूसरा ट्यूनिस हो जायेगा। स्थिति गम्भीर थी। जर्मनी अब अधिक सहने को तैयार नहीं था।

उसका धैर्य जाता रहा। देर करने से समस्या और भी विकट हो जायेगी। अतः जर्मनी के शासकों ने यह निर्णय लिया कि मोरक्को के सम्बन्ध में अब कुछ करना चाहिए। मोरक्को में फ्रांस के 'बलात्कार' को रोकने के लिए उन्होंने दो मार्गों का अवलम्बन करने का निश्चय किया। 1904 के समझौते के बल पर ही फ्रांस मोरक्को में उछल कूद मचा रहा था। कूटनीतिक चाल चलकर इस समझौते को ही तोड़ दिया जाय और तब फ्रांस ठंढा पड़ जायेगा। अगर कूटनीतिक चाल से यह काम सम्भव नहीं हो सका तो धमकी का सहारा लेकर फ्रांस को बतला दिया जाय कि जर्मनी से शत्रुता मोल लेना खतरे से खाली नहीं है। अतः जर्मनी ने कूटनीति और धमकी दोनों का सहारा लेकर मोरक्को की समस्या को हल करने का निश्चय किया। लेकिन, जैसा कि मि० ब्रैन्डेन्बर्ग का कहना है—"अफसोस तो इस बात का है कि दुर्भाग्यवश जर्मनी के शासकों ने दोनों उपायों का अवलम्बन एक ही साथ करना शुरू किया। इसका नतीजा यह हुआ कि आंग्ल-फ्रांसीसी समझौता टूटने के बदले और भी मजबूत हो गया।*

यूरोपीय महागुट की योजना :—जर्मनी के सामने आंग्ल-फ्रांसीसी समझौते को तोड़ने का प्रश्न था। कैसर ने इसके लिए कूटनीतिक रास्ता ढूँढ़ निकाला। उसकी निगाहों में ब्रिटेन ही सबसे बड़ा अपराधी था। अगर ब्रिटेन फ्रांस का साथ नहीं देता तो फ्रांस मोरक्को में कुछ नहीं कर सकता था। अतः कैसर ने सोचा कि यूरोप के कुछ महान् राष्ट्रों को मिलाकर ब्रिटेन के विरूद्ध एक महागुट कायम किया जाय जिसके सदस्य जर्मनी, आस्ट्रिया, रूस तथा फ्रांस हों। इस काम को पूरा करने के लिए सबसे पहले रूस को मिलाना आवश्यक होगा। कैसर ने रूस की ब्रिटिश-विरोधी भावनाओं को उभाड़ना शुरू किया। उसने रूस को यह समझाना शुरू किया कि ब्रिटेन उसका सबसे बड़ा शत्रु है। रूस के साम्राज्यवादी प्रयासों को वही देश वर्षों से निष्फल बनाता आ रहा है। इतने से भी जब ब्रिटेन सन्तुष्ट नहीं हुआ तो सुदूर पूर्व में उसने रूस के शत्रु जापान के साथ मित्रता कर ली है। इस तरह के तर्क से कैसर जार को अपने पक्ष में कर लेने का प्रयास कर रहा था। इसके अतिरिक्त कैसर का एक और भी स्वप्न था। वह सोच रहा था कि अगर वह रूस को अपने पक्ष में कर लेता है तो रूस का मित्र फ्रांस भी उसके जाल में फँस जायेगा। इस प्रकार कैसर ब्रिटेन के खिलाफ एक यूरोपीय महागुट के निर्माण का स्वप्न देख रहा था।

ब्जरको सम्मेलन :—24 जुलाई, 1905 को ब्जरको नामक स्थान में कैसर और जार की मुलाकात हुई। दोनों सम्राटों ने एक संधि करने का निश्चय किया। जार ने सन्धिपत्र पर हस्ताक्षर भी कर दिया। कैसर खुशी से झूम उठा।

* Brandenburg : From Bismarck to the Great War, p. 233.

यूरोपीय महागुट का स्वप्न पूरा होने ही वाला था। लेकिन, कुछ दिनों के बाद कैसर की सारी आशाओं पर पानी फिर गया। जब रूस के विदेश-मंत्री को इस सन्धि का पता लगा तो उसने जार को यह सूचित किया कि ब्जरको की सन्धि की शर्त द्विगुट की शर्तों के विरुद्ध है। रूस दोनों में से किसी एक ही सन्धि का सदस्य रह सकता है। इस पर जार को बहुत अफसोस हुआ। इसको प्रकट करते हुये उसने कैसर को एक पत्र लिखा, जिसमें उसने ब्जरको-सन्धि को मानने में अपनी असमर्थता प्रगट की। कैसर पर वज्रपात-सा हो गया। उसने जार से अनुनय-विनय की; लेकिन उसका कोई फल नहीं हुआ। ब्रिटेन के विरुद्ध कैसर का महागुट का स्वप्न सदा के लिए समाप्त हो गया।*

वूलो की धमकी—जिस समय कैसर यूरोपीय महागुट के निर्माण में लगा हुआ था उस समय उसका चान्सलर वूलो फ्रांस को डराने धमकाने का कार्य भी शुरू कर चुका था। वूलो की दृष्टि में फ्रांसीसी विदेश-मंत्री देल्कासे ही सभी संकटों का जड़ था। देल्कासे यूरोपीय शतरंज की बिसात पर एक ऐसा घृणित मोहरा था जिसका नाश करना वूलो अपना कर्त्तव्य समझता था। उसको देल्कासे की धृष्टता पर गुस्सा आ रहा था। जर्मन-संसद् में बोलते हुए उसने कहा—"कोई कारण नहीं कि हमलोग इस तरह की कल्पना कर लें कि यह समझौता [आंग्ल-फ्रांसीसी] हमलोगों के खिलाफ हुआ है। इस समझौते से जर्मनी की सुरक्षा को कोई भय नहीं है। लेकिन, हमलोगों को मोरक्को में अपने हित की रक्षा करनी है और किसी भी मूल्य पर हम इसकी रक्षा करेंगे।" 1880 के मेदरिद सन्धि के अनुसार मोरक्को में तेरह राज्यों का स्वार्थ था। केवल एक देश अन्य देशों के स्वार्थों का अपहरण नहीं कर सकता था। जर्मनी मोरक्को में 'खुले दरवाजे' (open door policy) की नीति का समर्थक था। उसकी माँग न्यायसंगत थी। जर्मनी का विश्वास था कि यूरोप के अन्य देश इस समस्या पर अवश्य ही उसका साथ देंगे।

टैंजीयर का प्रदर्शन— इस समय वैरन फान हाल्स्टाइन जर्मनी का विदेश-मंत्री था। वह बड़ा नीतिकुशल एवं चालाक राजनीतिज्ञ था। उसके अनुरोध पर वूलो ने कैसर को मोरक्को-यात्रा करने की राय दी। वूलो और हाल्स्टाइन का विचार था कि कैसर की मोरक्को-यात्रा से फ्रांस भयभीत हो जायेगा और मोरक्को-समस्या का कोई सन्तोषजनक समाधान निकल आयगा। मार्च, 1905 में कैसर मोरक्को गया। वहाँ उसने मोरक्को की प्रादेशिक अखण्डता और सुल्तान की स्वतन्त्रता तथा प्रभुसत्ता को बनाये रखने की घोषणा की। अपने एक भाषण के सिलसिले में उसने इस बात को स्पष्ट कर दिया कि "मुझे इस बात का पूरा भरोसा

* N. Mansergh : *The Coming of the First World, War*, p. *106*.

है कि सुल्तान के शासन में न केवल मोरक्को की स्वाधीनता ही अक्षुण्ण रहेगी, बल्कि सभी देशों को वहाँ व्यापार आदि का भी अवसर मिलेगा।" मोरक्को किसी एक देश के प्रभाव में नहीं रहेगा।

कैसर का यह भाषण उत्तेजनापूर्ण नहीं था; लेकिन जिस नाटकीय ढंग से यह घोषणा की गयी थी यह निःसन्देह ही अनुचित था। हाल तक जर्मनी मोरक्को में कोई विशेष रुचि का प्रदर्शन नहीं कर रहा था। पर, एकाएक मोरक्को में उसकी अभिरुचि बढ़ गयी। लोगों को ऐसा लगा कि जर्मनी मोरक्को को बहाना बनाकर फ्रांस पर युद्ध घोषित करना चाहता है। कैसर की मोरक्को-यात्रा से सुल्तान की हिम्मत भी बढ़ने लगी। वह फ्रांस के 'सुधार-योजनाओं' को नामंजूर करने लगा और जर्मनी के उसकाने पर मोरक्को-समस्या का निपटारा करने के लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन की मांग करने लगा। इस मांग में जर्मनी से उसको पूर्ण समर्थन मिला।

देल्कासे की नीति — टैंजीयर के प्रदर्शन की तीव्र प्रतिक्रिया फ्रांस और ब्रिटेन दोनों देशों में हुई। अपनी कार्यवाही के सम्बन्ध में जर्मनी का कहना था कि यदि वह निष्क्रिय बैठा रहता तो उसे एक दिन अचानक ही इस बात का पता लगता कि मोरक्को के द्वारा उसके व्यापार के लिए सदा के लिए बन्द कर दिये गये हैं। वस्तुतः जर्मनी का कहना कोई गलत नहीं था। फ्रांस की यह एक महान् गलती थी कि मोरक्को से संबंधित जर्मनी की स्वीकृति उसने पहले नहीं खरीद ली थी। उसने इटली, स्पेन और ब्रिटेन की सद्भावना को तो खरीद लिया था लेकिन जैसा कि रेने मिले लिखता है, "यह एक अन्धापन था कि सरकार ने अपने पड़ोसियों में से केवल उस एक (जर्मनी) को छोड़कर जिससे डरने का उसके पास गम्भीर कारण था और सभी के सम्बन्ध में पूरी सावधानी से काम लिया था।"* इस हालत में जर्मनी की प्रतिक्रिया और उसका हस्तक्षेप किसी भी दृष्टिकोण से अनुचित नहीं कहा जा सकता था।

लेकिन घोर साम्राज्यवादी तथा कट्टर जर्मनी विरोधी देल्कासे जर्मनी के इस "नग्न हस्तक्षेप" से बहुत बिगड़ गया। उसने जर्मन-नीति और अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन की मांग का घोर विरोध किया। इस समय वह सब कुछ करने को तैयार था। वह जर्मनी का कट्टर दुश्मन था और मोरक्को को लेकर यदि इन दोनों देशों में युद्ध भी हो जाए तो वह तैयार था। वह "अभी या कभी नहीं" पर तुला हुआ था और उसने साफ-साफ कह दिया कि मोरक्को के विषय पर वह कभी अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन के लिए राजी नहीं होगा।

---

* P. T. Moon : *Imperialism and World Politics*. p. 202

संकट चरम सीमा पर—लेकिन वूलो एक अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन के बुलाये जाने की मांग पर अडिग रहा। उसका कहना था कि सम्मेलन ही इस सारी समस्या का सबसे अच्छा समाधान है, क्योंकि जर्मनी का उद्देश्य अलग से समझौता करके कोई विशेष अधिकार प्राप्त कर लेना नहीं है और उसके अपने स्वार्थ दूसरे बड़े राष्ट्रों के स्वार्थों के साथ मिले हुए हैं। लेकिन ब्रिटेन और रूस का समर्थन पाकर देल्कासे अत्यन्त दृढ़ता के साथ सम्मेलन के विचार का विरोध करता रहा। बूलॉजे की घटना के बाद से फ्रांस और जर्मनी के संबंधों में सबसे बड़ी संकट की घड़ी आ गयी। फ्रांस का वातावरण जर्मनी के द्वारा निकट भविष्य में ही युद्ध की चुनौती दिये जाने की अफवाहों और सेना में तैयारी की कमी की बातचीत से गुँज उठा। लेकिन देल्कासे को इसकी कोई परवाह नहीं थी। इसी समय जर्मनी का राजकुमार हेंकेनवान डोनर्समार्क ने पेरिस की यात्रा की और फ्रांसीसी प्रधान मन्त्री से मुलाकात करके अपनी यात्रा का उद्देश्य उसे समझाया। "ऐसा जान पड़ता है कि आनेवाली उन घटनाओं से आप परिचित नहीं हैं जिसके लिए भीतर ही भीतर तैयारी चल रही है और मैंने सीमा को इसलिए पार किया है कि आपको उनके संबंध में जानकारी दे सकू। जर्मनी के सम्राट् और उसकी जनता सद्भावनापूर्ण सम्बन्धों की स्थापना के उद्देश्य से किये जाने वाले अपने प्रयत्नों के ठुकरा दिये जाने और जर्मनी को अकेला डाल देने की नीति का पालन किये जाने से अत्यधिक रुष्ट है। यह फ्रांस की नीति है या केवल देल्कासे की कल्पना? यदि आप सोचते हैं कि आपके विदेश मंत्री ने आपके देश को एक बहुत बड़े खतरे के मार्ग की ओर प्रवृत किया है तो आप उससे अपना सम्बन्ध विच्छिन्न करके तथा अपनी विदेश नीति को एक नयी दिशा में मोड़कर अपने दृष्टिकोण को स्पष्ट कीजिये। सम्राट् का विचार युद्ध करने को नहीं है, किन्तु युद्ध में यदि आप पराजित हुए तो आपका सर्वनाश निश्चित है।"

स्पष्ट है कि राजकुमार द्वारा व्यक्त यह विचार एक चेतावनी थी जो फ्रांस के प्रधान मंत्री को समय पर मिल गयी। देल्कासे को छोड़कर मंत्रिमंडल के अन्य सदस्य पहले से ही उसकी नीति से क्षुब्ध थे। फ्रांस के समक्ष अब कोई तीसरा विकल्प नहीं था। या तो वह देल्कासे की नीति के अनुसार जर्मनी से लोहा लेने के लिए तैयार हो जाय अथवा मंत्रिमंडल से देल्कासे को हटाकर उसकी उग्र नीति का परित्याग कर दिया जाय। जर्मनी की मांग भी यही थी।

देल्कासे का पतन—इस गंभीर अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति पर विचार करने के लिए 6 जून 1905 को फ्रांसीसी मंत्रिमंडल की एक बैठक हुई। विदेश मन्त्री

G. P Gooch : *History of Modern Europe*, p. 235

के सभी सहयोगी उसके विरोध में थे। पर विदेश मन्त्री ने यह स्पष्ट कर दिया कि यदि फ्रांस ने सम्मेलन में भाग लेना स्वीकार कर लिया तो यह उसके लिए बहुत अपमानजनक होगा। लेकिन प्रधान मन्त्री ने अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन की बात मान लेने पर अपना मत प्रकट किया और उसके सहयोगियों ने इसका समर्थन किया। तब देल्कासे ने यह चेतावनी देते हुए कि "उनकी दुर्बलता जर्मनी को प्रोत्साहन देगी" मन्त्रिमंडल की बैठक से उठकर चला गया और उसके बाद अपना त्यागपत्र दे दिया। जर्मनी की दृढ़ नीति सफल होती हुई प्रतीत होने लगी।

फ्रांस द्वारा सम्मेलन के लिए राजी होने के कारण - यह आश्चर्य की बात है कि फ्रांस अपने घृणित दुश्मन के सामने इस हालत में झुकने के लिए तैयार हो गया। जर्मनी ने चुनौती दी और फ्रांस डरकर पीछे हट गया। इसके कुछ महत्त्वपूर्ण कारण थे। सर्वप्रथम, फ्रांस का एकमात्र मित्र राज्य रूस अभी तरह-तरह की मुसीबतों से घिरा था। हाल ही में रूस को जापान के साथ युद्ध में भीषण पराजय हुई थी और इस समय देश में क्रांति तथा विद्रोहों का तांता लगा हुआ था ऐसी हालत में फ्रांस युद्ध का सहारा नहीं ले सकता था।*

फ्रांस द्वारा सम्मेलन के लिए राजी हो जाने का एक दूसरा कारण था अमरीकी राष्ट्रपति थियोडोर रूजवेल्ट का हस्तक्षेप। जर्मनी की सरकार जिस समय दलीलों और धमकियों द्वारा फ्रांस पर दवाव डाल रही थी उस समय कैसर ने रूजवेल्ट से प्रार्थना की कि सम्मेलन बुलाये जाने के प्रयत्नों में वह उसका साथ दे और फ्रांस तथा ब्रिटेन पर अपना प्रभाव डाले ताकि स्थिति और नहीं बिगड़े। पर स्थिति बिगड़ती ही गयी। रूजवेल्ट लिखता है—"युद्ध बहुत समीप दिखाई दे रहा था। इस कारण मैंने मामले को अपने हाथ में ले लिया और स्थिति को अस्थायी रूप से सुलझा दिया।" उसने फ्रांस को युद्ध की भंयकरता के संबंध में सचेत किया और उसे समझाया कि सम्मेलन फ्रांस के हितों पर किसी अन्यायपूर्ण अतिक्रमण के लिए स्वीकृति कदापि नहीं देगा और "यदि आवश्यक हुआ तो मैं जर्मनी के किसी ऐसे दृष्टिकोण का जो मुझे अनुचित दिखाई देगा कड़ा विरोध करूँगा। फ्रॉस ने २३ जून को मुझे सूचना दी कि वह मेरी बात को मानने के लिए तैयार है।" इसी प्रकार राष्ट्रपति से जर्मनी पर दवाव डाला कि वह देल्कासे के पतन को अपनी जीत न बतावे और सम्मेलन में अनमनीय रूख नहीं अपनाने का वादा करे। जर्मनी इस पर राजी हो गया और राष्ट्रपति को अपनी मध्यस्थता-कार्य में पूरी सफलता मिली।

अलजिसरास सम्मेलन—मोरक्को की समस्या पर विचार करने के लिए जनवरी 1906 में अलजिसरास में एक अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन हुआ। बारह

* P. T. Moon : *Imperialism and World Politics*, p. 203

राज्यों के प्रतिनिधि इस सम्मेलन में सम्मिलित हुए थे। 7 'अप्रिल, 1906 को एक संधि पर हस्ताक्षर हुआ जिसके आधार पर निम्नलिखित मुख्य निर्णय किये गए—

(१) मोरक्को की राजनीतिक स्वतन्त्रता तथा प्रादेशिक अखण्डता को अक्षुण्ण रखा जाय।

(२) मोरक्को में 'खुले दरवाजे की नीति' का अवलम्बन किया जाय।

(३) फ्रांस और स्पेन के सिपाहियों को मिलाकर मोरक्को में एक स्विस-इन्सपेक्टर-जनरल के अधीन एक अन्तर्राष्ट्रीय पुलिस का संगठन किया जाय, जिसका काम मोरक्को में शान्ति तथा व्यवस्था कायम रखना होगा।

(४) मोरक्को की आर्थिक व्यवस्था के लिए ब्रिटेन,फ्रांस, जर्मनी तथा स्पेन को मिलाकर एक संयुक्त स्टेट-बैंक की स्थापना की जाय।

अलजिसरास सम्मेलन का महत्त्व

बूलो का सन्तोष - अलजिमरास-सम्मेलन को प्रो० गूच ने "फ्रांस और जर्मनी के बीच बड़ी देर तक चलने वाला एक मल्ल-युद्ध" (prolonged dual) तथा पी० टी० मून ने "साम्राज्यवाद पर अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण का नया प्रयोग" (experiment in international control of imperialism) कहा है। लेकिन सम्मेलन पर बूलो के अपने ही विचार थे। सम्मेलन की समाप्ति पर उसने कहा कि इस सम्मेलन में न किसी की हार हुई और न किसी की जीत।* हार-जीत का फैसला किये विना ही यह सम्मेलन समाप्त हो गया है। लेकिन, बूलो खुशी से फूला न समा रहा था। जब कैसर ने खुशी में उछलकर बूलो को इस आशय का पत्र लिखा कि 'फ्रांस ने हमलोगों की चुनौती को स्वीकार करने से इन्कार कर दिया है", तो वह गर्व से सिर उठाकर बोल उठा—"हमने फ्रांस के लिए केवल मोरक्को का दरवाजा ही नहीं बन्द कर दिया है, बल्कि उसके गले में एक घंटी भी लटका दी है। अब फ्रांस जब भी मोरक्को पर अपना आधिपत्य जमाने का प्रयास करेगा तो यह घंटी बज उठेगी और सारी दुनिया सचेत हो जायेगी।" लेकिन जर्मनी की यह विजय वास्तव में कोई विजय नहीं थी। प्रोफेसर फे के शब्दों में यह विजय उस कोटि की विजय थी जो पराजय से भी बुरी होती है।† कहने को तो मोरक्को पर सबका समान अधिकार रहा; लेकिन वास्तव में फ्रांस का प्रभाव प्रबल हो गया। मोरक्को की शान्ति, व्यवस्था तथा आर्थिक जीवन पर फ्रांस का प्रभुत्व धीरे-धीरे कायम हो गया। यद्यपि नाम को अब भी मोरक्को की

* "Here there are neither victors nor vanquished."

† Fay : *Origins of the World War*, p. *196*

स्वतन्त्रता कायम रही, पर अपनी पुलिस द्वारा फ्रांस और स्पेन को वहाँ मनमानी करने का अवसर मिल गया।

कूटनीतिक वर्तन विन्दु—अलजिसरास-सम्मेलन का महत्त्व यहीं तक सीमित नहीं रहा। कूटनीतिक दृष्टिकोण से यह सम्मेलन एक युगान्तरकारी घटना था। सम्मेलन में ब्रिटेन, रूस, स्पेन, संयुक्त राज्य अमेरिका और त्रिगुट का सदस्य इटली, सबों ने फ्रांस का साथ दिया।* केवल आस्ट्रिया ही एक ऐसा राज्य था, जिसने जर्मनी का पक्ष लिया। अलजिसरास-सम्मेलन के बाद जर्मनी अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में अपने को अकेला महसूस करने लगा। केवल आस्ट्रिया ही एक ऐसा देश था जिसने उसका साथ दिया। अतः जर्मनी में आस्ट्रिया के लिए विशेष सहानुभूति उत्पन्न होने लगी। कैसर ने आस्ट्रिया के विदेश मंत्री को अलजिसरास में पूर्ण सहयोग के लिए धन्यवाद दिया और उसमें वह भी जोड़ दिया कि इस प्रकार के किसी अन्य अवसर पर वह उसे इसी प्रकार की सेवा की आशा कर सकता है। इसके बाद जर्मनी किसी भी हालत में आस्ट्रिया को छोड़ने के लिए तैयार नहीं था और उसकी सभी आकांक्षाओं की पूर्ति में अधिक से अधिक सहयोग देने को तैयार हो गया। परिणाम यह हुआ कि जर्मनी अस्ट्रिया को प्रत्येक अन्तर्राष्ट्रीय विवाद में 'ब्लैंक चेक' देने लगा। इससे आस्ट्रिया की आक्रमनकारी तथा साम्राज्यवादी प्रवृति को काफी प्रोत्साहन मिला। जमनी ने 'ब्लैंक चेक' की बदौलत वह बाल्कन प्रायद्वीप में उग्र नीति का अवलम्बन करने लगा। फलस्वरूप, उस क्षेत्र में युद्ध के काले बादल मंडराने लगे।†

इटली की अभक्ति—अलजिसरास-सम्मेलन में इटली को सर्वप्रथम त्रिगुट के प्रति अपनी अभक्ति प्रदर्शित करने का मौका मिला। 1882 में इटली त्रिगुट में सम्मिलित हुआ था। लेकिन वह कभी भी सच्चे अर्थ में इस गुट का वफादार सदस्य नहीं रहा। 1902 में तो उसने सरकारी तौर पर फ्रांस के साथ 'मेल-मिलाप' कर लिया था। अलजिसरास सम्मेलन पहले-पहल इस मेल-मिलाप को व्यक्त करने का मौका मिला और उसने दिल खोलकर फ्रांस का साथ दिया। संयुक्त राज्य अमेरिका ने भी, जो उस समय विश्व-राजनीति में पृथकता की नीति का अवलम्बन कर रहा था, फ्रांस का ही साथ दिया। वास्तव में अलजिसरास सम्मेलन में ठीक उसी प्रकार राष्ट्रों का गुट बन गया जिस प्रकार का गुट आठ वर्ष बाद प्रथम विश्व-युद्ध में बना। अलजिसरास-सम्मेलन की गुटबन्दी प्रथम विश्व-युद्ध की गुटबंदी को सूचित कर रही थी।‡

* Gooch : *History of Modern Europe*, p 243.
† N. Mansergh : *The Coming of the First World War*, p. 99.
‡ Swain : *Twentieth Century Europe*, p. 82.

आंग्ल फ्रांसीसी समझौते की अग्नि-परीक्षा—अलजिसरास-सम्मेलन का सबसे बड़ा महत्त्व इस बात में है कि यह 1904 के आंग्ल फ्रांसीसी समझौते की अग्नि-परीक्षा थी। सम्मेलन के प्रारम्भ होने के पूर्व सम्राट् एडवर्ड ने राजदूत केम्बों से कहा था —"प्रत्येक विन्दु पर आप हमें बता दीजिए कि आप क्या चाहते हैं और हम बेशर्त आपका समर्थन करेंगे।" जर्मनी की नीति ने आंग्ल-फ्रांसीसी * समझौता को नष्ट करने के बदले और मजबूत बना दिया, दरार पैदा करने के बदले इसकी नींव को और ठोस बना दिया। तत्कालीन ब्रिटिश-विदेश-मन्त्री सर ऐडवर्ड ग्रे का कहना था—"हमारी दोस्ती के कारण ही फ्रांसीसी अपमानित हुए हैं।" जर्मनी ने सम्मेलन के पहले और फिर बाद में जिस रूख को अपनाया उसमें सर ग्रे की धमकी दिखलाई पड़ रही थी। अतः ब्रिटेन के शासकों ने आंग्ल-फ्रांसीसी एकता को सुदृढ़ बनाने का संकल्प किया। इसके लिए पहला आवश्यक काम यह था कि ब्रिटेन रूस के साथ अपनी परम्परागत शत्रुता को भूलकर मेल कर ले। **इस प्रकार जर्मनी की नीति ने 1907 की आंग्ल-रूसी सन्धि के मार्ग को प्रशस्त कर दिया।** आंग्ल-फ्रांसीसी एकता को सुदृढ़ बनाने का दूसरा उपाय यह था कि दोनों देश आपस में मिलकर अपनी सैनिक योजना को ठीक करें। जर्मनी की नीति ने ब्रिटेन को बाध्य कर दिया कि वह फ्रांस के साथ सैनिक 'वार्तालाप' प्रारम्भ कर दे।* फ्रांसीसी सैनिक अफसर लन्दन आये और दोनों देशों के बीच संयुक्त सैनिक योजना तैयार करने की बात होने लगी। इस बातचीत ने यद्यपि सन्धि का रूप नहीं लिया; लेकिन यह इतनी आगे बढ़ गयी कि प्रथम विश्व-युद्ध छिड़ने के अवसर पर ब्रिटेन के लिए मुश्किल हो गया कि वह फ्रांस को सैनिक सहायता देने से इन्कार कर दे। जर्मनी के लिए यह सांघातिक सिद्ध हुआ। उसी की गलती के कारण आंग्ल-फ्रांसीसी समझौता अलजिसरास सम्मेलन की अग्नि-परीक्षा से उत्तीर्ण होकर एक नये युग में प्रवेश कर गया था।† जैसा कि प्रोफेसर गूच लिखते हैं - "यह सम्मेलन वास्तव में कुश्तियों के दौरों के बीच विश्राम के लिए थोड़ा-सा समय प्रदान करने के अतिरिक्त और कुछ न कर सका। उसका स्थायी परिणाम यह हुआ कि ब्रिटेन और फ्रांस के बीच के बन्धन, जिन्हें ढीला करने के लिए जर्मनी ने प्रयास किया था, और अधिक दृढ़ हो गया।"

---

* Fay : *Origins of the World War*, p. 192.

†(1) "If one wished to define the change that took place one would say that at Algeciras the Entente passed from a static to dynamic state. Its force increased from the speed thereby acquired."
— *M. Tardieu.*

(2) The Entente Cordiale has stood its diplomatic baptism of fire and emerged strenghthened—*Count Metternich*.

H. Nicolson : *A Study of Old Diplomacy*, p. 199.

प्रतिशोध की भावना में तीव्रता—अलजिसरास-सम्मेलन के कुछ भयानक परिणाम भी हुए।* सम्मेलन के बाद जर्मनी और फ्रांस के पारस्परिक विद्वेष में कोई कमी नहीं आयी। जर्मनी की जिद्द से बाध्य होकर देल्कासे को पदत्याग करना पड़ा था। मि० पोअन्कारे के शब्दों में यह घोर जुर्म और महान् पाप था, जिसके लिए जर्मनी की सैनिकवादी कूटनीति जिम्मेवार थी। इससे बढ़कर किसी देश का राष्ट्रीय अपमान और क्या हो सकता है कि किसी दूसरे देश की माँग पर उस देश के विदेश मन्त्री को पदत्याग करना पड़े। फ्रांस के कुछ राजनीतिज्ञ अब इस बात के लिए तैयार थे कि जर्मनी के साथ अगर युद्ध करना पड़े तो वह किया जाय; लेकिन फिर से इस तरह का राष्ट्रीय अपमान नहीं सहा जाय। कुछ दिनों के बाद देल्कासे फ्रांसीसी मंत्रिमडल में वापस आ गया। वह 1905 की घटना को भूला नहीं था और जर्मनी से बदला लेने की उसकी भावना और प्रबल हो गयी थी। इसके लिए उसने अपनी सम्पूर्ण शक्ति और साधन लगा दिये। यूरोपीय शान्ति के लिए यह बहुत ही अशुभ था।

जर्मनी के घेरेबन्दी का प्रारम्भ—1906 से जर्मनी के शासक बराबर इस बात की चिन्ता व्यक्त करने लगे कि ब्रिटेन, फ्रांस और रूस मिलकर उसकी चारों ओर से घेर लेने की नीति (policy of encirclement) अपना रहे हैं। घेराबन्दी की यह प्रक्रिया भी अलजिसरास सम्मेलन फलस्वरूप शुरू हुई। कुछ ही दिनों में जर्मनी की सैनिकवादी कूटनीति के कारण ब्रिटेन और रूस में भी एक समझौता सम्पन्न हो गया और जर्मनी दो तरफ से अपने शत्रुओं से घिर गया। इसी कारण रेवेन्टलो ने अलजिसरास सम्मेलन को जर्मनी की पराजय बतलाया था। वस्तुतः अलजिसरास में ब्लो के पास एक अच्छी बाजी आयी थी लेकिन बुरे ढंग से खेलकर उसने एक स्वर्ण अवसर खो दिया।

---

* Brandenburg : *From Bismarck to the Great War*, p, 185.

आंग्ल रूसी सन्धि

(Anglo-Russian Convention)

विषय-प्रवेश :—1907 की आंग्ल-रूसी सन्धि बीसवीं शताब्दी की प्रथम दशाब्दी की चौथी कूटनीतिक क्रान्ति थी ! इसको हम आंग्ल-फ्रांसीसी समझौते की पूरक सन्धि भी कह सकते हैं। बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का कोई भी कुशल प्रेक्षक इस बात की कल्पना करने को तैयार नहीं था कि कुछ दिनों में रूस और ब्रिटेन एक दूसरे के मित्र हो जायेंगे। इसका कारण यह था कि इन दोनों देशों की शत्रुता बहुत पुरानी थी, जो सदियों से चली आ रही थी। लेकिन, राजनीति और विशेषकर अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के सम्बन्ध में कोई भविष्य-वाणी करना खतरे से खाली नहीं। 1907 की आंग्ल-रूसी सन्धि के साथ भी यही बात थी। वर्तमान शताब्दी की प्रथम दशाब्दी में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति इस तरह चक्कर लगा रही थी और ऐसे साधनों को जुटा रही थी कि 1907 आते-आते एक आंग्ल-रूसी सन्धि आवश्यक हो गयी।

आंग्ल-रूसी सन्धि के सम्बन्ध में दो तरह के मत व्यक्त किये गये हैं। कुछ लोगों का कहना है कि सन्धि आधुनिक युग की 'कूटनीति का अद्भुत चमत्कार' (Miracle of Deplomacy) थी। दूसरों का कहना है कि यह सन्धि 'आवश्यक और अवश्यम्भावी' (Necessary and Inevitable) थी। दोनों विचार एक-दूसरे के विपरीत हैं, तो भी इनमें समन्वय स्थापित करना कोई कठिन काम नहीं। ब्रिटेन और रूस के वर्षों का परस्पर सम्बन्ध देखते हुए यह कहना ठीक है कि दोनों के बीच उस समय सन्धि का होना बिल्कुल असम्भव जान पड़ता था। यदि 1907 में दोनों देशों के बीच एक सन्धि हो गयी तो वह 'कूटनीतिक चमत्कार' के अतिरिक्त कुछ नहीं था। पर, यदि एक तरफ ब्रिटेन और रूस में विरोध था तो दूसरी तरफ दोनों देश एक दूसरे के समीप भी आ रहे थे और धीरे-धीरे वे इतना समीप आ गये कि उनके बीच सन्धि का होना अवश्यम्भावी हो गया।

ब्रिटेन और रूस का विरोध

रूस की साम्राज्यवादी आकांक्षा :— सदियों से रूस और ब्रिटेन एक दूसरे के कट्टर दुश्मन थे। रूस की बहुत बड़ी अभिलाषा थी कि अन्य यूरोपीय देशों की

तरह पूर्व में इसका भी एक विशाल साम्राज्य कायम हो जाय। इसके लिए
अठारहवीं शताब्दी के मध्य से ही वह निरन्तर प्रयास करता आ रहा था। लेकिन
रूस के साम्राज्य विस्तार का अर्थ होता ब्रिटेन के लिए संकट। अतएव शुरू से ही
ब्रिटेन रूस के प्रसार का विरोध करता आ रहा था। रूस तुर्की साम्राज्य का
विनाश कर उस पर अधिकार जमाना चाहता था। वह डार्डनेल्स तथा बोस्फोरस
के दो जलडमरूमध्यों पर अधिकार जमाने के लिए विशेष रूप से चिन्तित था।
लेकिन ब्रिटेन अपनी भारतीय साम्राज्य की सुरक्षा की दृष्टि से रूस की नीति का
प्रबल विरोधी बना रहा। 1853 का क्रीमिया युद्ध मुख्यतः रूस और ब्रिटेन के हित
विरोध का ही परिणाम था। क्रीमिया युद्ध में हार जाने के बाद भी रूस हिम्मत
पस्त नहीं हुआ। वह तुर्की पर तरह-तरह का दबाव डालता रहा और 1877 में
उसे लड़ाई में हराकर सनस्टिफानो की सन्धि का मानने पर मजबूर किया। ब्रिटेन
ने इस समय भी उसका इतना कड़ा विरोध किया कि उसको सनस्टिफानो की सन्धि
से प्राप्त अनेक लाभों से हाथ धोना पड़ा। जब रूस ने देखा कि निकट पूर्व में
उसकी दाल नहीं गलेगी तो वह दूसरे क्षेत्र में अपना साम्राज्यवादी जाल बिछाने
लगा। 1878 की बर्लिन सन्धि के बाद रूस की कूटनीति पूर्वी एशिया में साम्राज्य
विस्तार के लिए लग गयी। साथ ही वह भारत की सीमा पर स्थित अफगानिस्तान,
फारस तथा तिब्बत पर अपना प्रभाव फैलाने का प्रयास करता रहा। उन्नसवीं
शताब्दी में तीन बार (1878-81, 1884-85 तथा 1895) ऐसी स्थिति आ
गयी कि फारस और अफगानिस्तान को लेकर दोनों देशों के बीच युद्ध छिड़ने की
सम्भावना पैदा हो गयी।* पर ब्रिटेन की शक्ति से आतंकित होकर रूस की हिम्मत
नहीं हुई कि वह युद्ध का आश्रय ले। लेकिन अफगानिस्तान को रूसी प्रभाव से
बचाने के लिए भारत में ब्रिटिश सरकार को अफगान लोगों के साथ तीन लड़ाइयाँ
करनी पड़ी।

बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में मध्य एशिया पर प्रभाव कायम करने के
सिलसिले में रूस और ब्रिटेन का संघर्ष और तीव्र हो गया। जब ब्रिटेन दक्षिण
अफ्रिका में बोअर युद्ध में व्यस्त था उस समय रूस को फारस, अफगनिस्तान और
तिब्बत में प्रभाव फैलाने का खुला मौका मिल गया। रूस ने फारस की खाड़ी में
एक अड्डा बनाने का निश्चय किया। ब्रिटेन के लिए एक महान् खतरा उपस्थित
हो गया। इस समय तक बोअर युद्ध खत्म हो चुका था और ब्रिटेन को कार्यवाही
करने की स्वतन्त्रता फिर से मिल गयी थी। 15 मई, 1903 का लार्ड लैंसडाउन ने
इस बात की चेतावनी दी कि "फारस की खाड़ी में किसी भी अन्य बड़े राष्ट्र के

* *Cambridge History of British Foreign Policy* (vol, iii) pp. 72-90

द्वारा समुद्री अड्डे की स्थापना अथवा बन्दरगाह की किलाबन्दी को हम ब्रिटेन के स्वार्थों के लिए एक बहुत गम्भीर खतरा मानेंगे और अपनी सारी शक्ति के साथ निश्चित रूप से उसका प्रतिरोध करेंगे ।" इस जोरदार चेतावनी को नवम्बर, 1903 में खाड़ी में किये जाने वाले वायसराय लार्ड कर्जन के नौ-सैनिक प्रदर्शनों के द्वारा दुहराया गया। कर्जन एक बहुत बड़े जहाजी बेड़े के साथ खाड़ी में पहुँचा और वहाँ से इस बात की चेतावनी दी कि वह फारस की खाड़ी में किसी भी आक्रमण से अपनी स्थिति की रक्षा करेगा।

इसी समय तिब्बत को लेकर दोनों देशों में खूब पैतराबाजी हुई। उधर कुछ दिनों से एक बौद्ध भिक्षुक दोरजीव के माध्यम से दलाई लामा के दरबार पर रूस का प्रभाव बढ़ रहा था। यह भी अफवाह फैली कि तिब्बत और रूस के बीच एक सन्धि हो गयी है तथा तिब्बत ने रूस की संरक्षता स्वीकार कर ली है। भारतीय सीमा से केवल ३०० मील की दूरी पर स्थित तिब्बत रूसी षड्यन्त्र का अड्डा बने यह बात ब्रिटिश सरकार और विशेषकर तत्कालीन वायसराय लार्ड कर्जन को मंजूर न थी। उसने दलाई लामा से सम्पर्क स्थापित करने का यत्न किया, लेकिन सफलता नहीं मिली। तब कर्जन ने तिब्बत के खिलाफ सैनिक कार्रवाई करने का निश्चय किया। 1904 के अन्त में उससे यंगहस्बैंड नामक एक कर्नल के नेतृत्व में एक शिष्टमंडल भेजा और वहाँ की सरकार से एक सन्धि करके तिब्बत पर ब्रिटिश प्रभुत्व की स्थापना की गयी। तिब्बत से रूसी प्रभाव का अन्त हो गया।

जब तिब्बत पर से खतरा टल गया तो उत्तर-पश्चिम अफगानिस्तान में रूसी योजना के कारण पुनः एक दूसरा संकट पैदा हो गया। 1901 में हबिबुल्ला अफगानिस्तान का नया अमीर हुआ। रूस की ओर उसका अधिक झुकाव था। इस बात की सम्भावना हो गयी कि नये अमीर ने अफगानिस्तान में रेल लाइन बनाने की अनुमति रूस को दे दी है। लार्ड बालफोर ने इस प्रयास का भी घोर विरोध किया और इस रेलवे योजना को "शत्रुतापूर्ण योजना" बतलाया तथा रूस को चेतावनी दी कि अफगानिस्तान में ऐसी सारी कार्यवाहियों का ब्रिटिश सरकार अपनी पूरी ताकत के साथ विरोध करेगी।

इस प्रकार साम्राज्य-विस्तार को लेकर बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में रूस और ब्रिटेन के बीच की पुरानी तनातनी बहुत बढ़ गयी और 1905 में लगता था कि दोनों के बीच युद्ध हो जायगा। इसके पूर्व ब्रिटेन के एक मित्र राज्य जापान से रूस का युद्ध शुरू हो चुका था और और ब्रिटेन की जनता की सहानुभूति जापान के साथ थी। यद्यपि इस युद्ध में ब्रिटेन के मन्त्रिमंडल ने कड़ी तटस्था का निर्वाह

किया लेकिन यह सहानुभूतिपूर्ण तटस्थता किसी भी क्षण युद्ध में सक्रिय भाग का रूप ले सकती थी। साम्राज्य-विस्तार की योजना को लेकर 1905 में ब्रिटेन और रूस का ऐसा ही सम्बन्ध था। फिर भी 1907 में दोनों के बीच एक समझौता हो गया।

1905 में रूस का पलायन—1905 में मुख्यतः ब्रिटेन के कारण ही रूस का पलायन अपनी चरम सीमा पर पहुँच गया था। इस वर्ष वह एशिया के एक छोटे देश जापान से बुरी तरह हार गया। रूस में यह प्रश्न पूछा जाने लगा कि छोटे से जापान को रूस के साथ लड़ाई मोल लेने की हिम्मत कैसे हुई। इसका उत्तर स्पष्ट था - ब्रिटेन के साथ जापान की सन्धि थी और उसी बल पर उसने रूस के साथ छेड़ खानी की थी और युद्ध में उसे पराजित किया था तथा रूस के इस राष्ट्रीय अपमान के लिए ब्रिटेन खुले रूप से जिम्मेवार था। 1907 में रूस के लोगों को इस घटना की याद बिल्कुल ताजी थी।

जार विशेष रूप से क्षुब्ध था। रूस में क्रांति हो गयी थी और जारशाही की निरंकुशता खत्म होने लगी थी। जार समझता था कि इसके मूल में ब्रिटेन ही है। यदि आंग्ल जापानी सन्धि नहीं हुई तो जापान को रूस के साथ युद्ध करने और उसे पराजित करने की हिम्मत नहीं होती और यदि रूस युद्ध में पराजित नहीं हुआ होता तो यह क्रांति नहीं होती। इस कारण भी दोनो देशो का सम्बन्ध बुरा हो गया था।

डोगर बैंक की घटना— रूस जापान युद्ध के समय में ब्रिटेन और रूस का मतभेद बहुत बढ़ गया था। लाल सागर से अंग्रेजों के जो भी जहाज गुजरते थे, रूसी अफसर उसकी तालाशी लेते थे। ब्रिटिश राजदूत ने ऐसी कारवाइयों पर कड़ा विरोध प्रकट किया। इसी बीच एक यह अफवाह और फैली की जापान ने अपनी लड़ाई के जहाजों को यूरोप की ओर भेजा है और वे रूस के पास-पड़ोस में चक्कर काट रहे हैं। रूसी नौ-सेना के अधिकारियो ने कुछ ब्रिटिश जहाजो को जापानी जहाज समझकर उस पर गोली चलवा दी। कुछ अंग्रेज मछुए मारे गये और जहाजों को भी कुछ क्षति पहुँची।

इस कांड को लेकर रूस और ब्रिटेन में काफी मतभेद उत्पन्न हो गया। सारे ब्रिटेन में क्रोध की लहर व्याप्त हो गयी और लार्ड रोजवरी ने इसे "अकथनीय अत्याचार" कहा। बहुत सी ब्रिटिश पनडुब्बियाँ डोवर के लिए रवाना की गयी। परन्तु दोनो सरकारों ने अपना मानसिक सन्तुलन नहीं खोया। जार ने घटना पर दुख प्रकट किया और क्षतिपूर्ति का आश्वासन दिया। फिर भी वह ब्रिटेन से काफी क्रोधित रहने लगा।*

* G. P. Gooch : *History of Modern Europe*, pp. 248-350

ब्जरको का सम्मेलन—जिस समय रूस चारों ओर संकट से घिरा था उस समय कैसर ने उसके प्रति सहानुभूति प्रकट करके जार को अपने पक्ष में करने का एक प्रयास किया। उसने जार को आशान्वित किया कि इस युद्ध में रूस को जीतना चाहिए और वह अवश्य जीतेगा। जर्मनी की इस सहानुभूति के कारण रूस के लिए यह सम्भव हो सका कि पोलैंड की सीमाओं से वह अपनी सेना को हटाकर पूर्व एशिया भेजे। इसके साथ जर्मनी से यह वादा भी किया कि जर्मन जहाज युद्ध स्थल पर रूस को कोयला पहुँचायेंगे। स्पष्ट है कि कैसर रूस के इस पलायन से लाभ उठाना चाहता था। ब्रिटेन के खिलाफ वह एक विशाल महाद्वीपीय गुट कायम करना चाहता था जिसमें रूस और फ्रांस का सम्मिलित होना अनिवार्य था। जुलाई 1905 में एक ब्जरको नामक स्थान पर जार और कैसर की मुलाकात हुई और उसने उसको अनेक प्रलोभन देकर अपने पक्ष में कर लिया। कैसर ने ब्रिटेन के प्रति जार की भावनाओं को उभाड़ने का पूरा यत्न किया। ब्जरको में उसने जार को इस बात की याद दिलायी कि किस प्रकार रूस-जापान युद्ध के समय रूस को मदद पहुँचाने के लिए जर्मन जहाजों से कोयला भेजा जा रहा था तो ब्रिटेन ने उसको जाने से रोका था। जार पर कैसर का इतना अधिक प्रभाव पड़ा कि वह एक सन्धि पर हस्ताक्षर करने के लिए तैयार हो गया। रूस, फ्रांस और त्रिगुट को मिलाकर ब्रिटेन के विरुद्ध महाद्वीपीय गुट की स्थापना की कल्पना साकार हो उठी।* यह आश्चर्य की बात है कि जो जार 1905 में ब्रिटेन के खिलाफ महाद्वीपीय गुट के निर्माण में हाथ बँटा रहा था, वह 1907 में ब्रिटेन का मित्र बन गया।†

सैद्धान्तिक भिन्नता—रूस और ब्रिटेन दोनों में सैद्धान्तिक भिन्नता भी बहुत थी। ब्रिटेन उदार प्रजातांत्रिक विचारधाराओं में विश्वास करता था, लेकिन रूस एकतन्त्र निरकुंशता का गढ़ था। दोनों की सभ्यता, संस्कृति, परम्परा, राजनैतिक संस्थाएँ और विचारधाराओं में बहुत भेद थे। रूस में उदार प्रवृत्तिवाले लोगों को सताया जाता था। रूस-जापान-युद्ध के बाद रूस में जो ड्यूमा (रूस संसद्) कायम किया गया था उसको हाल ही में कुचल दिया गया था। ब्रिटेन के लोग रूसी शासकों के इन कामों से घृणा करते थे और जार को 'राजनीतिक हत्यारा' कहकर पुकारते थे। ब्रिटेन के नागरिकों में रूस के प्रति कोई श्रद्धा नहीं थी। उसकी घृणा इतनी तीव्र थी कि जब सम्राट् एडवर्ड रूस-यात्रा की योजना बन रहा था तो उस अवसर पर ब्रिटिश-संसद् के एक सदस्य रामजे मेकडोनल्ड ने एक लेख

* यद्यपि पीछे चलकर ब्जरको-संधि रद्द हो गया क्योंकि जार ने कुछ कारण-वश उस पर से अपना हस्ताक्षर लौटा लिया।

† A. J. P. Taylor : *Struggle for Mastery in Europe*. P. 433.

प्रकाशित किया, जिसका शीर्षक था 'एक राष्ट्र का अपमान।' ब्रिटेन के राजा का रूस जाना ही राष्ट्रीय अपमान समझा जाता था।*

यहूदियों का प्रश्न—इसके अतिरिक्त यहूदियों के प्रश्न को लेकर भी दोनों देशों के बीच गहरा मतभेद था। रूस में यहूदियों को तरह-तरह से सताया जाता था। रूसी यहूदी रूस छोड़कर भाग रहे थे। ब्रिटेन के नागरिकों में इन सताये गये यहूदियों के प्रति सहानुभूति थी और उनको ब्रिटेन में शरण दी जाती थी। इस बात को रूस के शासक सहने को तैयार नहीं थे। ऐसी कटुता और मनमुटाव के वातावरण में दो देशों के बीच सन्धि का हो जाना असम्भव प्रतीत होता था। लेकिन, कूटनीतिक चमत्कार के द्वारा यह सम्भव हो गया।

आंग्ल-रूसी सन्धि

ऊपर हमने ब्रिटेन और रूस के विरोधों का वर्णन किया है। पर इसका मतलब यह नहीं कि दोनों के बीच केवल विरोध, संघर्ष और मनमुटाव ही था। उनके सम्बन्ध में सुधार भी हो रहा था जिसके फलस्वरूप उनके बीच एक सन्धि "आवश्यक और अवश्यम्भावी" हो गयी। 20 अक्टूबर 1905 को सर एडवर्ड ग्रे ने एक भाषण दिया जिमें रूस के साथ मेलजोल बढ़ाने की बात कही गयी थी। इसके बाद आलजिसरास-सम्मेलन आया जहाँ ब्रिटेन को रूस के साथ सहयोग करने का मौका मिला। कुछ दिनो बाद जब तुर्की के सुल्तान ने तबा पर अधिकार करके मिस्र पर ब्रिटिश अधिकार को चुनौती दी तो रूसी राजदूत से सुल्तान को साफ-साफ कह दिया कि वह इस मामले में ब्रिटेन का समर्थन करेगा। इसी समय रूस में ड्यूमा की स्थापना हुई और आशा व्यक्त की जाने लगी कि रूस में प्रजातांत्रिक संस्थाओं का विकास होगा, निरंकुशता का अन्त होगा तथा सैद्धान्तिक रूप से दोनों देश एक दूसरे के निकट आयेंगे। इस तरह समझौते की भूमिका तैयार होने लगी।

ऋण—जापान के साथ युद्ध के कारण रूस की आर्थिक स्थिति बहुत खराब हो चुकी थी। रूस को ऋण की आवश्यकता थी। ब्रिटेन ने, क्रीमिया-युद्ध के बाद रूसको कभी ऋण नहीं दिया था; इस बार ऋण को प्रदान करने में उसने बड़े उत्साह के साथ भाग लिया। उधर जर्मनी ने, जो ब्जोरको-संधि की असफलता के कारण रूस से रुष्ट हो गया था, इस कर्ज में भाग लेने से इन्कार कर दिया। रूस ब्रिटेन की इस सहानुभूति के लिए आभारी था। इस ऋण पर कृतज्ञता प्रकट करते हुए रूसी मंत्री ने कहा था - "आधुनिक राज्यो के इतिहास में यह सबसे बड़ा विदेशी ऋण

* N. Mansergh : *The Coming of the First World War*, p. *108*.

था। इसके द्वारा रूस अपनी स्वर्ण-मुद्रा को सुरक्षित रख सका और एक अभागे युद्ध और क्रांति के बाद अपनी पूर्व स्थिति को फिर से प्राप्त कर सका। इस ऋण ने सरकार को इस समय की सभी कठिनाइयों का सामना करने की क्षमता प्रदान की।"*

इस्वोल्स्की—इस समय रूस में अलेक्जण्डर इस्वोल्स्की नामक व्यक्ति रूस का विदेश मन्त्री था। इस्वोल्स्की रूस और ब्रिटेन के मेल-मिलाप का बहुत बड़ा समर्थक था। जापान से हारने के बाद रूस की स्थिति बहुत खराब हो चुकी थी। रूस पस्त हो गया था और उधर जर्मनी का त्रिगुट दिनोंदिन शक्तिशाली हो रहा था। इस्वोल्स्की का विचार था कि अगर द्विगुट को त्रिगुट की तरह शक्तिशाली बनाना हो तो रूस को ब्रिटेन से मित्रता कर लेनी चाहिए। इस्वोल्स्की की समझ में रूस को दो तरफ से खतरा था। एक खतरा जापान से था। जापान पुनः रूस से लोहा लेने की तैयारी कर रहा था लेकिन अपने को सम्हालने के लिए रूस को एक लम्बी अवधि तक शान्ति की आवश्यकता थी। वह युद्ध करने की हालत में नहीं था। युद्ध से बचने का केवल एक ही उपाय था कि रूस जापान को किसी तरह शान्त कर दे और इसका सर्वोतम उपाय था उसके मित्र ब्रिटेन से दोस्ती कर लेना।

रूस को दूसरा खतरा ब्रिटेन से था। दोनों देशों के साम्राज्यवादी हित परस्पर टकराते थे। हाल में अनेक कारणों से दोनों देशों के बीच युद्ध होते-होते बचा था। लेकिन, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, रूस अभी युद्ध मोल लेने की स्थिति में नहीं था। वह ब्रिटेन के साथ अपने सभी झगड़ों को तय कर लेना चाहता था। अगर ब्रिटेन के साथ झगड़ा समाप्त हो जाता है तो वैसी स्थिति में वह बाल्कन प्रायद्वीप की राजनीति में बिना भय के हस्तक्षेप कर सकता था। इसके अतिरिक्त ब्रिटेन तथा जापान को मिलाकर एक ऐसे गुट का निर्माण भी किया जा सकता था जो जर्मनी के त्रिगुट के साथ लोहा ले सके। इस्वोल्स्की इसी तरह की कल्पना कर रहा था और जिस समय ब्रिटिश-सम्राट् एडवर्ड ने उससे रूस-ब्रिटेन मेल-मिलाप की बातें की थीं उसी समय से यह बात उसकी नीति का एक प्रमुख आधार बन गयी थी। जिस समय वह रूस का विदेश-मन्त्री बना उसी समय से उसने आंग्ल-रूसी संधि के लिए वार्तालाप भी शुरू कर दिया।†

सम्राट् एडवर्ड सर एडवर्ड ग्रे तथा कुछ अन्य ब्रिटिश-राजनीतिज्ञ भी रूस के साथ समझौता के इच्छुक थे। जर्मनी का खतरा दिनोंदिन बढ़ रहा था। जर्मनी की नाविक शक्ति दिन दूनी रात चौगुनी बढ़ रही थी। ब्रिटेन ने इस मामले को

*G. P. Gooch : *History of Modern Europe, p. 557.*

† S. B. Fay : *Origins of the World War, pp. 214-15*

तय करने के अनेक प्रयास किये। लेकिन, जर्मनी ने उसके सभी सुझावों को मानने से इन्कार कर दिया था। खासकर मोरक्को-काण्ड के बाद तो ऐसा लगता था कि जर्मनी सम्पूर्ण संसार पर अपना साम्राज्य-स्थापित करने पर तुला हुआ है। अगर ब्रिटेन को जर्मनी के खतरे से बचाना है तो उसको रूस के साथ जल्द-से-जल्द समझौता कर लेना चाहिये। रूस के साथ समझौता कर लेने के बाद ब्रिटेन निकट-पूर्व तथा सुदूरपूर्व की झंझटों से मुक्त हो जायेगा और निष्कंटक रूप से जर्मनी का सामना कर सकेगा।*

जर्मनी का मुकाबला करने के लिए ब्रिटेन संयुक्तराज्य अमेरिका से सन्धि करने को तैयार था। लेकिन, वह देश इस समय अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में पृथकता की नीति का अनुसरण कर रहा था और किसी यूरोपीय देश के साथ सन्धि करने को तैयार नहीं था। जापान और फ्रांस पहले से ही ब्रिटेन के दोस्त थे। अतः अब केवल रूस ही एक ऐसा देश बच गया था जिसके साथ ब्रिटेन सन्धि करता। इसलिए आंग्ल रूसी सन्धि अवश्यम्भावी हो गयी।

इन परिस्थितियों के अतिरिक्त कुछ अन्य परिस्थितियाँ भी थी जो आंग्ल-रूसी मित्रता के मार्ग को प्रशस्त बना रही थी। वर्षों हुए फ्रांस और रूस में सन्धि हो चुकी थी। इधर हाल में ब्रिटेन के साथ भी उसका समझौता हो गया था। इस समय फ्रांस का यह कर्त्तव्य था कि वह अपने दोनो दोस्तो के बीच मेल-मिलाप करा दे। मोरक्को-काण्ड के बाद रूस-ब्रिटेन में समझौता कराना फ्रांसीसी विदेश-नीति का मुख्य ध्येय हो गया। अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति से बाध्य होकर रूस और ब्रिटेन एक दूसरे के समीप आ रहे थे। फ्रांस ने सहारा देकर उनको गले-गले मिला दिया।

संधि की कठिनाइयाँ—लेकिन तत्काल संधि हो जाने में कुछ कठिनाइयाँ थी। रूस में पुनः प्रतिक्रिया का बोलबाला हो गया था और ड्यूमा भंग की जा चुकी थी। इन कारण ब्रिटेन की उदारवादी जनता में क्षोभ फैला हुआ था। लेकिन कुछ दिनो के बाद क्षोभ दब गया और दोनो सरकारो के बीच बातचीत चलती रही।

संधि के मार्ग में दूसरी कठिनाई जापान को लेकर थी। ब्रिटेन चाहता था कि रूस-ब्रिटेन समझौता पर हस्ताक्षर होने के पूर्व जापान के साथ भी रूस अपने मतभेदो को तय कर ले। इस कार्य में कोई विशेष कठिनाई नही हुई और आंग्ल; रूसी सन्धि पर हस्ताक्षर होने के एक महीने पूर्व 30 जुलाई 1907 को दोनों के बीच एक समझौता हो गया। इसके द्वारा यह निश्चय किया गया कि वे पूर्वी एशिया में यथा स्थिति बनाये रखने का यत्न करेंगे और अपना पारस्परिक झगड़ों का समाधान शान्तिपूर्ण तरीकों से करेंगे।

* N. Mansergh : *the Coming of the First World War*, p. 108

ब्रिटेन और रूस का समझौता :—इन कठिनाइयों को दूर करने के बाद 31 अगस्त 1907 को सर आर्थर निकोल्सन और इस्वोल्स्की ने पेट्रोग्राड में समझौता पर हस्ताक्षर कर दिये। सदियों के दो प्रतिद्वन्द्वी मित्र बन गये और उनके विरोध के कारणों का अन्त हो गया।

आंग्ल-रूसी सन्धि मुख्यतः अफगानिस्तान, फारस तथा तिब्बत से सम्बन्धित थी। संधि के दोनों हस्ताक्षरकारियों ने वादा किया कि वे तिब्बत की प्रादेशिक अखण्डता को बनाये रखेंगे। रूस ने वादा किया कि वह अफगानिस्तान को अपना प्रभाव-क्षेत्र नहीं मानेगा। यह देश एकमात्र ब्रिटेन के प्रभाव-क्षेत्र में आ गया। फारस के सम्बन्ध में आंग्ल-रूसी सन्धि की धाराएँ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण थीं। फारस की राजनीतिक स्वतन्त्रता और प्रादेशिक अखण्डता मान ली गयी। लेकिन, यह केवल नाममात्र के लिए ही था। फारस को तीन हिस्सों में बाँट दिया गया। फारस का उत्तरी हिस्सा रूस के और दक्षिणी हिस्सा ब्रिटेन के प्रभाव-क्षेत्र में रखे गये। बीच के हिस्से का तटस्थीकरण कर दिया गया।

सन्धि का महत्त्व

बाल्कन राजनीति पर प्रभाव :—अनेक दृष्टिकोणों से आंग्ल-रूसी संधि अनुचित समझौता समझा जाता है। इसमें तिब्बत, फारस तथा अफगानिस्तान के भाग्य का निर्णय किया गया था, पर इसके लिए इन देशों की राय तक नहीं ली गयी थी। पश्चिम के इन साम्राज्यवादी राज्यों को पूर्व के देशो की सहमति की कोई परवाह नहीं थी। उनकी निगाहों में पूर्व के देश बाजार के माल की तरह थे, जिसका सौदा बिना किसी हिचकिचाहट से किया जा सकता था। सन्धि अनुचित भले ही हो; लेकिन इससे ब्रिटेन और रूस निश्चिन्त अवश्य हो गये। इसका सबसे पहला नतीजा यह हुआ कि रूस और जापान के मतभेद का समाधान हो गया। जापान ब्रिटेन का दोस्त और रूस का दुश्मन था। अब रूस और ब्रिटेन दोस्त हो गये थे। अतः रूस और जापान के आपसी मतभेद का निबटारा भी आवश्यक था। जुलाई, 1907 में रूस और जापान के बीच एक समझौता हुआ, जिसके अनुसार दोनों देशों ने वादा किया कि वे सुदूरपूर्व में यथास्थिति बनाये रखने का प्रयास करेंगे। इस तरह आंग्ल-रूसी सन्धि से रूस सुदूरपूर्व और निकटपूर्व की झंझटों से बेफिक्र हो गया। अब वह बाल्कन प्रायद्वीप की राजनीति में अपनी सम्पूर्ण शक्ति के साथ कूद पड़ा। उधर उसका विरोधी आस्ट्रिया इस क्षेत्र की राजनीति में पहले से ही उग्र नीति का अवलम्बन कर रहा था। बाल्कन प्रायद्वीप में मध्ययूरोप के दो शेरों की मुठभेड़ अवश्यम्भावी हो गयी।

फ्रांस की सुरक्षित स्थिति :—आंग्ल-रूसी सन्धि से फ्रांस में खुशी का ठिकाना नहीं रहा। फ्रांस की अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति अब और अधिक सुरक्षित हो गयी।

आँग्ल-फ्रांसीसी समझौता से द्विगुट के टूटने का जो भय था, वह जाता रहा। जून, 1907 में जापान के साथ भी उसका समझौता हो गया। अब संसार में उसको किसी का भय नही रह गया। फ्रांस वेखटके जर्मनी से वदला ले सकता था। नतीजा यह हुआ कि फ्रांस में प्रतिशोध की भावना को काफी सहारा मिला। फ्रांस के राजनीतिज्ञ जर्मनी को आँख दिखलाने लगे।

ब्रिटेन को चिन्ता से मुक्ति :—आंग्ल रूसी सन्धि से ब्रिटेन भी सभी चिन्ताओं से मुक्त हो गया। जर्मनी के खतरे का सामना करने के लिए ब्रिटेन चाहता था कि विश्व की अन्य राजनीतिक समस्याओं से उसको छुटकारा मिल जाय। जापान से सन्धि करके सुदूरपूर्व में और फ्रांस से समझौता करके उत्तरी अफ्रिका में वह निश्चिन्त हो चुका था। अव उसको केवल निकटपूर्व में ही रूस का भय था। आंग्ल-रूसी सन्धि के वाद यह डर भी जाता रहा। अव ब्रिटेन जर्मनी का मुकावला करने के लिए स्वतन्त्र था।

जर्मनी को घाटा :—आंग्ल-रूसी संधि से ब्रिटेन और फ्रांस को जो लाभ हुए वे जर्मनी के लिए हानिकर सिद्ध हुए। जर्मनी महसूस करने लगा कि फ्रांस, रूस और ब्रिटेन आपस में मिलकर उसको चारों तरफ से घेर लेना चाहते हैं। 1907 में जर्मनी को घेरने की कोई वात नहीं थी; क्योंकि 1904 और 1907 की दोनों सन्धियाँ औपनिवेशिक झगड़ों से संबंधित थी और उनका उद्देश्य किसी देश पर आक्रमण करना नहीं था। फिर भी इन घटनाओं को देखकर जर्मनी निश्चिन्त नहीं बैठ सकता था। जर्मनी के दुश्मन आपस में मिल रहे थे। विस्मार्क ने जमनी को जिस सुरक्षित दशा में पहुँचा दिया था वह नष्ट हो चुका था। सम्पूर्ण संसार में केवल आस्ट्रिया ही उसका साथी था। इस साथी को वह किसी भी दशा में नही छोड़ सकता है। अतः अलजिसरास सम्मेलन के बाद जर्मनी द्वारा आस्ट्रिया को "ब्लैंक चेक" देने की जो प्रथा चल पड़ी थी, उसमें और भी वृद्धि होने लगी। आस्ट्रिया को खुश करने के लिए जर्मनी उसको वेहिचक मदद देने को तैयार था। केवल जर्मनी ही वाल्कन प्रायद्वीप में आस्ट्रिया की आक्रमणकारी नीति को आगे वढ़ाने से रोक सकता था। लेकिन, जर्मनी अपने एकमात्र मित्र को नाखुश करने को तैयार नहीं था। वह आस्ट्रिया को हर हालत में मदद देने को तैयार था। इस तरह जर्मनी द्वारा आस्ट्रिया को 'ब्लैंक चेक' देने का परिणाम वहुत बुरा हुआ। वाल्कन प्रायद्वीप की समस्या नाजुक होती गयी और अन्त में इसने प्रथम महायुद्ध को अवश्यम्भावी वना दिया।

दूरगामी परिणाम—अपने संस्मरण में सर एडवर्ड ग्रे ने लिखा है कि आंग्ल-रूसी सन्धि से रूस की अपेक्षा ब्रिटेन को अधिक लाभ हुए। प्रोफेसर फे सर ग्रे के इस विचार से सहमत नही हैं। वर्तमान विश्व-राजनीति को देखते हुए प्रोफेसर निकोलस

मेनसर इस वाद विवाद को कि किस देश को अधिक लाभ हुआ, बेकार बतलाते हैं। उनका कहना है कि आंग्ल-रूसी सन्धि के व्यापक परिणामों के सामने उसका तात्कालिक परिणाम महत्त्वहीन हो जाता है। प्रोफेसर मेनसर का कहना है कि आज पूर्वी यूरोप पर जो सोवियत-रूस का प्रभाव कायम हो गया है उसकी नींव 1907 की सन्धि द्वारा ही पड़ी थी। उस समय सभी जानते थे कि बाल्कन प्रायद्वीप की राजनीति में रूस का गहरा स्वार्थ था। रूस अपने को सम्पूर्ण स्लाव-जगत् का नेता मानता था और बाल्कन प्रायद्वीप की स्लाव-जातियाँ भी रूस को अपना नेता मानती थीं। अभी तक बाल्कन प्रायद्वीप में रूस का प्रभाव महत्त्वशील नहीं हुआ था। इसका एकमात्र कारण था कि ब्रिटेन बराबर से रूस की गतिविधियों का विरोध करता आ रहा था। आंग्ल-रूसी सन्धि के द्वारा ये दोनों देश मित्र हो गये। मित्रता के लिहाज से अब ब्रिटेन रूस का विरोध नहीं कर सकता था। प्रोफेसर मेनसर के शब्दों में रूस को अब ब्रिटेन का वरदहस्त प्राप्त हो गया। पुराने विरोधी की शुभ कामना प्राप्त करके रूस बाल्कन प्रायद्वीप में कूद पड़ा। तब से उसका प्रभाव बढ़ता ही गया और बढ़ते-बढ़ते वह आज इस स्थिति में पहुँच गया है कि सम्पूर्ण पूर्वी यूरोप रूस का प्रभाव क्षेत्र हो गया है। प्रोफेसर मेनसर के अनुसार यदि ब्रिटेन अपनी परम्परागत नीति का परित्याग नहीं करता, रूस का विरोध करता रहता, और आंग्ल-रूसी सन्धि नहीं होती तो आज इस तरह की स्थिति कायम नहीं होती। प्रोफेसर मेनसर का यह विचार कहाँ तक तर्कयुक्त है, यह कहना अभी कुछ मुश्किल है। पूर्वी यूरोप पर रूसी प्रभाव की उत्पत्ति एक विवादग्रस्त प्रश्न है और भविष्य के इतिहासकार ही इसका उचित उत्तर दे सकते हैं।

उपसंहार

आंग्ल-रूसी सन्धि बीसवीं शताब्दी की प्रथम दशाब्दी की अन्तिम कूटनीतिक क्रान्ति थी। इसी सन्धि के बाद ब्रिटेन की सहानुभूति और सद्भावना स्वाभाविक रूप से द्विगुट के साथ हो गयी और इस तरह ब्रिटेन, फ्रांस तथा रूस को मिलाकर यूरोप में एक दूसरे त्रिगुट (Triple Entente) की स्थापना हुई। 1907 में यूरोप साफ-साफ दो गुटों में बँट गया। एक तरफ जर्मनी, आस्ट्रिया तथा कुछ अंशों तक इटली का त्रिगुट और दूसरी तरफ ब्रिटेन, फ्रांस तथा रूस का त्रिगुट। इसमें कोई शक नहीं कि ये दोनों गुट रक्षात्मक गुट थे। इनकी सन्धियों में कोई ऐसी शर्त नहीं थी जिसका उद्देश्य किसी देश पर हमला करना हो। लेकिन,

---

* Fay : *Origins of the World War*, p. 221.

Mansergh. *The Coming of the First World War*, pp. 111-112

यूरोप का राजनीतिक वातावरण दूषित हो रहा था। राष्ट्रों के बीच हथियारबन्दी की होड़ चल रही थी। जर्मनी अपनी नौ-सेना में वृद्धि करने का अथक प्रयास कर रहा था। ब्रिटेन इसको सहने को तैयार नहीं था। हर देश में विकृत देशभक्ति अपना सर उठा रही थी। फ्रांस में अपने राष्ट्रीय अपमान का बदला तथा आल्सेस-लोरेन को लौटाने की भावना अति तीव्र हो रही थी। यूरोपीय देशों की साम्राज्य-वादी आकांक्षाओं के कारण अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में तरह-तरह के संकट पैदा हो रहे थे। मोरक्को-कांड, अगादिर-कांड, बाल्कन-कांड तथा बोस्निया-कांड सब के सब इन्हीं साम्राज्यवादी आकांक्षाओं के परिणाम थे। रूस और आस्ट्रिया दोनों बाल्कन प्रायद्वीप को हड़प लेना चाहते थे। स्वयं बाल्कन प्रायद्वीप में राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के लिए काफी चहल-पहल थी। इन सबों के अतिरिक्त यूरोप के सभी देशों के समाचारपत्र अपने जहरीले प्रभाव को फैला रहे थे। एक देश के समाचार-पत्र दूसरे देश के नेताओं पर जहर उगलते थे और इस प्रकार का दूषित जनमत तैयार करते थे जिससे राष्ट्रों के बीच सद्भावना का पनपना असम्भव हो जाय। यह कहना अतिरंजित नहीं होगा की समाचारपत्रों की यह दृष्टिकोण प्रथम विश्व-युद्ध का एक प्रमुख कारण था। जुलाई, 1914 में यदि सर्विया और आस्ट्रिया के समाचारपत्र कुछ धैर्य से काम लेते, एक दूसरे पर जहर नहीं उगलते तो इस बात की अधिक संभावना थी कि प्रथम विश्व-युद्ध आरम्भ ही नहीं होता। 1907 तक यूरोप दो गुटों में बँट चुका था। एक गुट दूसरे गुट से जलता था और अगल-बगल में खड़ा होकर एक दूसरे को शक की निगाह से देखता था। लेकिन उपर्युक्त कारणों से ऐसी स्थिति नहीं बनी रही। 1907 में वे अगल-बगल में खड़े थे; 1912 आते-आते वे एक दूसरे के आमने-सामने हो गये।

इस अवस्था में जर्मनी की अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति बहुत कमजोर हो गयी। जर्मनी अपने को असहाय महसूस करने लगा। लेकिन इस स्थिति के लिए स्वयं जर्मनी ही जिम्मेवार था। बिस्मार्क ने अपनी कूटनीति की बदौलत जर्मनी को जिस सुरक्षित दशा में पहुँचा दिया था उसको नष्ट करने का उत्तरदायित्व केवल कैसर और उसके कुछ सलाहकारों पर था। कैसर ने रूस की मित्रता खो दी और जब ब्रिटेन उससे सन्धि करना चाहता था, तो उसने उस प्रस्ताव को भी ठुकरा दिया। इसके बाद जब ब्रिटेन ने फ्रांस और रूस के साथ सन्धि की तो वह ब्रिटेन के शासकों को कोसने लगा, उन्हें भला-बुरा कहने लगा। ब्रिटेन पर उसने यह आरोप लगाया कि वह यूरोप में गुट कायम करके जर्मनी को चारो तरफ से घेर लेना चाहता है। यह दोषारोपण ठीक नहीं था; क्योंकि ब्रिटेन अगर जर्मनी के दुश्मनों के गुट में मिला तो वह जर्मनी की नीति से बाध्य होकर ही। कैसर अपने द्वारा किये गये कर्मों का फल भोग रहा था और बिस्मार्क की आत्मा कराह रही

थी। बहुत दिन पहले उसने भविष्यवाणी की थी कि यह युवक (कैसर) अपनी नीति से जर्मनी का विनाश कर देगा। प्रोफेसर गूचे ने ठीक ही कहा है कि यह जर्मनी और विश्व-शान्ति के लिए बड़ी दुर्भाग्य की बात थी कि बिस्मार्क के बाद जर्मनी में कोई ऐसा सुयोग्य नेता पैदा नहीं हुआ जिसमें राजनीतिक कुशलता और कूटनीतिक दूरदर्शिता के गुण रहे हों। अनुभवहीन कैसर और उसके कुछ निकम्मे अनुयायी जर्मनी के विनाश पर तुले हुए थे और उनको रोकनेवाला कोई नहीं था। यूरोप का शक्ति-संतुलन, जो 1871 के बाद जर्मनी के पक्ष में था, का अन्त हो गया।

अध्याय आठ

हथियारबन्दी की होड़

(Armament Race)

सैनिकवाद :—आज का मानव-समुदाय असाधारण गति से युद्ध की तैयारी कर रहा है। युद्ध तरह-तरह की ऐतिहासिक और मानसिक परिस्थितियों की उपज है और आज तक इसका कोई सन्तोषजनक समाधान नहीं निकाल पाया है। संसार के सभी प्रमुख धर्म यही उपदेश देते आ रहे हैं कि मनुष्य को एक दूसरे से प्रेम करना चाहिए और दुनिया में विश्व-बन्धुत्व की भावना फैलानी चाहिए। लेकिन, इतिहास साक्षी है कि मनुष्यमात्र पर इन धार्मिक उपदेशों का कोई असर नहीं पड़ा है। सभ्यता के प्रारम्भ से मानव-समुदाय युद्ध से परेशान है। फिर भी वह हमेशा युद्ध की तैयारी में लिप्त रहता है। युद्ध के विध्वंसकारी संहारों को वह कुछ ही दिनों में भूल जाता है। हिगल ने एक बार व्यंगात्मक ढंग से कहा था कि "इतिहास से मनुष्य को यही शिक्षा मिलती है कि मनुष्य इतिहास से कोई सबक ग्रहण नहीं करता।" हिगल की यह उक्ति युद्ध के विषय में भी लागू होती है। जिस दिन किसी एक युद्ध अन्त होता है उसी दिन मनुष्य उस युद्ध के कुपरिणामों को भूलकर दूसरे युद्ध की तैयारी में व्यस्त हो जाता है। शायद आज के मानव समुदाय को भी प्राचीन रोम की उस पुरानी कहावत में विश्वास है कि "यदि तुम शान्ति चाहते हो तो युद्ध के लिए तैयार रहो।" आधुनिक सैनिकवाद और शस्त्रीकरण का यही मनोवैज्ञानिक पृष्ठाधार है।

1871 से 1914 के काल को विश्व-राजनीति के इतिहास में 'सैन्य-शान्ति' तथा 'अन्तर्राष्ट्रीय अराजकता' का युग माना जाता है। राष्ट्रों के बीच हथियारबन्दी का होड़ इस युग की एक मुख्य विशेषता थी। उन्नीसवीं सदी के यूरोपीय देशों को हथियारबन्दी तथा सैनिकवाद में विश्वास करने का विशेष कारण था। इस उग्र राष्ट्रीयता और प्रचण्ड साम्राज्यवाद के युग में युद्ध को, राष्ट्रीय आकांक्षाओं की पूर्ति के लिए, एक प्रभावशाली साधन माना जाता था। युद्ध केवल वांछित ही नहीं वरन् आवश्यक भी समझा जाता था। राष्ट्रीय संतोष का एकमात्र उपाय युद्ध था। युद्ध के द्वारा ही जर्मनी और इटली साम्राज्य कायम कर सकते थे। युद्ध के द्वारा फ्रांस अपने राष्ट्रीय अपमान का प्रतिशोध ले सकता था। पर युद्ध लड़ने के लिए कुछ आवश्यक सामग्री, कुछ आवश्यक यंत्रों की आवश्यकता होती है। युद्ध में विजय के लिए

आवश्यक है कि एक राष्ट्र अपने शत्रु राष्ट्र से अधिक शक्तिशाली हो। उसकी सेना आधुनिकतम अस्त्र-शस्त्रों से लैस हो। तभी तो रणक्षेत्र में वह अपने शत्रु को पराजित कर सकता है। अतएव 1871 के बाद यूरोपीय देशों में अपनी सैन्य शक्ति को बढ़ाने तथा सेना को आधुनिकतम अस्त्र-शस्त्रों से लैस करने की एक होड़ मच पड़ी। एक देश दूसरे देश पर इस क्षेत्र में बाजी मार लेने का प्रयास करने लगा। हथियारबन्दी अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक जीवन का एक नशा हो गया। कोई किसी से दबनेवाला नहीं था। एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र से बढ़-चढ़कर हथियार के उत्पादन के फेर में था। प्रत्येक देश सेना की उन्नति के लिए पागल हो रहा था। यूरोप के प्रत्येक देश में सैनिक शिक्षा अनिवार्य रूप से दी जा रही थी और ब्रिटेन को छोड़कर प्रायः सभी यूरोपीय देशों में अनिवार्य सैनिक सेवा की प्रथा चल पड़ी थी। सम्पूर्ण जनता युद्ध के लिए शिक्षित की जा रही थी, जो आवश्यकता पड़ने पर किसी भी समय युद्ध के लिए काम आ सकती थी। सब लोग हर क्षण तैयार रहने में अपना कल्याण समझते थे। अनिवार्य सैनिक सेवा की प्रथा सबसे पहले क्रांति के समय फ्रांस ने शुरू की थी। उसके बाद प्रशा ने इसको अपनाया। प्रशा के बाद धीरे-धीरे अन्य यूरोपीय देश भी इसे ग्रहण करते गये। सेना का खर्च बड़ी तेजी के साथ बढ़ता गया। अनेक यूरोपीय राज्य अपनी वार्षिक आय का 85 प्रतिशत युद्ध की तैयारी पर खर्च कर रहे थे। स्थायी सेना की संख्या लगातार बढ़ रही थी। जिस देश के पास जितने घातक और भयंकर हथियार हों उसे उतना ही महान् समझा जाता था। अधिक सैनिक शक्ति बड़प्पन की निशानी थी। इस तरह सम्पूर्ण महादेश में सैनिक वातावरण छाया हुआ था। कोई किसी को रोकनेवाला नहीं था। यह "अन्तर्राष्ट्रीय अराजकता" का युग था।

सैनिकवाद की विशेषताएँ :—हथियारबन्दी की होड़ की एक अद्भुत विचित्रता यह थी कि कोई भी देश यह नहीं कहता था कि वह अपनी सैन्य शक्ति को किसी पर आक्रमण करने के लिए बढ़ा रहा है। सभी यही कहते थे कि वे केवल राष्ट्रीय सुरक्षा के लिए ही अपनी सैन्य शक्ति में वृद्धि कर रहे हैं। हथियारबन्दी के लिए इस प्रकार का तर्क देना आवश्यक भी था। इसपर करोड़ों रुपये खर्च करने पड़ते हैं, जिसकी स्वीकृति राष्ट्रीय संसद् से लेनी पड़ती थी। राष्ट्रीय सुरक्षा के नाम पर संसद् को ठगा जा सकता था। इसी बहाने उससे मुँहमांगे पैसों की स्वीकृति ली जा सकती थी। हथियारबन्दी का उद्देश्य चाहे रक्षात्मक रहा हो या आक्रमणात्मक, लेकिन राष्ट्रों पर काफी बुरा प्रभाव पड़ा। राष्ट्रों के बीच व्यापक सन्देह, घृणा और भय उत्पन्न करना इसका समग्र नतीजा हुआ। यदि कोई एक देश अपनी सैन्य शक्ति में वृद्धि करता तो उसका दुश्मन देश तुरतही सशंकित हो जाता। वह समझता था कि

अमुक देश उसी से युद्ध करने के लिए अपनी सैन्य शक्ति बढ़ा रहा है। अतः वह अपने को भी तैयार करने लगता, सेना की संख्या बढ़ाता तथा उसको आधुनिकतम अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित करता। भय से भय की उत्पत्ति होती है और इसी दूषित वातावरण से हथियारबन्दी की होड़ परिक्रमा करती रही। यह घटनाचक्र 1871 में प्रारम्भ हुआ और आज भी उसी तीव्रता के साथ घूम रहा है। इसका कब अन्त होगा नहीं कहा जा सकता।

सैनिकवाद की कुछ और विशेषताएँ भी थीं। प्रत्येक देश की सेना सैनिक अफसरों के गुट से नियन्त्रित होती थी। ये सैनिक अफसर बहुत बड़े देशभक्त होते थे और राष्ट्रीय मान-मर्यादा के लिए मर मिटने को तैयार रहते थे। वे देश की रक्षा अपना पवित्रतम कर्त्तव्य समझते थे। अपने देश की रक्षा के लिए हमेशा तैयार रहना वे अपना सबसे बड़ा धर्म समझते थे। कभी भी किसी भी समय देश पर आक्रमण हो सकता है, ऐसी स्थिति में वे हमेशा तत्पर रहते थे। कम-से-कम समय में विदेशी आक्रमण का मुकाबला करने के लिए वे तरह-तरह की योजनाएँ बनाते रहते थे। उनकी समझ में दुश्मन पर जल्द-से-जल्द आक्रमण कर देना ही रक्षा का सर्वोत्तम उपाय था। सामाजिक बुद्धिमानी इसी में थी कि शत्रु अभी तैयार भी नहीं हुआ हो कि उस पर चढ़ाई कर दी जाय। इसलिए वे 'हमेशा तैयार रहो' की स्थिति में रहते थे। जब भी कोई राजनीतिक संकट उपस्थित होता तो वे झट इस निष्कर्ष पर पहुँच जाते कि अब युद्ध 'अवश्यम्भावी' है और राजनीतिज्ञों पर दबाव डालने लगते कि वे उन्हें जल्द-से-जल्द सेना को हथियार उठाकर आगे बढ़ाने की आज्ञा दे दें। लेकिन यह काम खतरे से खाली नहीं था। एक बार अगर सेना ने हथियार उठा लिया और युद्ध का बिगुल बज उठा तो बीच में उसको रोकना असम्भव था। यह आधुनिक सैनिकवाद का सबसे बड़ा अवगुण था।

आधुनिक सैनिकवाद की दूसरी बुराई यह थी कि सामरिक योजनाएँ विशेषज्ञों द्वारा बनायी जाती थीं और उनको गुप्त रखा जाता था। संसद् और जनता क्या, विदेश-मंत्री को भी उन योजनाओं के विषय में बहुत कम जानकारी रहती थी। अगर विदेश-मंत्री योजनाओं के विषय में कुछ जानता भी था तो योजनाओं की गुत्थी समझना उसके लिए कठिन था। सामाजिक योजनाओं का अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर क्या असर पड़ेगा, इसकी परवाह सेना के अफसर या विशेषज्ञ नहीं करते थे। जब उनकी समझ में युद्ध 'अवश्यम्भावी' हो जाता था तो वे राजकीय पदाधि-कारियों से अपनी सैनिक योजनाओं को कार्यान्वित करने की माँग करने लगते थे। प्रथम विश्व-युद्ध के अवसर पर ये सभी घटनाएँ घटीं। उस समय अगर आधुनिक

सैनिकवाद का ऐसा स्वरूप नहीं रहता, तो शायद प्रथम विश्व-युद्ध होते-होते बच जाता।

सैनिकवाद की इसी अवस्था में यूरोप के देश एक महान् ताण्डव नृत्य की तैयारी कर रहे थे। 1870 में हारने के बाद फ्रांस तेजी के साथ अपना सैन्य संगठन कर रहा था। इससे जर्मनी का भय बढ़ने लगा और वह भी अपनी पूरी सामर्थ्य के साथ हथियारबन्दी की होड़ में कूद पड़ा। 1885 में फ्रांस की सेना की संख्या 500,000 थी और जर्मनी की 427,000। इसके बीस साल बाद फ्रांस की सेना की संख्या बढ़कर 545,000 हो गयी और जर्मनी की 505,000। इतने पर भी जर्मनी की इच्छा पूरी नहीं हुई। 1913 में एक सैनिक विधेयक पास करके उसकी संख्या 8000,000 तक बढ़ा दी गयी। फ्रांस कब पीछे रहनेवाला था। उसने भी एक ऐसा ही विधेयक पास करके अपनी सेना की संख्या भी बढ़ा ली।

इतनी बड़ी सेनाओं का खर्च अगर करोड़ों रुपया वार्षिक हो तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं। 1873 में यूरोप के विभिन्न देश सेना और युद्ध सामग्री के लिए कुल मिलाकर 1,15,00,00,000 रुपया खर्च करते थे। 1913 में यह संख्या बढ़कर 5,68,20,00,000 हो गयी थी। इतनी धनराशि प्रतिवर्ष युद्ध की तैयारी के लिए स्वाहा की जा रही थी। कर-दाता कर देते-देते परेशान हो गये थे। राष्ट्रीय सुरक्षा के नाम पर उनका खून चूसा जा रहा था। अगर इतनी बड़ी धनराशि राष्ट्रीय विकास की योजना में लगायी जाती तो देश के लिए कितना लाभप्रद होता। सैनिकवाद का खर्च असह्य हो गया। लोग इससे मुक्ति पाने का उपाय सोचने लगे। सैनिकवाद की प्रचण्डता ने यूरोपीय राज्यों को इसका अन्त करने को बाध्य किया। रोग की विकटता और गम्भीरता ने लोगों का ध्यान उसके इलाज की तरफ आकृष्ट किया। यूरोप में निरस्त्रीकरण का एक आन्दोलन चल पड़ा। यूरोप से 'अन्तर्राष्ट्रीय अराजकता' को अन्त करने का निष्फल प्रयत्न प्रारम्भ हुआ।

हेग-सम्मेलन 'सैन्य शान्ति' के युग में हथियारबन्दी की प्रचण्डता को कम करने का सरकारी तौर पर प्रथम प्रयास 1899 में हुआ। जार निकोलस द्वितीय के प्रयास से इस वर्ष यूरोप के राज्यों का एक अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन हुआ।* 18 मई से सम्मेलन का काम शुरू हुआ। इसमें 26 राज्यों के प्रतिनिधियों ने भाग लिया था। हथियारबन्दी की होड को रोकने की कोशिश करना सम्मेलन का प्रमुख काम था। सम्मेलन में इस विषय पर भिन्न-भिन्न राज्यों ने भिन्न-भिन्न प्रस्ताव रखे। रूस का यह सुझाव था कि कम-से-कम पाँच साल के लिए सेना की

*Mowat: *Contemporary Europe and Overseas.*, p. 99.

संख्या और सैनिक बजट में कोई वृद्धि नहीं की जाय। लेकिन, जर्मनी ने इस प्रस्ताव को मानने से इनकार कर दिया। जर्मनी ने निरस्त्रीकरण का इतना विरोध किया कि हेग-सम्मेलन जिस उद्देश्य से बुलाया गया था, वह पूरा नहीं हो सका। निरस्त्रीकरण के विषय पर सम्मेलन ने एक प्रस्ताव स्वीकृत किया। इसमें कहा गया था कि मनुष्यमात्र के कल्याण के लिए यह आवश्यक है कि दुनिया के देश अपने सैनिक व्यय में कमी करें। इसके बाद जुलाई 29 को सम्मेलन की सभा विसर्जित कर दी गयी।*

प्रथम हेग-सम्मेलन की असफलता से संसार को एक जबर्दस्त धक्का लगा। शस्त्रीकरण की गति बराबर बढ़ती गयी। कुछ दिनों के बाद दक्षिणी अफ्रिका में युद्ध प्रारम्भ हो गया और इसके पश्चात् पूर्व एशिया में जापान और रूस के बीच भी। हथियारबन्दी की होड़ और प्रचण्ड होती गयी। जर्मनी और ब्रिटेन में नौसेना सम्बन्धी प्रतिस्पर्धा काफी विकट होने लगी। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक परिस्थिति नाजुक होती चली जा रही थी। राजनीतिज्ञों का ध्यान पुनः इस समस्या की ओर आकृष्ट हुआ। जार निकोलस द्वितीय ने एक बार फिर मार्ग-प्रदर्शक का काम किया। उसके निमन्त्रण पर 15 जून, 1907 को हेग में 44 राज्यों का एक दूसरा सम्मेलन प्रारम्भ हुआ। इस सम्मेलन में पुनः निरस्त्रीकरण की समस्या पर विचार हुआ। लेकिन दुर्भाग्यवश विश्व के राजनेता किसी निष्कर्ष पर नहीं पहुँच सके। सम्मेलन बिना कोई सफलता प्राप्त किये 18 अक्टूबर को समाप्त हो गया।

सम्मेलनों की असफलता—विश्व-राजनीति के इतिहास में दो हेग-सम्मेलनों का बहुत बड़ा महत्त्व है। आधुनिक युग में निरस्त्रीकरण की दिशा में वे प्रारम्भिक प्रयास थे। लेकिन उनको कोई सफलता नहीं मिली। इसके अनेक कारण थे। सर्वप्रथम लोगों को जार निकोलस के उद्देश्य पर ही शक था। जर्मनी में लोगों का कहना था कि निरस्त्रीकरण का प्रयास रूसी साम्राज्यवादियों की कूटनीतिक चाल है।† उनके अनुसार सैनिक दृष्टि से रूस काफी कमजोर और हथियारबन्दी की होड़ में काफी पीछे था। उनका कहना था कि सैनिक वृद्धि के लिए समय प्राप्त करने के लिए ही रूस ने निरस्त्रीकरण का प्रस्ताव रखा था। जापान के हाथों पराजित होने के कारण उसकी सैनिक शक्ति में काफी ह्रास हो चुका था। उधर उसके शत्रु हथियारबन्दी की होड़ में आगे बढ़े चले जा रहे थे। इस स्थिति को बदलने के लिए रूस समय चाहता था। उसके शान्ति-प्रस्ताव के मूल में यही रहस्य

---

* Hazen : *Modern European History*, p. 552

† Ketelbey : *History of Modern Times* p 344

था। निरस्त्रीकरण समस्या एक बहुत ही नाजुक समस्या है। इसका समाधान तभी हो सकता है जब दुनिया के राष्ट्र एक दूसरे के प्रस्ताव पर सहानुभूति और सद्भावना से प्रेरित होकर विचार करें। पर यहाँ सद्भावना का प्रश्न नहीं था। प्रारम्भ से बहुतेरे राष्ट्र रूस के वास्तविक उद्देश्य पर ही संदेह कर रहे थे।

हेग-सम्मेलनों की असफलता का एक दूसरा कारण भी था। यूरोप के प्रत्येक देश में एक ऐसी पूँजीपति-वर्ग का विकास हो चुका था जिसका स्वार्थ हथियारबन्दी की होड़ जारी रखने में सधता था। राजनीतिक दृष्टि से यह वर्ग काफी शक्तिशाली था। सरकारों पर इसका अत्यधिक प्रभाव था। ये लोग अपने प्रभाव का दुरुपयोग करने में हिचकते नहीं थे। जब भी निरस्त्रीकरण पर विचार करने के लिए कोई सम्मेलन होता तो यह वर्ग अपनी सरकार पर अनुचित दबाव डालना शुरू कर देता था, जिससे निरस्त्रीकरण के किसी प्रस्ताव को वह नहीं माने। सरकारें भी इन पूँजीपतियों के विचारों की अवहेलना नहीं कर सकती थीं। दो हेग-सम्मेलनों की असफलता के लिए यह पूँजीपति-वर्ग बहुत अंश तक जिम्मेवार समझा जाता है।

हेग-सम्मेलनों की असफलता के लिए जर्मन-सरकार की भी कम जिम्मेवारी नहीं है। जर्मनी ने ही निरस्त्रीकरण प्रस्तावों को अस्वीकार करने में प्रमुख हाथ लिया था। जर्मनी के द्वारा पीछे चलकर यह दलील दी जाने लगी कि नाजुक अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति के पृष्ठाधार में वह निरस्त्रीकरण नहीं कर सकता। एक तरफ वह 'क्रूद्ध फ्रांस' तथा दूसरी तरफ 'दैत्य स्लावों' से घिरा हुआ था। ऐसी स्थिति में निरस्त्रीकरण उसके लिए असम्भव था। हेग-सम्मेलनों के बाद सेना और जहाजी बेड़ों के उत्पादन में किसी प्रकार की कमी के प्रस्ताव को सुनकर कैसर काफी खीझता था। उसकी दृष्टि में ऐसे प्रस्ताव उसकी राष्ट्रीय प्रभुसत्ता को एक प्रकार की चुनौती थी। ऐसी स्थिति में निरस्त्रीकरण पर विचार बिल्कुल बेकार था।*

इसमें कोई शक नहीं कि निरस्त्रीकरण के क्षेत्र में हेग-सम्मेलनों को कोई सफलता नहीं मिली; लेकिन इसका यह अर्थ नहीं है कि इन सम्मेलनों का काम एकदम व्यर्थ रहा। हेग-सम्मेलनों ने अन्तर्राष्ट्रीय विधि में अनेक नियम लागू किये और युद्ध के नियमों को मानवी रूप देने के अनेक प्रयत्न किये। हेग-सम्मेलनों का इससे भी अधिक महत्त्व का काम एक अन्तराष्ट्रीय स्थायी पंचायती न्यायालय (Permanent Court of Arbitration) की स्थापना करनी थी।† संस्थापना के बाद इस पंचायत ने राष्ट्रों के अनेक आपसी झगड़ों को तय किया। लेकिन राष्ट्रों के झगड़ों को पंचायत द्वारा फैसला कराने का यह प्रथम प्रयास था।

* Slosson : *Europe Since 1870*, p, 259-

† Hazen : *Modern European History*, p. 593.

जहाँ तक निरस्त्रीकरण का प्रश्न था, हेग-सम्मेलनों का प्रयास सर्वथा निष्फल रहा।

आंग्ल-जर्मन-नाविक प्रतिस्पर्धा
(Anglo-German Naval Rivalry)

प्रतिस्पर्धा का प्रारम्भ—हर देश के राष्ट्रीय जीवन में कुछ मर्मस्पर्शी स्थल होते हैं, जिनके ऊपर उसका अस्तित्व निर्भर करता है और इसलिए उसकी रक्षा के लिए वह बड़ा-से बड़ा बलिदान करने को तैयार रहता है। नौ-सेना ब्रिटेन के राष्ट्रीय जीवन का ऐसा ही मर्मस्पर्शी स्थल था। यूरोप का यह छोटा-सा टापू सब कुछ सह सकता था; लेकिन जब भी कोई उसकी शक्तिशाली नौ-सेना पर ललचायी निगाह से देखता तो वह व्यग्र हो जाता था। नौ-सेना ब्रिटेन के राष्ट्रीय एवं साम्राज्यवादी जीवन के लिए जीवन-मरण का प्रश्न था।

1 अक्टूबर, 1870 को जब फ्रांसीसी-प्रशा युद्ध चल रहा था उसी समय आयरलैंड का एक पत्रकार थामस डेविस ने "अयरिश सिटजेन" नामक एक पत्र में लिखा था कि प्रशा कभी ब्रिटेन का मित्र नहीं हो सकता। प्रशा की अपनी अभिलाषाएँ और महत्त्वाकांक्षाएँ हैं और उनमें से एक यह है कि वह एक प्रथम श्रेणी का सामुद्रिक शक्ति बन जाय। अगर प्रशा इस युद्ध में जीत गया तो वह केवल बेल्जियम इत्यादि देशों पर ही अधिकार नहीं कर लेगा, बल्कि वह टेम्स नदी के मुहाने तक भी चला आयेगा। इस आयरिश पत्रकार की भविष्यवाणी बहुत अंशों में ठीक नहीं निकली लेकिन इससे आंग्ल जर्मन नाविक प्रतिस्पर्धा का आभास लोगों को बहुत पहले मिल गया।

अपने युग का सर्वश्रेष्ठ कूटनीतिज्ञ बिस्मार्क ब्रिटेन के इस मर्मस्पर्शी स्थल से भली भाँति परिचित था। इसलिए प्रारम्भ में वह जर्मनी के औपनिवेशिक साम्राज्य का बहुत बड़ा विरोधी था। उसका कहना था कि उपनिवेश कायम करने का मतलब है नौ-सेना में वृद्धि करना और नौ-सेना में वृद्धि करने का अर्थ है ब्रिटेन की शत्रुता मोल लेना। बिस्मार्क इस प्रकार की जोखिम उठाने के लिए तैयार नहीं था। वह ब्रिटेन को खुश रखना चाहता था। इसके लिए यह आवश्यक था कि जर्मनी ब्रिटेन की नौ-सेना को किसी तरह की चुनौती नहीं दे। पीछे चलकर बिस्मार्क जर्मनी के औपनिवेशिक साम्राज्य का समर्थक हो गया। फिर भी उसने ब्रिटेन की सहानुभूति नहीं खोयी, बल्कि ब्रिटेन की शुभकामना प्राप्त करके उसने जर्मनी की औपनिवेशिक साम्राज्यवादी जीवन का श्रीगणेश किया। जब कैसर विलियम द्वितीय जर्मनी का कर्णधार बना तो उनको बिस्मार्क की यह नीति पसन्द नहीं आयी। वह विश्व-राजनीति में जर्मनी के लिए 'नये मार्ग' का समर्थक था। बिस्मार्क का कहना था कि जर्मनी को केवल जर्मनी की राजनीति तथा सुरक्षा से मतलब है। लेकिन कैसर यह मानने को तैयार नहीं था। वह विश्व-राजनीति में सक्रिय भाग

लेना चाहता था । 'विश्व राजनीति में जर्मनी'—सोते-जागते, उठते-बैठते, खाते-पीते कैसर इसी का सुख-स्वप्न देखा करता था ।* वह जर्मनी को संसार का शिरोमणी बना देना चाहता था । वह चाहता था कि जर्मनी संसार का नेतृत्व करे और उसकी अनुमति के बिना अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में पत्ता तक न हिले । इसके लिए संसार में जर्मनी का औपनिवेशिक साम्राज्य कायम होना आवश्यक था । लेकिन, उपनिवेश की स्थापना के लिए शक्तिशाली सेना का होना जरूरी है । जर्मनी के पास पहले से एक जबर्दस्त स्थल सेना थी । पर नौ–सेना में उसका स्थान बिल्कुल नगण्य था । कैसर के लिए यह स्थिति असह्य थी । जब तक नौ-सेना नहीं होगी तब तक उपनिवेश नहीं होंगे; जब तक उपनिवेश नहीं होंगे तब तक जर्मनी विश्व का महान् राष्ट्र नहीं कहलायेगा और जब तक जर्मनी महान् राष्ट्र नहीं होगा तब तक विश्व–राजनीति में उसका दबदबा नहीं कायम होगा । अतः कैसर के लिए नौ-सेना एक जीवन-मरण का प्रश्न हो गया और इसकी वृद्धि के लिए वह जी-जान से तुल गया । विलियम ने स्पष्ट शब्दों में एक बार कहा था कि जर्मनी का भविष्य समुद्र पर है ।†

ब्रिटिश प्रतिक्रिया—इस दशा में ब्रिटेन और जर्मनी के बीच विरोध का उत्पन्न हो जाना स्वाभाविक था । ब्रिटेन यह नहीं सह सकता था कि उसके सामुद्रिक आधिपत्य को कोई दूसरा राज्य नष्ट करने का प्रयत्न करे या उसका कोई नया प्रतिद्वन्द्वी मैदान में उतर आये । कैसर विलियम की प्रेरणा से जर्मनी की नाविक शक्ति दिन दूनी और रात चौगुनी बढ़ रही थी । यद्यपि कैसर बार-बार कहा करता था कि उसका उद्देश्य ब्रिटेन से लोहा लेना नहीं वरन् आत्म-रक्षा है; पर अँगरेज इसके वास्तविक अभिप्राय को भली भाँति समझते थे । वे अच्छी तरह अनुभव करते थे कि जर्मनी के रूप में एक नया प्रतिद्वन्द्वी उनके सामुद्रिक एकाधिपत्य को नष्ट करने के लिए उत्पन्न हो रहा है और यदि शीघ्र ही उसकी बढ़ती हुई शक्ति को नष्ट नहीं किया जायगा तो ब्रिटेन का सामुद्रिक उत्कर्ष नष्ट हुए बिना न रहेगा ।‡ नौ-सेना के क्षेत्र में ब्रिटेन जर्मनी का किसी भी मूल्य पर विरोध करने को तैयार था । इस तरह विश्व-इतिहास में नाविक प्रतिस्पर्धा का एक बहुत बड़ा नाटक प्रारम्भ होने वाला था । इस नाटक का नायक स्वयं कैसर था । इसके अतिरिक्त उसको नौ-सेना सम्बन्धी विषयों में राय देनेवाला व्यक्ति टिरपिट्ज था । जर्मन नौ-सेना का यह प्रमुख अधिपति कैसर को बराबर उसकाता रहता था ।

बोअर युद्ध का अनुभव :—बोअर युद्ध के समय सबसे पहले जर्मनी ने यह अनुभव किया कि जब तक वह अपनी सामुद्रिक शक्ति को नहीं बढ़ा लेता तब

* Petrie : *Diplomatic History*, p. 239.

† Marriot : *Europe and Beyond*. p. 191.

‡ Mansergh : *the Coming of the First World War*, pp. 139-140.

तक वह विश्व-राजनीति में सफलतापूर्वक हस्तक्षेप नहीं कर सकता। बोअर-युद्ध में जर्मनी की सहानुभूति बोअरों के पक्ष में थी। लेकिन नौ-सेना के अभाव में जर्मनी बोअरों को कोई विशेष मदद नहीं दे सका। यदि विश्व-राजनीति में जर्मनी को अपनी आवाज बुलन्द करना है तो नौ सेना में वृद्धि करना अति आवश्यक था। टिरपिट्ज जो बेखटके कैसर के पास पहुँच सकता था, बराबर उसको इस बात की याद दिलाता रहता था।

यहाँ यह बतला देना आवश्यक है कि जर्मनी में नौ-सेना का सृजन ब्रिटेन पर आक्रमण करने के लिए नहीं हो रहा था। कैसर और टिरपिट्ज में से किसी का ऐसा खयाल नहीं था। टिरपिट्ज केवल एक जोखिम नौ-सेना (risk navy) तैयार करना चाहता था, जो ब्रिटेन को हमेशा सशंकित रखे और जिसके बल पर जर्मनी विश्व-राजनीति में अपने विचारों को कार्यान्वित करा सके। इसके लिए वह नौ-सेना के क्षेत्र में ब्रिटेन के स्तर पर पहुँचना चाहता था। 1897 में 'सटरडे रिव्यू' में एक प्रकाशित लेख ने जर्मनी की नौ-सेना में वृद्धि को और प्रोत्साहित किया। उन मूर्खतापूर्ण लेख में यह कहा गया था कि यदि जर्मनी को अगले दिन नष्ट कर दिया जाय तो उसके फलस्वरूप प्रत्येक अँगरेज बात की बात में धनवान बन जायेगा। जर्मनी में इस लेख का काफी प्रचार किया गया और जर्मनी-संसद् को पक्ष में करने का यह एक बहुत बड़ा साधन हो गया।

जर्मनी का प्रयास :—इन्हीं भावनाओं से प्रेरित होकर जर्मन-संसद् ने 1898 में प्रथम नौ-सेना विधेयक को स्वीकृत किया। इस विधेयक के अनुसार जर्मनी-सरकार को एक सुसंगठित जहाजी बेड़ा तैयार करने की अनुमति मिल गयी जिससे जर्मनी के तट की रक्षा आसानी से हो सकती थी। टिरपिट्ज ने संसद् के सदस्यों को आश्वासन दिया कि इस विधेयक के अनुसार 1904 आते-आते जर्मनी की नौ-सेना इतनी शक्तिशाली हो जायेगी जिसकी कोई अवहेलना नहीं कर सकेगा।

1898 की योजना के अनुसार जो जहाजी बेड़े बन रहे थे वे जर्मनी के तट की रक्षा के लिए पर्याप्त थे। लेकिन वे दूर के समुद्रों में कोई काम नहीं कर सकते थे। सभी बड़े राष्ट्र अपने समुद्री बेड़ों को बढ़ा रहे थे। जर्मनी उनसे अभी बहुत पीछे था। टिरपिट्ज का विश्वास था कि समुद्री बेड़े में काफी वृद्धि किये बिना जर्मनी विश्व-राजनीति में अन्य देशों के समकक्ष अपना उचित स्थान नहीं प्राप्त कर सकता था। इसके अतिरिक्त चान्सलर बूलो का भी कहना था—"तूफान किसी भी क्षण उठ सकते हैं। भूमि अथवा समुद्र पर अचानक होनेवाले किसी भी आक्रमण का सामना करने के लिए हमें हमेशा तैयार रहना चाहिए। हमारे पास इतना सशक्त जहाजी बेड़ा होना चाहिए कि वह किसी भी बड़े राष्ट्र के

आक्रमण को रोक सके। द्वितीय नौ—सेना विधेयक को प्रस्तावित करने के लिए अब उपयुक्त अवसर आ गया है।"

अतः 1900 में द्वितीय नौ-सेना-विधेयक को भी जर्मन-संसद् की स्वीकृति मिल गयी। इस विधेयक का उद्देश्य जर्मनी की सामुद्रिक शक्ति को दुगुना कर देना था। इसके अन्तर्गत 16 वर्गों में 34 लड़ाई के जहाज बनाये जानेवाले थे। इसके अतिरिक्त क्रूजर जहाज, टर्पीडो-नाव तथा छोटे जहाजों के उत्पादन को भी बढ़ाने का उद्देश्य था। 1900 के विधेयक का उद्देश्य जर्मनी के सामुद्रिक बेड़े को इतना शक्तिशाली बनाना था कि उसके विरुद्ध सबसे अधिक शक्तिशाली नौ-सैनिक प्रतिद्वन्द्वी की स्थिति और प्रधानता भी डाँवाडोल हो जाय। बूलो ने कहा—"हमें अपने जहाजी बेड़ों को ब्रिटेन की नाविक नीति को देखकर बनाना चाहिए। हम किसी पर आक्रमण करने का विचार नहीं रखते। परन्तु हमारी उपेक्षा नहीं की जा सकती।" इस तरह जर्मनी अपनी सामुद्रिक शक्ति बढ़ाने के लिए जी-तोड़ परिश्रम करने लगा।

ब्रिटिश-प्रतिक्रिया—इतना होने पर भी जर्मनी की जहाजी शक्ति अभी इतनी नहीं बढ़ पायी थी कि वह ब्रिटेन के सामुद्रिक एकाधिपत्य को चुनौती दे सके। पर 1904 आते-आते जर्मनी की बढ़ती हुई सामुद्रिक शक्ति ब्रिटेन के लिए गम्भीर चिन्ता का विषय बन गयी। इस समय तक ब्रिटेन कई बार जर्मनी से मित्रता करने का प्रस्ताव रख चुका था। लेकिन जर्मनी ने उन प्रस्तावों को ठुकरा दिया था। अब ब्रिटेन के लिए इस संकट का सामना करने के लिए कुछ करना आवश्यक था। उसने तुरत अपनी 'शानदार पृथकता' की नीति का परित्याग कर दिया और जापान तथा उसके बाद फ्रांस से संधि कर ली। इसके बाद जर्मनी की नाविक प्रगति को रोकने के लिए वह तैयार हो गया। 1903 में ब्रिटेन ने यह निश्चय किया कि रोजीथ में एक प्रथम श्रेणी का नौ-सैनिक-दुर्ग बनाया जाय। इसके साथ प्रति वर्ष चार लड़ाकू जहाज बनाने का निर्णय भी किया गया। 1904 में सर जान फिशर ब्रिटिश नौ सेना का प्रमुख अधिकारी नियुक्त किया गया। उसने ब्रिटिश नौ-सेना की वृद्धि में प्रबल नीति का अवलम्बन किया। ब्रिटिश नौ-सेना को पुनर्संगठित किया गया और ब्रिटेन के अधिकांश जहाजों को निकट के समुद्रों में केन्द्रीभूत करने का काम भी आरम्भ हो गया। पुराने जहाज नष्ट कर दिये गये और अक्टूबर 1905 से 'ड्रेडनाट' नामक एक नए किस्म का जहाज बनाने का काम शुरू हुआ। 'ड्रेडनाट' दुनिया का सबसे बड़ा और सबसे अधिक शस्त्रों से सुसज्जित लड़ाकू जहाज था।

राजनीतिक तनाव :—'ड्रेडनाट' के निर्माण से जर्मनी में सनसनी फैल गयी। इसी समय एक दूसरी असाधारण घटना घटी। 1905 के प्रारम्भ में ब्रिटिश मंत्रि-

मंडल के नौ-सेना-मंत्री आर्थर ली का अपने चुनाव क्षेत्र में एक भाषण हुआ। वह भाषण, जिसका संकेत जर्मनी के तरफ था, धमकियों से भरा पड़ा था। अँगरेजी जहाजों को निकट के समुद्रों में एकत्र करने की नीति का स्पष्टीकरण करते हुए उसने अपने श्रोताओं से अनुरोध किया कि वे अपना ध्यान हर समुद्र से हटाकर उत्तरी सागर की ओर लगायें। यदि युद्ध की घोषणा हुई तो शत्रु को सूचना मिलने के पूर्व ही उस पर आक्रमण कर दिया जायगा। बाद में ली ने समाचार पत्रों में प्रकाशित अपने भाषण का खंडन किया और पत्रकारों पर यह आरोप लगाया कि उसके भाषण को गलत रूप में छापा गया है। लेकिन, जर्मनी में इस खंडन का कोई प्रभाव नहीं पड़ा। उधर 'ड्रेडनाट' का निर्माण चल रहा था, जर्मनी में भय की भावना और गहरी हो गयी। चारों तरफ से टिरपिट्ज से यह माँग की जाने लगी कि जर्मनी को अपनी नौ-सेना में और अधिक वृद्धि करनी चाहिए। नतीजा यह हुआ कि 1906 में जर्मनी में एक दूसरा नौ-सेना-विधेयक पास हो गया। इसके द्वारा छह हजार बड़े क्रूजर-जहाजों को बनाने की स्वीकृति तथा कील-नहर को और अधिक विस्तृत करने की अनुमति मिल गयी। ऐसी स्थिति में दोनों का सम्बन्ध दिनों-दिन बिगड़ने लगा। दानो देशों के समाचारपत्र एक दूसरे पर आग उगलने लगे। लंदन स्थित जर्मन-राजदूत मेटरनिक को इस तनातनी के स्वरूप को समझने में देर नही लगी। उसने लिखा— राजन तिक तनाव का मुख्य कारण हमारे जहाजी बेड़े का बढ़ता हुआ महत्त्व है।"*

कैसर और टिरपिट्ज को इस राजनीतिक तनाव से कोई भय नहीं था। टिरपिट्ज अब दूसरा ही सुनहला स्वप्न देख रहा था। ड्रेडनाट' अभी एक बिल्कुल नये तरीके का जहाज था और इसके सामने पुराने तरीके के सभी जहाज महत्त्वहीन हो गये थे। ब्रिटेन में भी अभी इसका काफी उत्पादन नहीं हो सका था। अगर जर्मनी 'ड्रेडनाट'-जैसा जहाज बनाना शुरू कर दे तो वह दिन दूर नहीं जब जहाजों के उत्पादन में वह ब्रिटेन को तुरत पकड़ ले। टिरपिट्ज का यह अनुमान गलत नहीं था। लेकिन उसने यह नहीं सोचा कि 'ड्रेडनाट' की होड़ से आंग्ल-जर्मन सम्बन्ध किस हद तक खराब हो सकता है। इसको समझनेवाला सम्पूर्ण जर्मन-सरकार में केवल एक ही व्यक्ति था—लंदनस्थित जर्मन-राजदूत काउन्ट मेटरनिक। वह बराबर कैसर को चेतावनी देता रहता था। पर कैसर किसी भी हालत में जहाजों के उत्पादन में कमी करने को तैयार नहीं था। वह मेटरनिक की चेतावनियों पर काफी रंज होता था। उसने मेटरनिक को लिख भेजा-"मैं जर्मनी के जहाजी बेड़ों के मूल्य पर ब्रिटेन की दोस्ती नहीं चाहता। जर्मनी की नौ-सेना का विकास किसी देश के विरुद्ध नहीं किया जा रहा है और ब्रिटेन के

* G. P. Gooch : *History of Modern Europe, p. 283.*

खिलाफ तो एकदम नहीं। यह हमलोगों की आवश्यकता है। कोई खुश रहे या नाखुश। हम इसकी परवाह नहीं करते। अगर वे युद्ध करना चाहते हैं तो उन्हें कोई रोक नहीं सकता; लेकिन हमलोग भी युद्ध से डरते नहीं हैं।"

कैसर किसी भी हालत में प्रतिस्पर्धा बन्द करने के लिए तैयार नहीं था। इसी समय ब्रिटेन में लिबरल पार्टी की सरकार बनी। चुनाव में लिबरल पार्टी ने निरस्त्रीकरण के लिए प्रयास करने का वादा किया था। इस वादा के अनुसार कैम्पबेल-बेनरमैन ने कैसर के समक्ष निरस्त्रीकरण के कुछ प्रस्ताव रखे। लेकिन, कैसर इसको मानने के लिए तैयार नहीं हुआ। इसी समय हेग में द्वितीय अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन का आयोजन हुआ। कैसर ने पहले ही यह स्पष्ट कर दिया कि यदि आगामी हेग-सम्मेलन में निरस्त्रीकरण का प्रश्न उठाने का प्रस्ताव किया गया तो वह जर्मनी से कोई प्रतिनिधि नहीं भेजेगा। कुछ आश्वासन के बाद जर्मनी का प्रतिनिधि हेग-सम्मेलन में सम्मिलित हुआ। लेकिन सम्मेलन में जर्मनी ने निरस्त्रीकरण पर सभी प्रस्ताव नामंजूर कर दिये। नौ-सेना-सम्बन्धी बातों पर जर्मनी इतना डटा हुआ था कि किसी सर्वमान्य निर्णय पर पहुँचना कठिन था।

आंग्ल-रूसी सन्धि के कारण भी जर्मनी-सरकार नाविक हथियारबन्दी के सम्बन्ध में वार्तालाप करने को तैयार नहीं थी। 1907 के बाद ब्रिटेन की तरफ से इस विषय पर जो भी प्रस्ताव होता उस पर जर्मन-सरकार सन्देह की दृष्टि से विचार करती थी। जर्मनी के शासकों को ऐसा लगता था कि ब्रिटेन, फ्रांस और रूस मिलकर षड्यन्त्र रचते हैं और उसी के आधार पर योजना बनाकर इस तरह के प्रस्ताव उपस्थित करते हैं।* ब्रिटेन एक तरफ असंख्य ड्रेडनाट बनाने की तैयारी कर रहा था और दूसरी तरफ नाविक हथियारबन्दी पर नियन्त्रण करने का प्रस्ताव रख रहा था। कैसर इसको 'कुटिल चालबाजी' कहता था। उसके विचार में ब्रिटेन इस तरह का प्रस्ताव रखकर जर्मनी की नौ-सेना को सीमित करना चाहता था और दूसरी तरफ से उसको चारों तरफ से घेरने का प्रयास भी। 1908 में सप्तम एडवर्ड ने फ्रांसीसी तथा रूसी शासकों से मुलकात की। इस वर्ष के मई में फ्रांस का राष्ट्रपति लन्दन आया। उसके आगमन के अवसर पर ब्रिटिश-विदेश मन्त्रालय ने एक प्रीतिभोज का आयोजन किया। इस प्रीतिभोज में तीन देश—ब्रिटेन, फ्रांस तथा रूस—के राजदूतों और पदाधिकारियों को आमन्त्रित किया गया था। जर्मनी को जानबूझकर इसमें सम्मिलित नहीं किया गया। फिर, जून महीने में सप्तम एडवर्ड जार से मुलाकात करने के लिए रूस गया। वह अपने साथ एडमिरल फिशर को भी लेते गया था। एडवर्ड के साथ फिशर का रूस जाना काफी महत्त्वपूर्ण था।

* N. Mansergh : *The Coming of the First World War*, p. 142.

जर्मनी ने समझा कि दाल में कुछ काला अवश्य है। तनाव और मनमुटाव के इस वातावरण में किसी प्रकार का समझौता होना एकदम असम्भव था।*

यह मनमुटाव काफी गहरा हो चुका था। यहाँ तक कि 1907 के कैसर की विन्डसर-यात्रा से भी यह नहीं भर सका। उस वर्ष नवम्बर महीने में कैसर ब्रिटेन पधारा। ब्रिटेन पहुँचकर उसने कहा, "ऐसा जान पड़ता है मानों मैं एक बार फिर अपने घर लौट आया हूँ। यहाँ आने पर मुझे बड़ी प्रसन्नता होती है।" ब्रिटिश समाचार पत्रों ने कैसर का अपूर्व स्वागत किया। इसको देखकर जर्मन-संसद् में बूलो ने कहा—"हमारे सम्राट् और सम्राज्ञी का ब्रिटेन के शासक और जनता के द्वारा जो स्वागत किया गया है उसके सम्बन्ध में मैं अपना सन्तोष प्रगट करना चाहता हूँ। मैं समझता हूँ कि हमलोगों के देश में जो तनातनी है वह केवल गलतफहमी पर आधारित है।" लेकिन ये सब कूटनीति के शब्द थे। वास्तव में दोनों देशों के बीच सद्भावना का नामोनिशान नहीं था।†

कैसर की ब्रिटेन-यात्रा के परिणामस्वरूप ब्रिटेन और जर्मनी के बीच थोड़ा बहुत जो अच्छा सम्बन्ध कायम हुआ था वह ट्वीडमाउथ-पत्र के प्रकाशन से समाप्त हो गया। 6 मार्च, 1908 को लन्दन के 'टाइम्स' अखबार ने एक पत्र प्रकाशित किया, जिसका शीर्षक था 'हमारा शासक कौन ?' यह पत्र उस पत्र का सारांश था जो कैसर ने लार्ड ट्वीडमाउथ को नौ-सेना की नीति के सम्बन्ध में लिखा था और जिसके द्वारा वह ट्वीडमाउथ को प्रभावित करना चाहता था। इस सनसनी खेज समाचार के प्रकाशन के बाद ब्रिटेन और जर्मनी में सरकारी तौर पर इस पत्र और इसके उत्तर को प्रकाशित करने की माँग की जाने लगी। लेकिन दोनों सरकारों ने ऐसा करने से इन्कार कर दिया। इन पत्रों का कोई खास महत्त्व नहीं था; क्योंकि ये अनौपचारिक ढंग से लिखे गये थे। लेकिन इसके कारण ब्रिटेन में एक बहुत बड़ा तूफान उठ खड़ा हुआ। आंग्ल-जर्मन सम्बन्ध और भी खराब होने लगा। दिनों-दिन बिगड़ते हुए इस सम्बन्ध को कैसर ने 'डेली टेलिग्राफ' के संवाददाता से भेंट करके और खराब कर दिया। ब्रिटेन के इस समाचारपत्र में प्रकाशित कराने के लिए कैसर ने एक वक्तव्य दिया था। इस वक्तव्य का उद्देश्य दोनों देशों का सम्बन्ध अच्छा करना था। लेकिन नतीजा उलटा ही हुआ। इस वक्तव्य में कैसर ने स्वीकार किया था कि जर्मनी की अधिकांश जनता ब्रिटेन-विरोधी है। कैसर द्वारा सार्वजनिक तौर पर इस तरह की बात कबूल करना एक गलत काम था। इस तरह की बातों से दो देशों के बिगड़े हुए सम्बन्ध में कोई सुधार नहीं हो सकता था।

* Brandenburg : *From Bismarck to the Great War*, p. 204.

† G. P. Gooch : *History of Modern Europe*, p. 286.

1908 में टिरपिट्ज की मांग पर जर्मन-संसद् ने प्रतिवर्ष चार बड़े जहाजों को बनाने की अनुमती दे दी इस पर ब्रिटेन में काफी असन्तोष फैला। जर्मन-राजदूत काउन्ट मेटरनिक अपने देश के साथ ब्रिटेन के गिरते हुए सम्बन्ध को देखकर काफी दुःखी था। उसने बूलो को लिख भेजा कि जिस तेजी के साथ जर्मन नौ-सेना की वृद्धि हो रही है उसका ब्रिटेन पर बहुत बुरा असर पड़ रहा है। अतः उसने बूलो को यह सलाह दी कि जर्मनी जहाजों के निर्माण में कमी करे और इस विषय पर ब्रिटेन के साथ समझौता कर ले। व्यक्तिगत रूप से बूलो इस सुझाव से सहमत था। लेकिन, एडमिरल टिरपिट्ज काउन्ट मेटरनिक के विचारों का कोई महत्त्व नहीं देता था। टिरपिट्ज की पहुँच सीधे कैसर के पास थी और वह बूलो की परवाह नहीं करता था। जब बूलो ने नौ-सेना सम्बन्धी नीति को लेकर उस पर कुछ दबाव डाला तो टिरपिट्ज पदत्याग करने की धमकी देने लगा। हार मानकर बूलो ने इस क्षेत्र में प्रयास करना ही छोड़ दिया।

जैसा कि काउन्ट मेटरनिक ने अनुमान किया था, ब्रिटेन में जर्मनी के विरूद्ध उत्तेजना बढ़ रही थी। जर्मनी के नये नौ-सेना-विधेयक का सामना करने के लिए ब्रिटेन ने प्रतिवर्ष छह 'ड्रेडनाट' बनाने का निश्चय किया। ब्रिटिश-नौ-सेना के मंत्री मैकेना ने लोगों को बतलाया कि 'साम्राज्य की सुरक्षा खतरे में है।' उधर बेलफोर ने यह घोषणा की कि 1912 तक जर्मनी के पास 25 'ड्रेडनाट' हो जायेंगे। इस अतिरंजित घोषणा से सारे देश में घबड़ाहट की एक लहर फैल गयी। ब्रिटिश जनता ने माँग की कि ब्रिटेन को प्रतिवर्ष आठ 'ड्रेडनाट' बनाने चाहिए। "हमलोग आठ की माँग करते हैं, हम विलम्ब नहीं चाहते।"* जनता की यही आवाज थी। अन्त में ब्रिटिश-संसद् को आठ 'ड्रेडनाटों' के निर्माण की अनुमति देनी पड़ी।

1909 में बूलो को चान्सलर के पद से इस्तीफा दे देना पड़ा। उसकी जगह पर बेथमान-हौलवेग की नियुक्ति हुई। नया चान्सलर नौ-सेना में वृद्धि को सीमित करने के विषय पर काउन्ट मेटरनिक के विचारों से सहमत था। वह नौ-सेना के सम्बन्ध में ब्रिटेन से बातचीत करना चाहता था। इसी उद्देश्य से उसने ब्रिटिश राजदूत गोरचन से बातचीत भी शुरू कर दी। लेकिन इस बातचीत का कोई फल नहीं निकला। इसके बाद यूरोप की राजनीति में अगादीर का संकट आ उपस्थित हुआ। अगादीर-काण्ड के कारण ब्रिटेन और जर्मनी का रहा-सहा सम्बन्ध भी जाता रहा।

अगादीर-काण्ड को लेकर जर्मनी और ब्रिटेन के बीच युद्ध होते-होते बचा था। इस कारण दोनों पक्षों के लोग सशंकित हो उठे थे। उनका विचार था

* "We want eight we won't wait."

कि यदि नौ-सैनिक प्रतिस्पर्धा पर दोनों देशों के बीच कोई समझौता हो जाय तो अच्छा है। जर्मनी भी अब वार्तालाप करने के पक्ष में था। इस वातावरण में यह प्रस्ताव रखा गया कि सर एडवर्ड ग्रे शीघ्र ही जर्मनी जायँ। अलबर्ट बालिन तथा सर आर्नेस्ट कासेल इन दो गैर सरकारी व्यक्तियों की मध्यस्थता से लंदन और बर्लिन के बीच विचारों का प्रत्यक्ष आदान-प्रदान वांछनीय हो गया। प्रारम्भिक बातचीत के बाद निश्चित किया गया कि व्यक्तिगत हैसियत से लॉर्ड हॉल्डेन को जर्मनी भेजा जाय। 8 फरवरी, 1912 को लॉर्ड हॉल्डेन बर्लिन पहुँच गया।

हाल्डेन-मिशन—हाल्डेन की बर्लिन-यात्रा का कोई फल नहीं निकला; क्योंकि जर्मन-सरकार नौ-सेना की वृद्धि में किसी प्रकार की कमी नहीं करना चाहती थी। नौ-सेना में किसी प्रकार की कमी करने के पूर्व बेथमान हौलवेग ब्रिटेन के साथ कुछ राजनीतिक समझौता कर लेना चाहता था। उसका प्रस्ताव था कि यदि जर्मनी किसी युद्ध में फँस जाय तो वैसी हालत में ब्रिटेन तटस्थ रहने का वादा कर दे। लेकिन, इस बात को ब्रिटिश-सरकार मानने को तैयार नहीं थी। उसका कहना था कि नौ-सेना की समस्या असल समस्या है और जब तक इसका समाधान नहीं हो जाता तब तक किसी प्रकार का राजनीतिक समझौता नहीं हो सकता। हाल्डेन-मिशन असफल हो गया। निष्फल वार्तालाप के बाद हाल्डेन लंदन वापस आ गया। जून 1912 में जर्मनी में एक और नया नौ-सेना-विधेयक पास हुआ। इस विधेयक के अनुसार जर्मनी में जहाज-निर्माण का काम और तेजी से शुरू हुआ। नौ-सेना की प्रतिस्पर्धा को सीमित करने के सभी प्रयत्न असफल हो गये। ब्रिटिश-सरकार को भी अपने जहाजों के निर्माण में वृद्धि करने का निर्णय लेना पड़ा। नयी परिस्थिति का मुकाबला करने के लिए उसने समीप के समुद्रों में लड़ाई के जहाजों को और अधिक केन्द्रीभूत करना शुरू किया। इसके बाद भी मि० चर्चिल ने मार्च, 1913 में 'नाविक छुट्टी' (naval holiday) का प्रस्ताव रखा। इसका उद्देश्य था कि कुछ दिनों के लिए दोनों देश नौ-सेना की होड़ को स्थगित कर दें। जर्मनी ने इस प्रस्ताव को भी नामंजूर कर दिया।

फरवरी, 1914 में कैसर ने आंग्ल-जर्मन नौ-सेना प्रतिस्पर्धा पर अपना अन्तिम फैसला दे दिया। उस महीने उसने बेथमान-हौलवेग को एक पत्र लिखा। उस पत्र में उसने स्पष्ट कर दिया कि नौ-सेना सम्बन्धी समझौता के लिए अब वार्तालाप करना अनावश्यक है। उसने लिखा था—"मेरा विचार है कि नौ-सेना सम्बन्धी वार्ताओं को हमेशा के लिए बन्द कर दिया जाय।" आंग्ल-जर्मन-वार्तालाप का निश्चित रूप से अब अन्त हो चुका था।

वार्तालाप का अन्त—इस प्रकार नाविक प्रतिस्पर्धा से संबंधित एक लम्बे-चौड़े कूटनीतिक वार्तालाप का अन्त हो गया। इसका परिणाम जर्मनी के हक में अच्छा नहीं हुआ। जर्मनी को इस विषय पर ब्रिटेन के साथ किसी तरह का समझौता कर लेना चाहिए था। लेकिन ऐसा नहीं हो सका। इसके लिए स्वयं कैसर बहुत अंशों तक जिम्मेवार था। एडमिरल टिरपिट्ज की जिम्मेवारी भी कोई कम नहीं थी। जर्मनी के लिए वार्तालाप की असफलता अत्यन्त घातक सिद्ध हुआ। जर्मनी ने जान-बूझकर ब्रिटेन के साथ समझौता नहीं किया। यह उसकी एक भयंकर भूल थी। ऐसी स्थिति में ब्रिटेन के लिए यह जरूरी हो गया कि वह भावी युद्ध के लिए तैयार हो जाय। नौ-सेना उसके जीवन-मरण का प्रश्न था।

———

अध्याय नौ

नवीन साम्राज्यवाद और उसके प्रेरक तत्त्व

साम्राज्यवाद का महत्त्व—प्रथम अध्याय में हम नवीन साम्राज्यवाद की उत्पत्ति का वर्णन कर चुके हैं। आधुनिक युग की विश्व-राजनीति में यह सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। उन्नीसवीं शताब्दी के द्वितीय चरण में यूरोप के विविध देशों द्वारा गैर यूरोपीय देशों की लूट और बँटवारा की प्रक्रिया के फलस्वरूप यूरोपीय राजनीति का स्वरूप बदल गया। यूरोपीय कूटनीति विश्व-राजनीति (world politics) में परिणत हो गयी और यूरोप का इतिहास विश्व का इतिहास बन गया। इस युग में अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के क्षेत्र में जो भी प्रमुख घटनाएँ घटित हुईं वे साम्राज्यवाद के परिणाम थीं।*

उन्नीसवीं शताब्दी का प्रथम चरण "औपनिवेशिक उदासीनता" का युग था। परन्तु 1870 के बाद यूरोपीय राज्यों की औपनिवेशिक नीति में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुआ और कई कारणों से "औपनिवेशिक उदासीनता" के युग का अन्त हो गया। 1880 तक नवीन साम्राज्यवाद ने काफी जोर पकड़ लिया। आगे के पचीस वर्षों में संसार के अधिकृत तथा पिछड़े हुए क्षेत्रों पर अधिकार करने के लिए यूरोप की महाशक्तियों में भयंकर प्रतिस्पर्धा शुरू हुई जिसके फलस्वरूप उन्होंने समस्त अफ्रिका को आपस में बाँट लिया और एशिया के कई प्रदेशों तथा प्रशान्त महासागर के अनेक द्वीपों पर अधिकार कर लिया। इस औपनिवेशिक होड़ के मुख्य प्रतिस्पर्धी ब्रिटेन, फ्रांस और जर्मनी थे, लेकिन यूरोप के छोटे-छोटे देश भी उपनिवेश के लोभ को रोक नहीं सके और कुछ प्रदेशों पर उनका आधिपत्य भी कायम हो गया।

नवीन साम्राज्यवाद के आधार

इस युग में साम्राज्यवाद की नव जागृति किसी एक या विशेष कारण से नहीं हुई। केवल किसी तर्क के आधार पर या आर्थिक आवश्यकता के कारण ही नहीं वरन् अनेक कारणों के समिश्रण के फलस्वरूप यूरोपीय देशों में नवीन साम्राज्यवाद की भावना का विकास हुआ। इसलिए साम्राज्यवाद के इतिहास का अध्ययन उसके कारण और आधार से ही शुरू होना चाहिए।

* "...The recent history of international relations, the alliances, ententes, crisis and war reveal a new meaning. Almost without exception they were but surface manifestations of the swift, deep current of imperialism."

—P. T. Moon : *Imperialism, and World Politics* p. 3.

आर्थिक करण

"अतिरिक्त उत्पादन"—नवीन साम्राज्यवाद के विकास में औद्योगिक क्रान्ति ने बड़ी सहायता की। 1871 के बाद फ्रांस, जर्मनी, इटली तथा संयुक्त राज्य अमेरिका का औद्योगीकरण बड़े जोर से हो रहा था और उन देशों का उत्पादन बड़ी तेजी से बढ़ रहा था। इसके कारण सूती कपड़े और लोहे के उत्पादन में ब्रिटिश एकाधिकार पर गहरा आघात पहुँचने लगा था। औद्योगिक प्रतिस्पर्धियों के उत्पन्न हो जाने से ब्रिटेन को अपने माल को बेचने की चिन्ता हो रही थी। इसी समय यूरोप के विविध देश संरक्षण नीति को अपना रहे थे। इस नीति के आधार पर उन्होंने अपने यहाँ बाहर से आनेवाले माल पर भारी कर लगाना आरम्भ किया जिससे विभिन्न देशों के बाजार विदेशी माल के लिए बन्द हो गये। इस कारण औद्योगिक देशों को अपना अतिरिक्त माल (surplus manufactures) बेचने के लिए नये बाजार ढूढ़ने की आवश्यकता पड़ी।

इस समस्या के समाधान का एक ही उपाय था—उपनिवेशो की स्थापना। अधीनस्थ उपनिवेशों में प्रतिस्पर्धी देशों द्वारा किसी प्रकार की रूकावट के लगाये जाने का कोई डर नहीं था। यही कारण है कि उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में जब यूरोप में सर्वत्र संरक्षण की नीति जारी थी, यूरोप का खूब औपनिवेशिक विस्तार हुआ। इस प्रकार इस काल में, यूरोप के औपनिवेशिक विस्तार का एक मुख्य कारण "अतिरिक्त उत्पादन" साबित हुआ।*

उदाहरणार्थ, हेनरी स्टानले ने ब्रिटेन के रूई के व्यावसायियों के समक्ष यह दलील रखी कि यदि अफ्रिका के लोग कपड़े पहने की आदत डाल लें तो लाखों मीटर की खपत वहाँ आसानी से हो सकती है, इसके बाद रूई तथा कपड़े के व्यवसायी साम्राज्यवादी के कट्टर समर्थक हो गये, क्योंकि उनके अतिरिक्त माल के खपत के लिए यह सर्वोत्तम उपाय था।

अतिरिक्त पूँजी—अतिरिक्त पूँजी (surplus capital) की समस्या साम्राज्यवाद का दूसरा प्रेरक तत्त्व था। औद्योगिक क्रांति के परिणामस्वरूप यूरोप के देशों में अत्यधिक धन इकट्ठा हो गया। उत्पादन वृहत् पैमाने पर हुआ और चीजों की बिक्री भी खूब हुई। अब उन देशों में बड़े-बड़े पूँजीपतियों का एक वर्ग तैयार हो गया। बहुत मुनाफे के कारण उनके पास बड़ी-बड़ी पूँजी इकट्ठी हो गयी। इस हालत में अब यह प्रश्न उठा कि इस अतिरिक्त पूँजी को कहाँ लगाया जाय ताकि इससे लाभ होता रहे। इस पूँजी को अपने देश में लगाने से विशेष लाभ की कोई आशा नहीं थी। अधिक लाभ की

* F. Lugard : *The Rise of Our East African Empire*, p. 585.
† Hayes and Cole : *History of Europe* (vol. ii), p. 29.

दृष्टि से वे अपनी पूँजी अन्यत्र लगाना चाहते थे। 1870 के पहले भी अतिरिक्त पूँजी की समस्या थी। उस समय बहुत-सी पूँजी व्याज की ऊँची दर पर स्पेनिश अमेरिका तथा अन्य पिछड़े हुए देशो को ऋण के रूप में दी जाती थी। लेकिन ये ऋण प्रायः मारे जाते थे। यह देखकर बड़े-बड़े पूँजीपति यही अच्छा समझते थे कि अतिरिक्त पूँजी अपने ही देश के उपनिवेशो में रेल, खान आदि में लगायी जाय ताकि उन्हें पर्याप्त मुनाफा भी मिले और पूँजी भी न मारी जाय। इस प्रकार यूरोपीय देशो के "अतिरिक्त पूँजी" वाले पूँजीपतियों ने अ नी सरकारों को उपनिवेश स्थापना के लिए प्रेरित किया। मोरक्को में फ्रांस के साम्राज्यवाद का स्थापना मुख्यतः इसी तत्त्व का परिणाम था।

यातायात के साधन— औद्योगिक क्रांति के फलस्वरूप यातायात के साधनों का विकास हुआ। भाप की शक्ति से चलने वाले जहाजों तथा तार और समुद्री तार के आविष्कार के फलस्वरूप दूर दूर के देशो पर अधिकार करना तथा उन पर शासन करना आसान हो गया। इसमें कोई सन्देह नही कि यातायात के इन साधनों का आविष्कार बहुत पहले हो चुका था लेकिन उनका असल प्रभाव उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में दृष्टिगोचर हुआ। इन साधनो के जरिये उपनिवेश-विस्तार की प्रक्रिया काफी आगे बढ़ी। बहुत जगह तो यातायात के इन साधनों को लेकर ही साम्राज्यवादी कलह शुरू हुआ और अनेक देश यूरोपीय साम्राज्यवाद के शिकार हुए।

उष्णकटिबन्धीय वस्तुओं की मांग—औद्योगिक देशो द्वारा उष्णकटिबन्धीय वस्तुओ (tropical produce) की मांग साम्राज्यवाद का एक अन्य कारण हुआ। सामुद्रिक यातायात के साधनों की उन्नति के साथ दूरस्थ उपनिवेशो का सस्ते खाद्य पदार्थ, उष्णकटिबन्धीय वस्तुओं तथा कारखानों के लिए आवश्यक माल की प्राप्ति-स्थानो को दृष्टि से महत्त्व बढ़ गया। यूरोप में जैसे-जैसे उद्योग-धन्धों का विकास होता गया वैसे-वैसे कच्चे माल की आवश्यकता भी बढ़ती गयी। इन आवश्यकताओं की पूर्ति उपनिवेशों द्वारा ही सम्भव थी। फिर बाइसिकिल और मोटरो के आविष्कार के बाद रबर की मांग बढ़ चली। इस मांग की पूर्ति भी उपनिवेशों द्वारा ही सम्भव थी। उद्योग-प्रधान देशो में अधिकतर लोग उद्योग-धन्धों में लगे रहते थे। फलतः अपने देश में अन्न की उपज कम होने लगी। अतएव घर के लोगों के भोजन के लिए बाहर से अनाज मंगाना आवश्यक हो गया। इस तरह, तेल, काफी, चाय, चोनी आदि पदार्थ भी नवीन साम्राज्यवाद के विकास के महान् कारण सिद्ध हुए।*

* P. T. Moon : *Imperialism and World Politics*, pp. 29-30.

आत्म-निर्भरता :— आर्थिक दृष्टि से आत्म-निर्भर होने की भावना से भी नवीन साम्राज्यवाद को बल मिला। यह तर्क उपस्थित किया गया कि साम्राज्य स्थापना से साम्राज्यवादी देशों को किसी भी चीज के लिए दूसरों का मुँह जोहना नहीं पड़ेगा। अतएव इस भावना से प्रेरित होकर यूरोप के देशों को साम्राज्यवादी नीति अपनानी पड़ी। ब्रिटेन, फ्रांस, इटली, जर्मनी सभी उपनिवेशों द्वारा अपनी जरूरतों की पूर्ति करना चाहते थे।

साम्राज्यवाद के निहित स्वार्थ

साम्राज्य-स्थापना का काम सम्पूर्ण राष्ट्र नहीं वरन् केवल कुछ लोग करते हैं। ये "कुछ लोग" स्वार्थ-साधन की कामना से प्रभावित होकर साम्राज्यवाद का समर्थन करते थे और इन्हीं शक्तिशाली "कुछ लोगों" के साथ सारे राष्ट्र के लोग चलते थे। देश के अन्दर इन लोगों का एक वर्ग बन गया जिन्हें साम्राज्यवाद के निहित स्वार्थ (vested interests of imperialism) का वर्ग कह सकते हैं।

व्यावसायी वर्ग :— साम्राज्यवाद के निहित स्वार्थ के वर्ग में सर्वप्रथम कई तरह के व्यवसाय आते हैं। इसमें रूई के कपड़े तथा लोहे के व्यावसायी का महत्त्वपूर्ण स्थान है। वे साम्राज्यवाद के कट्टर समर्थक होते थे, क्योंकि वे अपना माल खपाने के लिए हमेशा नये-नये बाजार की तलाश में रहते थे। यातायात, निर्यात के व्यापारी तथा बड़े-बड़े बैंक भी साम्राज्यवाद का समर्थन करते थे। अस्त्र-शस्त्र, गोला-बारूद आदि तैयार करने वाली कम्पनियों के मालिक और बड़ी-बड़ी जहाज की कम्पनियाँ साम्राज्यवादी नीति का खुलेआम समर्थन करती थीं। साम्राज्यवाद के विकास से इन निहित स्वार्थ के लोगों को स्वार्थ-सिद्धि की पूरी आशा रहती थी। उदाहरणार्थ, बड़ी-बड़ी जहाज कम्पनियाँ इस नीति का पोषक इसलिए थीं कि उन्हें कोयला लेने या तूफान आदि से बचाव के लिए सुरक्षित स्थानों पर अड्डों की आवश्यकता पड़ती थी। ब्रिटिश इंडिया नेविगेशन कम्पनी के मालिक विलियम मैकिनोन ने ही पहले-पहल मांग की थी कि ब्रिटेन जर्मनी पर आधिपत्य कर ले। इसी तरह अस्त्र-शस्त्र बनाने वाले लोग उपनिवेश इसलिए चाहते थे कि पिछड़े देशों को जीतने के लिए जो युद्ध होगा उससे उनके व्यवसाय की तरक्की होगी। इस वर्ग में बैंक अधिकारियों का भाग अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रहा। निकट पूर्व में जर्मन साम्राज्यवाद को ले जानेवाला ड्यूस बैंक (Deutshe Bank) था। ब्रिटेन के रोथस चाइल्ड बैंक ने प्रधान मंत्री डिजरैली को स्वेज नहर में हिस्सा खरीदने के लिए धन दिया और पीछे मिस्र पर ब्रिटिश अधिकार कायम करने के लिए उस पर जबर्दस्त दबाव डाला।

अन्य निहित स्वार्थ :—व्यावसायी वर्ग को कुछ अन्य वर्गों से जबर्दस्त समर्थन मिलता था। इसमें सेना के अफसर मुख्य थे। औपनिवेशिक युद्ध उन्हें यश-प्राप्ति का मौका देता है। वे चाहते थे कि उनके देश में एक बहुत बड़ी सेना रहे। इसमें उनका निजी स्वार्थ था। बड़ी सेना रहने पर सेना के उच्च पदों की संख्या अधिक रहेगी और उनकी पदोन्नति का अवसर अधिक रहेगा। सैनिक अफसरों के अतिरिक्त कूटनीतिज्ञ और औपनिवेशिक सेवा के पदाधिकारी भी इस कोटि में आते थे। वैसे कूटनीतिज्ञों की सामाजिक स्थिति तुरत बढ़ जाती थी जो अपने देश के लिए एक उपनिवेश कायम कर देता था। ब्रिटेन तथा कुछ अंश तक फ्रांस और जर्मनी में औद्योगिक व्यवस्था पूर्णता को प्राप्त हो जाने के कारण अच्छे परिवारों के महत्त्वाकांक्षी युवकों के लिए अपने ही देशों से शीघ्र उन्नति करने के अवसर कम होते जा रहे थे। उन्हें उपनिवेश की सेवाओं उनके शासको तथा व्यवसायों में उन्नति करने तथा सफलता प्राप्त करने के बहुत अधिक अवसर प्राप्त हो सकते थे। ब्रिटेन और फ्रांस में ऐसे हजारों परिवार थे जो औपनिवेशिक सेवा में लगे रहते थे। इनमें से कुछ परिवारों का देश के प्रशासन पर अत्यधिक प्रभाव था।

ईसाई मिशनरियाँ :—एशिया और अफ्रिका के "पथभ्रष्ट" पिछड़ी जातियों में ईसाई धर्म फैलाने के लिए यूरोप के ईसाई पादरियों से भी साम्राज्यवाद को जबर्दस्त समर्थन मिला। पादरी लोग नये उपनिवेशों की स्थापना से बहुत खुश होते थे क्योंकि इन्हें ईसाई धर्म फैलाने का एक नया क्षेत्र मिल जाता था। ईसाई पादरी साम्राज्य विस्तार के एक अच्छे साधन बन जाते थे। धर्म प्रचार के कार्य में बर्बर जातियों द्वारा पादरियो को मार दिये जाने पर साम्राज्यवादियों को एक अच्छा बहाना या "ईश्वर प्रदत्त मौका" मिल जाता था। धर्म-प्रचारक पादरियों के हित के लिए उनके शासक चिन्तित रहते थे और विदेशों में यदि पादरियों का किसी तरह अपमान होता था तो राष्ट्रीय सरकार उस अपमान का बदला लेने के बहाने उन देशों पर आक्रमण करती थी या उनके आन्तरिक शासन में हस्तक्षेप करती थी। उदाहरणार्थ, उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में चीन में दो जर्मन ईसाई पादरियों की हत्या हो गयी और इसका बदला लेने के लिए जर्मनी ने उसके एक बन्दरगाह पर कब्जा कर लिया।

मिशनरियों ने प्रत्यक्ष रूप से भी साम्राज्यवाद को प्रोत्साहित किया। डा० लेविंग्स्टोन ने ब्रिटिश सरकार से आग्रह किया कि अफ्रिका पर ब्रिटिश साम्राज्य कायम हो ताकि वहाँ ईसाई धर्म का प्रचार किया जा सके। जर्मन पादरी फेब्री ईसाई धर्म की ओर झुकाने की अपेक्षा साम्राज्यवाद की ओर ही अधिक लोगों को झुका सका। ईसाई पादरियों ने आदिवासी लोगो में कपड़ा पहनने का प्रचार किया। उसके बाद स्वभावतः व्यापारी पहुँचे। व्यापारियों के बाद शासक पहुँच

जाते जो अपनी समस्त शक्ति के साथ किसी भी देश पर आक्रमण कर बैठते थे और पहले से आये हुए पादरियों और व्यापारियों से गुप्तचर का काम लेने लगते थे और इस तरह उपनिवेश की स्थापना हो जाती थी।* ईसाई धर्म के प्रचारकों में कुछ लोग तो सच्चे धार्मिक तथा मानव-प्रेमी थे और उन्होंने मानवता की वास्तविक सेवाएँ भी की परन्तु उपनिवेशों के लोगों को व्यापारियों तथा सरकारी कर्मचारियों के अमानुषिक अत्याचार का शिकार बनना पड़ा। कुछ भी हो, साम्राज्यवाद के विस्तार में इन धार्मिक प्रयत्नों का बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान है।†

भौगोलिक और साहसिकों का वर्ग—पुनर्जागरण के समय से यूरोप में भौगोलिक खोजों की जो प्रवृत्ति चल पड़ी थी उसमें उन्नीसवीं शताब्दी में और विकास हुआ। इस काल में अनेक साहसिक (explorer and adventurers) पैदा हुए जिन्होंने केवल साहसपूर्ण कार्यों के लिए ही नये-नये उपनिवेशों को ढूँढ़ निकाला। इनके द्वारा नये-नये देशों का पता लगा जिससे साम्राज्य विस्तार में काफी सहायता मिली। इन साहसिकों को भौगोलिकों से पूरी सहायता मिली। कुछ भौगोलिक सत्यों की घोषणा करके अज्ञात देशों की खोज के लिए इन भौगोलिकों ने साहसिकों को प्रोत्साहित किया। इसी आधार पर अनेक उत्साही व्यक्ति अज्ञात प्रदेशों की खोज में निकल पड़े और नये-नये भूखंडों का पता लगाया। हेनरी मोर्टन स्टानले, डा० डेविड लेविंग्टन, गुस्टाव नेकटिगाल कुछ ऐसे ही उत्साही व्यक्ति थे। यूरोपीय साम्राज्य के विस्तार में उनका प्रत्यक्ष हाथ था। कांगों में वेल्जियम का उपनिवेश स्टानले के कार्यों के फलस्वरूप ही सम्भव हो सका। कैमरून और तोगोलैंड को जर्मन उपनिवेश बनाने का श्रेय गुस्टाव नेकटिगाल को दिया जाता है।

उग्र राष्ट्रीयता— नवीन साम्राज्यवाद की मुख्य प्रेरक शक्ति उग्र राष्ट्रीयता से प्राप्त हुई थी। इन दिनों प्रतिक्रिया के विरुद्ध संघर्ष करके राष्ट्रीयता विजयी हो चुकी थी और जर्मनी में तथा उसका अनुकरण करके अन्य देशों में भी यह उग्र रूप धारण करती जा रही थी। ब्रिटेन और हालैंड जैसे छोटे से देश के अधीन विशाल साम्राज्य देखकर अन्य देशों में विशेषकर जर्मनी, फ्रांस तथा इटली में भी साम्राज्य की इच्छा जाग्रत हुई। राष्ट्र के गौरव तथा राष्ट्रीय अभिमान की भावना की सन्तुष्टि के लिए यह आवश्यक मालूम होने लगा कि उनके पास भी साम्राज्य हों। यूरोप की महान् शक्ति (big power) कहलाने के लिए उपनिवेशों का होना नितान्त आवश्यक था। इस आकांक्षा की पूर्ति के लिए उग्र सामरिक राष्ट्रीयता के मार्ग का अवलम्बन किया गया। जर्मनों ने अपनी अद्वितीय सैन्य-शक्ति से यूरोप के दो प्रमुख राज्यों—फ्रांस तथा आस्ट्रिया को परास्त करके

---

* P. T. Moon : *Imperialism and World Politics*, p. 64.

† Hayes and Cole : *History of Europe* (Vol. ii), p. 298.

यूरोप के राज्यों में प्रमुख स्थान प्राप्त कर लिया था। इस विजय से जर्मन राज्य का आत्माभिमान बहुत बढ़ गया। वह अपने–आपको सर्वश्रेष्ठ समझने लगा और संसार में अपनी शक्ति के अनुरूप स्थिति प्राप्त करने के लिए कटिबद्ध हो गया। राष्ट्रीयता की यह उग्र चेतना जर्मनी से अन्य राष्ट्रों में पहुँची और अन्तर्राष्ट्रीय विद्वेष, शंका एवं अशान्ति साम्राज्यवाद के कारण बन गये।*

साम्राज्यवादी प्रचार

साम्राज्यवाद के निहित स्वार्थ, जिन्होने स्वार्थ साधन के लिए साम्राज्यवाद का समर्थन किया और उसे प्रोत्साहित किया, उनकी संख्या बहुत कम थी। देश के अधिकांश निवासी न तो इसके प्रबल समर्थक थे और न साम्राज्यवाद से उन्हें प्रत्यक्ष लाभ था। यदि सच पूछा जाय तो साम्राज्यवादी नीति से कुछ पूँजीपतियों को ही लाभ था, कर देने वाली जनता, छोटे-छोटे पूँजीपति और मजदूरों को इससे कोई लाभ नहीं था। उद्योग तथा व्यापार से जो मुनाफा होता था उसे यदि अपने देश के औद्योगिक विकास में लगाया जाता तो मजदूरों को कुछ लाभ भी होता, लेकिन अतिरिक्त पूँजी पिछड़े हुए देशों में लगायी जाती थी जहाँ बहुत ही कम मजदूरी पर मजदूर मिल जाते थे। फिर भी यूरोपीय देशो के सभी सामाजिक वर्गों ने साम्राज्यवाद के विस्तार में पूँजीपतियो का साथ दिया। इन पूँजीपतियों ने बड़ी आसानी से बहुमत को अपने पक्ष में कर लिया। यह एक आश्चर्य की बात है, लेकिन एक तथ्य है। बहुमत को अपने पक्ष में करने के लिए पूँजीपतियों ने जबर्दस्त प्रचार किया। अपने देश में पूँजीपति लोग बहुत अधिक संगठित और शक्तिशाली थे। शासन पर उनका पूरा प्रभाव होता था। अपनी कार्यसिद्धि के लिए वे पानी की तरह धन बहाते थे। राजनैतिक दलों को पैसा देकर अपनी मुट्ठी में रखते थे। देश के समाचारपत्रों और प्रचार के अन्य साधनों पर उनका एकाधिकार रहता था। इन साधनो के सहारे उन्होने सर्वसाधारण की नैसर्गिक भावनाओं को बड़ी खूबी के साथ उभाड़ा। इसके लिए उन्होने निम्नलिखित उपायों का अवलम्बन किया :—

आत्म-रक्षा—मनुष्य सब से पहले सुरक्षा चाहता है। विदेशी आक्रमण के भय से कोई भी व्यक्ति आतंकित हो सकता है। ऐसे आतंकित व्यक्ति को अपने पक्ष में करने के लिए जिस तर्क का सहारा लिया जाता था वह इस प्रकार है—विदेशी आक्रमण से रक्षा के लिए युद्ध के लिए तैयार रहना आवश्यक है। इसके लिए थल-सेना और नौ-सेना में वृद्धि करना भी आवश्यक है। लेकिन सामुद्रिक अड्डों के अभाव में नौ-सेना का क्या महत्त्व हो सकता था। अतएव बाह्य देशों में जहाजी बेड़ों के अड्डों को आवश्यक बतलाया गया। इसी तर्क का सहारा लेकर बीसवीं शताब्दी के

* Slosson : *Europe Since 1870*, p. *112*.

प्रथम चरण तक ब्रिटेन, जर्मनी, फ्रांस, अमेरिका आदि देशों ने सारे संसार में अपने-अपने सामुद्रिक अड्डे स्थापित किये। फिर सामुद्रिक अड्डों की रक्षा के लिए उसके पास-पड़ोस के भू-भागों पर अधिकार जमाना भी आवश्यक हो गया।

आत्म-रक्षा की आवश्यकता के आधार पर यह तर्क दिया जाता था कि युद्ध के समय अबाध रूप से कच्चा माल प्राप्त करने के लिए उपनिवेशों का होना अत्यन्त आवश्यक है। वे यह कह कर सर्वसाधारण को धोखा देते थे कि यदि पिछड़े देशों पर आधिपत्य नहीं कायम किया गया तो युद्ध के समय कोयला और लोहा नहीं मिल सकेंगे और इस कारण युद्धोपयोगी सामग्री नहीं तैयार हो सकेंगे। तेल नहीं मिलने के कारण जहाजों का चलना वन्द हो जायगा। इसके वाद जब कुछ प्रदेशों पर अधिकार हो जाता था तो साम्राज्यवाद के पोषक जनता को यह कहकर अपनी ओर कर लेते थे कि उन उपनिवेशों की रक्षा के लिए मजबूत जहाजी वेड़े का होना आवश्यक है और साथ ही वन्दरगाहों पर आधिपत्य भी। इसी तरह की दलीलें देकर भोली-भाली जनता को साम्राज्यवाद के पक्ष में कर लिया जाता था।

आर्थिक राष्ट्रीयता और आर्थिक कल्याण :— साम्राज्यवाद के आर्थिक कारण का वर्णन करते समय हम इस पहलू पर पहले ही प्रकाश डाल चुके हैं। उद्योगों के विस्तार के साथ कच्चे माल को प्रचुर मात्रा में और सस्ते दामों में प्राप्त करने तथा तैयार माल को अधिक से अधिक लाभ पर वेचने के लिए उपयुक्त बाजार की आवश्यकता का अनुभव होने लगा। इन आवश्यकताओं की पूर्ति का एकमात्र साधन यही था कि पिछड़े हुए उष्ण कटिवन्धीय प्रदेशों में, जहाँ सब प्रकार का कच्चा माल प्राप्त हो सकता है और तैयार माल वेचा जा सकता है, अभाव क्षेत्र स्थापित किये जायँ ताकि किसी अन्य राष्ट्र को वहाँ माल खरीदने और वेचने की सुविधा न हो सके और कच्चे माल के क्रय तथा तैयार माल के विक्रय दोनो की दृष्टि से देश स्वावलम्वी हो सके। इस कारण उष्ण कटीवन्धीय प्रदेशों पर अधिकार जमाने के लिए विभिन्न राष्ट्रों में तीव्र प्रतियोगिता होने लगी। इस प्रकार आर्थिक राष्ट्रीयता का जन्म हुआ। अव साधारण जनता को यह कहा गया कि कच्चे माल और बाजार के लिए अन्य देशों पर आधिपत्य करने में ही राष्ट्र का आर्थिक कल्याण है। इसके फलस्वरूप देश का व्यापार वढ़ेगा और राष्ट्र की आर्थिक उन्नति होगी और वेकारी की समस्या का अन्त होगा।

राष्ट्रीय प्रतिष्ठा—साम्राज्यवादियों ने जनता की राष्ट्रीयता और देश प्रेम की भावना को अच्छी तरह उभाड़ा। राष्ट्र की प्रतिष्ठा वढ़े, यह आकांक्षा प्रत्येक व्यक्ति में रहती है। अतएव सर्वसाधारण जनता से यह कहा जाता था कि

यदि उनके राष्ट्र का अधिकार पिछड़े हुए देशों पर होगा तो उनके देश की प्रतिष्ठा चढ़ेगी और उनका राष्ट्र धन-धान्य से परिपूर्ण होगा। उस समय लोगों का यह विश्वास था कि प्रथम श्रेणी का राष्ट्र होने के लिए उपनिवेशों का रहना अत्यन्त आवश्यक है। इसी भावना से प्रेरित होकर अफ्रिका के पूर्वी किनारे के एक अनुपजाऊ भू-भाग पर आधिपत्य बनाये रखने के लिए इटली की जनता ने करोड़ों डालर खर्च करने में तनिक भी आगा-पीछा नहीं किया। जिस समय एक ब्रिटिश नागरिक संसार के नक्शे पर "लाल रंग" को देखता था उस समय वह खुशी से पागल हो जाता था। "सूर्य के नीचे जगह" पाने के लिए जर्मनी बहुत उत्सुक रहता था और इसके लिए जर्मन नागरिक सब कुछ बलिदान करने के लिए तैयार रहते थे। अफ्रिका में फ्रांस का साम्राज्य कायम हो इसके लिए फ्रांस की जनता व्यग्र थी। यह राष्ट्र को प्रतिष्ठा का प्रश्न था। अतएव फ्रांस की जनता ने साम्राज्य की स्थापना के लिए हर तरह की सहायता की क्योंकि वे जानते थे कि यदि इस प्रश्न पर सहायता नहीं दी जायगी तो फ्रांस तुरत ही द्वितीय या तृतीय श्रेणी का राष्ट्र बन जायगा।

राष्ट्र की प्रतिष्ठकों को दूसरी तरह भी धक्का पहुँच सकता था। यदि किसी गैर यूरोपीय देश में साम्राज्यवादी देश के नागरिक या राष्ट्रीय झंडा का अपमान होता तो इस अपमान का बदला लेना उस देश का कर्त्तव्य माना जाता था। चीन में जर्मनी के दो पादरियों की हत्या की गयी तो जर्मनी ने इसको अपमान माना और चीनियों की इस धृष्टता के लिए सबक देने के लिए उसके एक बन्दरगाह पर अधिकार कर लिया। एक इटालियन लडकी को जब ट्रिपोली का एक मुसलमान भगाकर ले गया तो इस अपमान का बदला लेने के लिए ट्रिपोली पर आधिपत्य करना आवश्यक हो गया। इस तरह राष्ट्रीय प्रतिष्ठा प्राप्त करने की आकांक्षा भी नवीन साम्राज्यवाद का एक प्रेरक तत्त्व सिद्ध हुआ।

अतिरिक्त जनसख्या का प्रश्न—देश की बढ़ती हुई आबादी की समस्या को भी साम्राज्यवाद के प्रसार के लिए प्रचार का एक साधन बनाया गया। इसमें कोई शक नहीं कि उस समय में यूरोपीय देशों की जनसंख्या में अपार वृद्धि हो रही थी। यूरोप के औद्योगिक देशो के समक्ष यह प्रमुख समस्या थी और इसके समाधान का एक ही उपाय था कि कुछ लोग बाहर जाकर उपनिवेशों में रहें। उपनिवेशो में रहने से मातृभूमि से उनका सम्बन्ध बना रहता था। अतएव जनता से यह कहा गया कि यदि बढ़ती हुई आबादी के लिए उपनिवेश नहीं कायम किये गये तो देश के अन्दर विकट आर्थिक संकट उत्पन्न हो जायगा, बेकारी बढ़ जायगी और खाद्यान्नों की कमी हो जायगी। इस परिस्थिति में जनता सरकार को मदद देने से इन्कार नहीं कर सकती थी।

लेकिन बढ़ती हुई आबादी का यह तर्क सिर्फ एक हौवा के अतिरिक्त कुछ और नहीं था। आंकड़े से पता चलता है कि 1864 से 1914 तक दो करोड़ क लगभग यूरोपीय निवासी अपने देश छोड़कर बाहर गये, लेकिन उनमें 5 लाख ही ऐसे लोग थे जो उपनिवेशों में जाकर बसे। उपनिवेशों की जलवायु उनके मनोनुकूल नहीं होती थी और इसलिए वे वहाँ बसना नहीं चाहते थे।*

"परोपकारिता और मानवता" :—यूरोपीय देशों के राष्ट्रीय अभिमान की भावना में अपनी सभ्यता के उच्च होने का अभिमान भी शामिल था और उनमें यह भावना जोर पकड़ने लगी कि पृथ्वी के विभिन्न भागों में बसे हुए असभ्य, अर्द्धनग्न तथा अविकसित लोगों के बीच अपनी उत्कृष्ट सभ्यता तथा संस्कृति का प्रसार कर उनका उद्धार करना तथा उन्हें ऊँचा उठाना उनका कर्त्तव्य है। रूडयार्ड किपलिंग† ने यह तर्क प्रस्तुत किया कि काले लोगों को सभ्य बनाना गोरे लोगों का महान् उत्तरदायित्व है। इस उत्तरदायित्व के प्रति अपने देशवासियों का ध्यान आकृष्ट करने के लिए यूरोपीय देशों में अनेक विद्वानों ने ग्रन्थों की रचना की। फ्रांस का जुल्स फेरी, ब्रिटेन का शीले, जर्मनी का प्रोफेसर त्रित्सके कुछ ऐसे ही व्यक्ति थे। इस भावना को प्रोफेसर मून ने आक्रामक परोपकारिता (aggressive altruism) की संज्ञा दी है, क्योंकि श्रेष्ठ यूरोपीय सभ्यता को काले लोगो पर लादने के लिए शक्ति का प्रयोग करना आवश्यक था। इसमें कोई सन्देह नहीं कि साम्राज्यवाद के विस्तार में इन "परोपकारी और मानवतावादी" प्रयत्नों का बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान है।

---

* P. T. Moon : *Imperialism and World Politics*, pp. 70-71.

† किपलिंग ने "White Man's Burden" शीर्षक से 1899 में एक कविता लिखी जो इस प्रकार है :—

"Take up the White Man's Burden
Send forth the best-ye breed,
Go, bind your sons to exile,
To serve your captives' need,
To wait in heavy harness,
On fluttered folk and wild,
Your new-caught, sullen peoples,
Half-devil and half-child.'

अध्याय दस

अफ्रिका का बँटवारा
(Partition of Africa)

अफ्रिका की स्थिति :— अफ्रिका का बँटवारा नवीन साम्राज्यवाद के युग की एक अत्यन्त असाधारण घटना है। दो-तीन बातों में इसकी विशिष्टता स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती है। सर्वप्रथम, सम्पूर्ण अफ्रिका का बँटवारा बिना युद्ध किये ही हो गया। इसमें कोई सन्देह नहीं कि अफ्रिका के बँटवारे को लेकर विभिन्न राष्ट्रों के बीच तनातनी हुई और संघर्ष की सम्भावना भी दिखायी दी, लेकिन सभी संकटों का निवारण कूटनीति के जरिये हो गया और युद्ध होने से बच गया। फिर, यह बँटवारा अत्यन्त शीघ्रता के साथ हुआ। केवल पचीस-तीस वर्षों की छोटी अवधि में ही इतना बड़ा काम सम्पन्न हो गया। इसका कारण यह था कि इस समय जर्मनी और इटली दोनों नवीन राज्य साम्राज्यवादी प्रतिद्वन्द्विता के मैदान में आ गये जो जल्द से जल्द अपने लिए साम्राज्य की स्थापना कर लेना चाहते थे। इन नवागन्तुकों को देख ब्रिटेन और फ्रांस चौंक गये और वे भी जल्द से जल्द और अधिक से अधिक प्रदेश हस्तगत करने का प्रयत्न करने लगे। इस कारण अफ्रिका का बँटवारा बड़ी तेजी से समाप्त हो गया।*

अफ्रिका के बँटवारे की एक और विशेषता यह है कि वहाँ के स्थानीय शासकों या सरदारों ने इसका विरोध नहीं किया। इस कारण वहाँ आसानी से यूरोपीय देशों का उपनिवेश कायम हो गया। अफ्रिका के आदिवासियों के सरदार इतने अशिक्षित और सीधे थे कि वे सन्धि-समझौते का महत्त्व नहीं समझते थे। शराब की कुछ बोतलों पर या चमकते हुए कुछ उपहारों पर वे अपनी जमीन को यूरोपीय के हाथ सौंपने को तैयार हो जाते थे। वे ऐसी सन्धि पर हस्ताक्षर करते थे जिसे वे स्वयं नहीं समझते थे। वे इतने निःशक्त और असहाय थे कि पेरिस, लन्दन में बैठकर साम्राज्यवादी उनके प्रदेशों को नक्शे पर बाँट लेते थे और उन्हें इसका पता तक नहीं रहता था।

अफ्रिका नवीन साम्राज्यवाद का सबसे बुरा शिकार हुआ। उन्नीसवीं सदी के प्रारम्भ तक यूरोप के निवासियों को इस विशाल महाद्वीप के विषय में बहुत कम परि-

* Ketelbey : *History of Modern Times*, pp. 481-82.

चय था। उत्तरी अफ्रिका के कुछ देश मिस्र, अलजीरिया, ट्यूनिस, मोरक्को इत्यादि और समुद्र-तट के आसपास के भू-भागों को छोड़कर शेष अफ्रिका के विषय में उन्हें बहुत कम जानकारी थी। शेष अफ्रिका उनके लिए एक अपरिचित, अज्ञात और रहस्यमय भूखण्ड था। उसके सघन जगलों, भौगोलिक तथा प्राकृतिक दशाएँ और अद्भुत निवासियों के सम्बन्ध में उन्हें कोई जानकारी नहीं थी और बहुत दिनों तक इसका परिचय प्राप्त करने के लिए उन्होंने कोई विशेष प्रयास भी नहीं किया था। अफ्रिका के दुर्गम प्रदेशों का अवगाहन करना कठिनाइयों से भरा पड़ा था। 1875 के पहले अफ्रिका का एक छोटा-सा भाग यूरोपीय राष्ट्रों के अधिकार में था। उत्तरी तट पर 1830 में फ्रांस ने एल्जीयर्स पर अधिकार करके उसके आसपास के प्रदेश को भी अपने साम्राज्य में शामिल कर लिया था। दक्षिण में इंगलैंड ने 1806 में हालैंड से केप कालोनी का प्रदेश छीन लिया था और 1843 में नेटाल पर अधिकार कर लिया था। पोर्तुगाल के पास पूर्वी तट पर मोजम्बिक तथा पश्चिमी तट पर अंगोला के तटीय प्रदेश थे जिनकी भीतर की सीमाएँ अस्पष्ट थीं। उन प्रदेशों के अतिरिक्त पश्चिमी तट पर भी कुछ स्थल फ्रांस (सेनीगाल, गेबून तथा आइवरी कोस्ट), इंगलैंड (गोम्बिया, सियरा लिओन, गोल्ड कोस्ट, लेगास तथा नाईजर नदी का मुहाना), पोर्तुगाल (पोर्तुगीज) तथा दो एक द्वीप और स्पेन (रायो डी ओरो तथा स्पेनिश गिनी) के अधिकार में थे।

अफ्रिका के अन्धकारपूर्ण भूखंड का पता लगाने का काम किसी यूरोपीय सरकार का नहीं था। यह यूरोप के उन 'धार्मिक परोपकारियों' का काम था जो 'पथभ्रष्ट' अफ्रिकियों को 'सुमार्ग' दिखलाने के लिए उत्सुक थे। इन 'जगतहितैषियों' में डाक्टर डेविड लिविंगस्टोन नामक एक स्काच धर्म-प्रचारक का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। अफ्रिका का पता लगाने का श्रेय उसी को दिया जाता है। वह पांच साल तक मध्य-अफ्रिका के विविध प्रदेशों का अवगाहन करता रहा। जब उसने अपनी अफ्रिका-यात्रा का वृतान्त प्रकाशित किया तो सारे यूरोप में खलबली मच गयी। सब लोगों का ध्यान अफ्रिका की ओर आकृष्ट हुआ। यूरोपीय लोग इस विशाल एवं अद्भुत भूखंड में प्रवेश पाने के लिए आतुर हो उठे। इसके बाद के अफ्रिका का इतिहास केवल दुःख और दर्द की कहानी है। यूरोप के प्रायः सभी राष्ट्र अफ्रिका के भू-भागों पर गिद्ध की तरह टूट पड़े। उनके बीच अफ्रिका की छीना-झपटी होने लगी। अफ्रिका की लूट में अपना-अपना हिस्सा प्राप्त करने के लिये वे उतावले हो उठे। जो अफ्रिका कुछ साल पहले तक अज्ञात था, वह अब भूखे साम्राज्यवादियों का शिकार बन गया। 1890 आते-आते-यूरोप के तथाकथित सभ्य देश अफ्रिका का टुकड़े-टुकड़े कर उन्हें आपस में बाँट लेने के लिए कटिबद्ध हो गये। विश्व-राजनीति के रंगमच पर नवीन साम्राज्यवाद अपने नग्न रूप में आ खड़ा हुआ।

अफ्रिका की लूट—अफ्रिका में बलात् प्रवेश करने का प्रथम प्रयास बेल्जियम के राजा द्वितीय लियोपाल्ड ने किया। वह लिविंगस्टन तथा स्टेनली की यात्राओं का वृतान्त सुन चुका था। 1886 में अफ्रिका के अज्ञात प्रदेशों का पता लगाने के उद्देश्य से उसने ब्रुसेल्स में एक अन्तर्राष्ट्रीय भौगोलिक सम्मेलन आमंत्रित किया। यहाँ पर एक अन्तर्राष्ट्रीय अफ्रिकी सभा कायम की गयी। प्रत्येक देश में इस सभा की शाखाएँ खोलने का निश्चय किया गया। लेकिन शीघ्र ही इस सभा का अन्तर्राष्ट्रीय स्वरूप खत्म हो गया और प्रत्येक शाखा अपने राष्ट्र के लिए अफ्रिका में प्रदेश प्राप्त करने का यत्न करने लगा। 1878 में स्टेनली अफ्रिका का अवगाहन करते हुए जब यूरोप पहुँचा तो बेल्जियम के राजा के दो एजेन्ट उसे मिले जिन्होंने उसे पुनः अफ्रिका लौटने का अनुरोध किया। लेकिन स्टेनली एक अंग्रेज नागरिक था और वह चाहता था कि उसकी खोजों का लाभ ब्रिटेन को प्राप्त हो। तत्कालीन ब्रिटिश सरकार ने उसकी बातों पर कोई ध्यान नहीं दिया और तब निराश होकर उसने लियोपाल्ड से बातचीत की और कुछ लोगों को साथ लेकर पुनः अफ्रिका के लिए रवाना हो गया। अफ्रिका पहुँचकर उसने कांगो प्रदेश के नीग्रो सरदारों को डरा-धमकाकर अपने प्रदेशो को यूरोपीयों को सौंप देने के लिए विवश किया। चार वर्ष के अन्दर उसने लगभग ४०० संधियाँ कीं और अफ्रिका का एक विशाल प्रदेश उसके हाथ में आ गया।

अब अन्य यूरोपीय राज्यो को लियोपाल्ड से ईर्ष्या होने लगी। ब्रिटेन और पुर्तगाल ने विशेष तौर से उसका विरोध किया और पुर्तगाल ने कांगों के विशाल प्रदेश पर अपना दावा करके उस पर अधिकार कर लिया। इन्हीं दिनो अनेक यूरोपीय राज्यों के दूत मध्य अफ्रिका में घूम रहे थे, नीग्रो सरकारों से सन्धियाँ करके बड़े-बड़े प्रदेश हस्तगत कर रहे थे और अपना प्रभाव-क्षेत्र निर्धारित कर रहे थे। लियोपाल्ड और पुर्तगाल की कार्रवाइयों से ब्रिटेन, फ्रांस तथा जर्मनी में काफी मनमुटाव भी पैदा हुआ। बाद में स्थिति बहुत जटिल हो गयी। इसको सुलझाने और अफ्रिका के बँटवारे के लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन द्वारा कुछ सामान्य सिद्धांतों का निर्धारण अत्यन्त आवश्यक प्रतीत होने लगा।

बर्लिन सम्मेलन—1884-85 में बर्लिन में एक अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन हुआ जिसमें स्विट्जरलैंड को छोड़कर सभी यूरोपीय राज्य तथा संयुक्त राज्य अमेरिका शामिल हुए थे। तीन महीने की बातचीत के बाद एक नियम तैयार हुआ और उस पर सभी के हस्ताक्षर हुए। इस सम्मेलन के सामने तीन प्रश्न थे—कांगो प्रदेश तथा नाइजर प्रदेश के विषय में निर्णय करना तथा उन शर्तों का निर्धारण करना जिनके अनुसार भविष्य में अन्य प्रदेशों पर उचित रीति से अधिकार किया जा.

सके। सम्मेलन ने अन्तर्राष्ट्रीय अफ्रिकी सभा का कांगो नदी के प्रवाह-प्रदेश पर उसे फ्री स्टेट का नाम देकर अधिकार स्वीकार कर लिया। इसके साथ ही उस प्रदेश का व्यापार सब राष्ट्रों के लिए खुला छोड़ दिया गया और कांगो नदी के यातायात पर एक अन्तर्राष्ट्रीय कमीशन का नियंत्रण स्थापित किया गया। नाइजर नदी के प्रदेशों के लिये भी वैसी ही व्यवस्था की गई। उस पर इंगलैंड तथा फ्रांस का संरक्षण स्वीकार कर लिया गया और नदी के यातायात के नियंत्रण में इंगलैंड को कुछ विशेष अधिकार प्राप्त हुए। तीसरी समस्या के विषय में यह निश्चित हुआ कि किसी प्रदेश पर किसी सत्ता का अधिकार तभी स्वीकार किया जायगा जब कि उस पर उसका अधिकार वास्तविक होगा, केवल नाममात्र का नहीं, और इसके साथ ही यह भी आवश्यक होगा कि उसे अपने साम्राज्य में शामिल करने के पहले वह अन्य राष्ट्रों को उसकी सूचना दे।

कांगो का प्रदेश नाम के लिए तो अन्तर्राष्ट्रीय राज्य था परन्तु वह वास्तव में 1908 तक लियोपोल्ड का व्यक्तिगत राज्य बना रहा। परन्तु जब व्यापारियों द्वारा अफ्रिकियों पर किये जाने वाले भयकर अत्याचारों की सर्वत्र शिकायतें होने लगीं तो उसने अपना राज्य बेल्जियम की सरकार को सौंप दिया। इस प्रकार कांगो फ्री स्टेट का प्रदेश जो स्वयं बेल्जियम के क्षेत्रफल से दस गुना बड़ा था और रबड़ की दृष्टि से कांगो-प्रदेश का सर्वोत्तम भाग था, बेल्जियम का एक उपनिवेश बन गया।

अफ्रिका का बँटवारा—लियोपोल्ड ने अफ्रिका के कांगो-प्रदेश में जो उदाहरण उपस्थित किया उसका अनुकरण करने के लिए यूरोप के अन्य राज्य भी उतावले हो उठे। वे इस बात के लिए उत्सुक थे कि अफ्रिका के जितने भी प्रदेशों पर सम्भव हो, अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया जाय। बेल्जियम के कांगो-प्रदेश के दक्षिण में स्थित अँगोला के वृहत भू-भाग पर पोर्तुगाल ने अपना साम्राज्य स्थापित किया। इटली की आँखें भी अफ्रिका पर गड़ी हुई थीं। स्मरण रहे कि इटली साम्राज्यवाद की दौड़ में बहुत पीछे सम्मिलित हुआ था। इटली के ठीक सामने भूमध्यसागर के पार ट्यूनिस का प्रदेश था। इटली इसको हड़पना चाहता था, लेकिन, फ्रांस भी इसी फिक्र में था। अन्त में 1882 में फ्रांस ने इस पर कब्जा कर लिया और इटली देखता ही रह गया। इस पराजय से इटली के साम्राज्यवादी शासक निराश नहीं हुए। अफ्रिका एक विशाल महादेश था और उसके बहुत-से भू-भागों पर आसानी से आधिपत्य कायम किया जा सकता था। 1885 में इटली ने अबीसीनिया पर आक्रमण कर दिया। पर यहाँ उसको सफलता नहीं मिल सकी। आखिरकार 1893 में उसने इरीट्रिया और सोमालीलैंड पर अपना कब्जा जमा लिया। 1911 में ट्रिपोली का प्रदेश भी उसके कब्जे में आ गया।

अन्य राज्यों की तरह स्पेन भी इस होड़ में सम्मिलित हुआ। अफ्रिका के उत्तर-पश्चिमी तट पर उसका भी साम्राज्य स्थापित हुआ। 1884 में बिस्मार्क ने भी जर्मनी के लिए औपनिवेशिक साम्राज्य कायम करने का निर्णय किया। अफ्रिका के विभिन्न स्थानों पर जर्मनी के उपनिवेश कायम किये गये। केमरून, टोगोलैंड, दक्षिण-पश्चिम अफ्रिका, और पूर्वी अफ्रिका के कुछ भू-भागों पर जर्मनी का आधिपत्य कायम हुआ।

अफ्रिका की लूट में फ्रांस और ब्रिटेन को सबसे अधिक लाभ हुआ। 1830 में फ्रांस ने अलजीरिया पर जबर्दस्ती अपना कब्जा जमा लिया था। कहा जाता है कि अलजीरिया के सुल्तान ने गुस्से में आकर फ्रांस के एक राजदूत को एक तमाचा जड़ दिया। फ्रांस इस राष्ट्रीय अपमान को सहने के लिए तैयार नहीं था। बदला लेने के लिए फ्रांस से एक सेना भेजी गयी और अलजीरिया पर अत्यन्त सुगमता से फ्रांसीसी आधिपत्य कायम हो गया। यह अफिका में फ्रांसीसी साम्राज्य-वाद का सूत्रपात था। अलजीरिया के समीप में ट्यूनिस था। बहाना लगाकर फ्रांस ने 1882 में इस पर भी अपना अधिकार जमा लिया। कहना न होगा कि अफ्रिका के इस प्रदेश पर इटली की आँखें भी बहुत दिनों से गड़ी हुई थीं। जब फ्रांस ने इस पर अपना आधिपत्य जमा लिया तो इटली को काफी निराशा हुई। वह फ्रांस का विरोधी बन गया और बिस्मार्क के गुट में शामिल हो गया।

पश्चिमी अफ्रिका में भी फ्रांस का साम्राज्य कायम हो रहा था। अफ्रिका के पश्चिमी तट पर सेनेगल नामक एक प्रदेश 1637 से ही फ्रांस के अधीन में था। जब 1830 में अलजीरिया फ्रांस के अधीन में आ गया तो फ्रांस के साम्राज्यवादियों पर भूत सवार हुआ कि वे अलजीरिया तथा सेनेगल के बीच के सभी प्रदेशों पर अधिकार करके एक विशाल साम्राज्य की स्थापना करें। इसी नीति को ख्याल में रखकर 1894 में फ्रांस ने तिम्बुकट नामक प्रदेश को अपने अधिकार में कर लिया। 1896 में मैडेगास्कर के सुविशाल द्वीप पर भी फ्रांस का झण्डा फहराने लगा। 1912 आते-आते मोरक्को भी फ्रांसीसी कब्जे में आ गया।

अफ्रिका के शिकार में सबसे अधिक हिस्सा ब्रिटेन को मिला। पर उसका साम्राज्य आसानी से नहीं कायम हो सकता था। इस क्षेत्र में ब्रिटेन का असल प्रतिरोध दो शक्तियों से हुआ। दक्षिण अफ्रिका में फ्रांस तथा डच किसान बोअरों ने और उत्तर में फ्रांस ने ब्रिटेन का कड़ा विरोध किया। इसके बावजूद ब्रिटिश-साम्राज्यवादियों की यह अभिलाषा थी कि केपकोलनी से लेकर काहिरा तक उनका साम्राज्य फैले। उनका यह स्वप्न अन्त में पूरा भी हुआ।

बोअर-समस्या—1814 में ब्रिटेन को हालैंड से केपकोलोन मिल चुका था। जिस समय यह प्रदेश ब्रिटेन को मिला उस समय यहाँ पर डच लोग बहुत बड़ी

संख्या में निवास करते थे। डच लोग किसान थे और वे बोअर कहलाते थे। बोअर लोग अपनी सभ्यता, परम्परा, भाषा, रीति-रिवाज का पालन करने में बड़े कट्टर परम्परावादी थे। किसी भी हालत में वे इनको छोड़ने के लिए तैयार नहीं थे। इसके अतिरिक्त वे अफ्रिका के नीग्रो-दासों से अपनी खेती कराते थे। जब केपकोलनी अंगरेजों के हाथ में आया तो वे डच-परम्परा, संस्था, भाषा इत्यादि को मिटाकर अपनी सभ्यता-संस्कृति लादने की कोशिश करने लगे। इसके साथ-साथ अंगरेजों ने दास-प्रथा का अन्त करने का भी निर्णय किया। बोअर लोग ब्रिटिश सरकार के इन व्यवहारों से तंग आ गये। उन्होंने केपकोलनी को छोड़ देने का निश्चय किया। 1836 में वे अपना सारा माल-असबाब लेकर उत्तर की ओर चल पड़े। जिस स्थान पर वे पहुँचे वह भयंकर जंगलों से भरा-पड़ा था। बोअरों ने इन जंगलों को साफ करके दो नये उपनिवेशों को बसाया। इन उपनिवेश का नाम नेटाल और ओरेन्ज का स्वतंत्र राज्य रखा गया।

अंगरेज लोग इन उपनिवेशों में भी बोअरों को शान्तिपूर्वक नहीं रहने देना चाहते थे। नेटाल समुद्र तट पर स्थित था और अंगरेज इस महत्वपूर्ण स्थान पर भी अपना ही झंडा फहराते देखना चाहते थे। 1841 में अंगरेजों ने नेटाल पर चढ़ाई करके उसको जीत लिया। इसी साल औरेन्ज का स्वतंत्र राज्य भी अंगरेजों के कब्जे में आ गया।*

बोअर लोग किसी भी हालत में अंगरेजो के अधीन रहना नहीं चाहते थे। उनके सामने विकट समस्या थी। उन्होंने पुनः इन उपनिवेशों को छोड़ने का निश्चय किया और ट्रांसवाल नामक एक नया उपनिवेश कायम करके बस गये। यह उपनिवेश प्रारम्भ में उतना महत्वपूर्ण नहीं था। अतः अंगरेजों ने अब बोअरों को फिर से छेड़ने में कोई लाभ नहीं देखा। 1852 में अंगरेजों और बोअरों में एक सन्धि हो गयी। दो वर्ष बाद औरेन्ज का स्वतंत्र राज्य भी बोअरों को वापस मिल गया। इस प्रकार दक्षिण अफ्रिका में चार उपनिवेश रह गये – दो अंगरेजो के अधीन और दो डचों के अधीन। पर, यह स्थिति अधिक दिनों तक रहनेवाली नहीं थी। 1877 में डिजरैली ब्रिटेन का प्रधानमन्त्री था। वह प्रबल साम्राज्यवादी था और बोअरों की स्वतंत्रता को अन्त करने पर तुला हुआ था। ट्रांसवाल में मूल निवासी जूलू लोगों के खतरे का बाहाना बनाकर 1837 में ब्रिटेन ने उस उपनिवेश पर हमला कर दिया। बोअरों ने अंगरेजों का घोर विरोध किया। यह संघर्ष बहुत दिनों तक चलता रहा। जब ग्लेडस्टोन के नेतृत्व में ब्रिटेन में लिबरल पार्टी का मंत्रिमंडल बना तो 1884 में अंगरेजों और बोअरों के बीच संधि हो गयी।

*P. T. Moon : *Imperialism and World Politics*. p. 176

इस सन्धि के कुछ ही दिनों बाद यह पता चला कि ट्रांसवाल में सबसे बड़ी सोने की खानें है। इस कारण परिस्थिति बिल्कुल बदल गयी। सोने की लालच में इतने अंगरेज ट्रांसवाल में घुस गये कि उनकी संख्या डच-किसानों से भी अधिक हो गयी। अंगरेजों की मांग थी कि नवागन्तुकों को बोअर-सरकार के निर्माण में वोट देने का अधिकार मिले। बोअर लोगों को डर हुआ कि अगर वे अंगरेजों की माँग स्वीकार कर लेते हैं तो अपने ही उपनिवेश में वे अल्पसंख्यक हो जायेंगे। अतः उन्होंने अनेक कानून इस प्रकार बनाये जिससे अंगरेजों के लिए नागरिकता का अधिकार प्राप्त करना असम्भव हो जाय। इसके विरुद्ध अंगरेज लोग आन्दोलन करने लगे।

इस समय दक्षिणी ब्रिटिश अफ्रिका का प्रधानमंत्री सेसिल रोड्स था। वह बहुत बड़ा साम्राज्यवादी था और दक्षिण अफ्रिका से बोअरों की शक्ति को नष्ट करने के लिए उपयुक्त अवसर की ताक में था। उसके इस अपवित्र मनसूबे में ब्रिटिश सरकार भी भीतर-ही-भीतर सहायता दे रही थी। इस समय ट्रांसवाल का राष्ट्रपति पाल क्रूगर था। अंगरेजों से उसकी घृणा बड़ी तीव्र थी और किसी दशा में वह अंगरेजों की मांग की पूर्ति करने को तैयार नहीं था। दोनों तरफ से युद्ध की तैयारी हो रही थी। ट्रांसवाल की सीमा पर ब्रिटिश-सेना जमा होने लगी। 1899 में बोअर-युद्ध प्रारम्भ हो गया जो 1902 तक चलता रहा। इस युद्ध में बोअरों ने अपूर्व वीरता का प्रदर्शन किया। लेकिन, राबर्ट्स तथा किचनर के नेतृत्व में ब्रिटिश सेना के सामने वे अधिक दिनों तक टिक नहीं सके। बोअर-किसानों को अंगरेजों की शर्तें माननी पड़ीं। उनके दोनों प्रजातंत्र ब्रिटिश-उपनिवेश बना लिये गये।*

बोअर-युद्ध का प्रभाव केवल दक्षिणी अफ्रिका की राजनीति पर ही नही पड़ा; इसका प्रभाव यूरोपीय राजनीति पर भी पड़े बिना नहीं रह सका। सबसे पहले, बोअर-युद्ध के कारण ब्रिटेन और जर्मनी का परस्पर सम्बन्ध खराब हुआ। बोअर युद्ध के समय जर्मनी के शासकों ने राष्ट्रपति पाल क्रूगर को एक बधाई का तार भेजा। इस पर अंगरेज लोग काफी क्रुद्ध हुए। उनको यह शक हो गया कि जर्मनी अपनी स्वार्थ-पूर्ति के लिए बोअरों का पक्ष ले रहा है। इस प्रकार आंग्ल-जर्मन सम्बन्ध को बिगाड़ने में बोअर-युद्ध का बहुत बड़ा हिस्सा था।

बोअर-युद्ध के समय केवल जर्मनी में ब्रिटेन का विरोध नही था। यूरोप के प्रायः सभी राज्य बोअरों के प्रति सहानुभूति प्रकट करते थे। ब्रिटेन का साथ देनेवाला कोई नहीं था। बोअर-युद्ध के समय ब्रिटेन को पहले-पहल 'शानदार पृथकता' की नीति का कटु अनुभव हुआ। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में अपनी स्थिति को मजबूत बनाये रखने के लिए ब्रिटेन को इस नीति का परित्याग कर देना

*Schuman : *International Politics*, p. 519

आवश्यक था। अतः ब्रिटेन में इस नीति के परित्याग के लिए आन्दोलन चल पड़ा। ब्रिटेन ने शीघ्र ही इस नीति का परित्याग करके 1902 में जापान के साथ 1904 में फ्रांस के साथ समझौता कर लिया। अतः, हम कह सकते हैं कि बीसवीं सदी के प्रारम्भ में विश्व-राजनीति में जो क्रान्तिकारी परिवर्तन आये वे परोक्ष रूप से बोअर-युद्ध के भी परिणाम थे।

मिस्र में ब्रिटेन :— अफ्रिका में ब्रिटिश राज्य-विस्तार को दूसरा बड़ा खतरा फ्रांसीसीयों से था। मिस्र और सूडान के क्षेत्र में इन दोनों देशों के हित परस्पर टकराते थे। मिस्र में ब्रिटेन को दिलचस्पी होने का मुख्य कारण था स्वेज-नहर। 1869 में यह नहर द-लेस्सप नाम के एक फ्रांसीसी इंजीनियर के प्रयास से बनी थी। स्वेज-नहर के संचालन के लिए एक कम्पनी की व्यवस्था की गयी। इस कम्पनी में मुख्यतः फ्रांसीसियों तथा मिस्र के खदीव का हिस्सा था। नहर के बनने के बाद ब्रिटेन को इसके महत्व का पता चला। पूर्व के देशों तक पहुँचने के लिए स्वेज का मार्ग अत्यन्त ही सुगम था। इस मार्ग का महत्व यह था कि जिस देश के हाथ में इसका नियन्त्रण रहता उसके लिए एशिया पर अपना आधिपत्य कायम करना बहुत आसान काम हो जाता। पूर्व में ब्रिटेन का साम्राज्य दूर-दूर तक फैला हुआ था। उसकी रक्षा के लिए ब्रिटेन के लिए आवश्यक था कि वह इस महत्त्वपूर्ण जल-मार्ग पर अपना नियन्त्रण स्थापित करे।* अपनी इस कामना को पूर्ण करने के लिए ब्रिटेन को शीघ्र मौका मिल गया।

1876 की बात है। उस समय मिस्र का शासक, जिसको खदीव कहा जाता था, ईस्माईल था। वह बहुत-ही फिजूलखर्ची था। इसके लिए वह बराबर ऋण लेता रहता था। लेकिन, जब इससे भी उसका काम नहीं चला तो उसने स्वेज-नहर में अपने हिस्से को बेचने का निर्णय किया। उस समय ब्रिटेन का प्रधानमंत्री डिजरैली था। वह बहुत बड़ा साम्राज्यवादी था और ऐसे ही मौके की ताक में था। ज्योंही उसे ज्ञात हुआ कि स्वेज-नहर के हिस्से बिकनेवाले हैं, उसने अपनी जिम्मेवारी पर उन्हें खरीद लिया। अब स्वेज-नहर पर ब्रिटेन का अधिकार भी कायम हो गया। स्वेज-नहर में ब्रिटेन और फ्रांस साझी हो गये। लेकिन, स्वेज-नहर का अपना हिस्सा बेच देने से ही मिस्र की आर्थिक स्थिति सुधर नहीं सकी। 1876 में मिस्र का आर्थिक दिवाला निकल गया। मिस्र को बहुतेरे देशों ने कर्ज दिये थे। आर्थिक दिवालियापन की स्थिति में खदीव ने इन कर्जों को रद्द कर देने का निर्णय किया। यह सुनकर मिस्र के सबसे बड़े कर्जदार ब्रिटेन और फ्रांस घबड़ा गये। इन दोनों देशों ने मिलकर मिस्र की आर्थिक स्थिति की जाँच-पड़ताल की

* Schuman : *International Politics*, p, 514,

और इसके वाद मिस्र के आर्थिक जीवन पर इन दोनों का संयुक्त नियंत्रण कायम हुआ। लेकिन, अधिक दिनों तक मिस्र पर यह द्वैध-शासन सफलतापूर्वक चल नहीं सका। यहाँ तक कि 1879 में खदीव ईस्माईल को पदच्युत करने पर भी स्थिति में कोई सुधार नहीं हुआ। ईस्माईल के वाद तौफीक मिस्र का खदीव वनाया गया। मिस्र में विदेशियों का हस्तक्षेप वढ़ रहा था। मिस्र की जनता इसको सहने के लिए तैयार नहीं थी। अरवीपाशा के नेतृत्व में एक वहुत वड़ा राष्ट्रीय आन्दोलन उठ खड़ा हुआ। मिस्रियों का नारा था—"मिस्र मिस्रियों के लिए है।" ब्रिटेन और फ्रांस इस विद्रोह से चिन्तित हो रहे थे। उन्होंने एक साथ मिलकर इस विद्रोह को दवाने की योजना वनायी। लेकिन अन्तिम क्षणों में फ्रांस ने इस अपवित्र काय में ब्रिटेन का साथ देने से इन्कार कर दिया। ब्रिटेन ने तव अकेले ही अरवीपाशा का मुकावला करने का निर्णय किया। 1882 के सितम्बर में अरवीपाशा परास्त हुआ और मिस्र पर ब्रिटेन के आधिपत्य का रास्ता खुल गया।

अरवीपासा की पराजय के वाद ब्रिटेन मिस्र के राजनीतिक एवं आर्थिक जीवन को अपने साम्राज्यवादी लाभ को ध्यान में रखकर संगठित करने लगा। 1884 में लार्ड क्रोमर मिस्र में प्रधान ब्रिटिश राजदूत नियुक्त हुआ। उसके प्रयासों के फलस्वरूप मिस्र में ब्रिटेन का आधिपत्य स्थिर रूप में स्थापित हो गया। नाम के लिए तो अभी तक मिस्र का शासन वहाँ के खदीव के हाथ में था; लेकिन वास्तविक शासन-शक्ति ब्रिटेन के हाथ में ही थी। 1914 में मिस्र ब्रिटेन के उपनिवेश के समान हो गया।

यह आमतौर से स्वीकार किया जाता है कि जर्मन-सरकार की सहानुभूतिपूर्ण रूख के कारण मिस्र में ब्रिटेन को इतनी सफलता मिली थी। उस समय विस्मार्क जर्मनी का कर्णधार था और वह ब्रिटेन के साम्राज्यवादी मार्ग में किसी प्रकार की वाधा पहुँचाना नहीं चाहता था। लार्ड ग्रेनविल ने जर्मनी के इस सहानु-भूतिपूर्ण रूख पर कृतज्ञता प्रकट करते हुए कहा था—'हमलोग विस्मार्क के आभारी हैं। मिस्र में हमलोगों को जो सफलता प्राप्त हुई है उसमें जर्मन की मित्रतापूर्ण नीति से हमलोगों को काफी सहायता मिली है। हमलोग इस वात को अच्छी तरह समझते हैं कि अगर उस समय विस्मार्क हमारे रास्ते पर रोड़े अटकाने का काम करता तो हमारी सारी योजनाएँ असफल हो जाती।" विस्मार्क ब्रिटेन की इस असहाय स्थिति को समझता था। वह जानता था मिस्र में ब्रिटिश-कार्रवाई को लेकर रूस और फ्रांस ब्रिटेन से काफी रुष्ट हैं। ऐसी स्थिति में अपनी मिस्र-सम्बन्धी नीति पर ब्रिटेन एकमात्र जर्मनी की सहानुभूति पर निर्भर था। विस्मार्क ब्रिटेन की इस लाचारी से लाभ उठाना चाहता था। जर्मन-सहानुभूति के वदले

में वह ब्रिटेन से कुछ लेना चाहता था। विस्मार्क, जो अभी तक जर्मनी के औपनिवेशिक साम्राज्य का कट्टर विरोधी था, अब नयी स्थिति में इसका समर्थक बन गया। उसको विश्वास था कि ब्रिटेन उसका विरोध नहीं करेगा। ऐसी परिस्थिति में जर्मनी का औपनिवेशिक जीवन प्रारम्भ हुआ।

विस्मार्क ब्रिटेन की सहानुभूति प्राप्त कर जर्मनी के लिए एक-दो उपनिवेश कायम करके ही सन्तुष्ट होनेवाला व्यक्ति नहीं था। वह ब्रिटेन से बहुमूल्य चीज लेना चाहता था। वह यह आश्वासन प्राप्त कर लेना चाहता था कि यदि फ्रांस जर्मनी पर चढ़ाई कर दे तो वैसी स्थिति में ब्रिटेन जर्मनी की मदद करेगा। लेकिन, ब्रिटेन इतनी बड़ी कीमत चुकाने के लिए तैयार नहीं था। उसने ऐसा आश्वासन देने से इन्कार कर दिया। इस पर विस्मार्क भीतर-ही-भीतर काफी रंज हुआ। इसका बदला लेने के लिए वह फ्रांस को उसकाने लगा। औपनिवेशिक झगड़ों में विस्मार्क फ्रांस को सहारा देना चाहता था। इसमें उसको दो लाभ थे। एक वह फ्राँसीसियों को कृतज्ञ कर अपने पक्ष में कर सकता था और दूसरे, चुपचाप ब्रिटेन की साम्राज्यवादी नीति का विरोध भी हो जाता था।

सूडान और फसोदा-कांड —उधर सूडान को लेकर ब्रिटेन और फ्रांस में तनाव बढ़ रहा था। फ्रांस मिस्र में ब्रिटेन के बढ़ते हुए प्रभाव से बहुत चिन्तित था। जिस ढंग से ब्रिटेन-सरकार ने स्वेज-नहर में हिस्सा प्राप्त कर लिया था, यह बात फ्रांस को बहुत खल रही थी।* मिस्र में एक ब्रिटिश-सेना स्थापित हो चुकी थी। यह फ्रांस के लिए बहुत ही आपत्तिजनक बात थी। पर ब्रिटेन फ्रांस के हितों की परवाह नहीं करता था। फ्रांस उत्तरी आफ्रिका में पूरब से पश्चिम तक अपना साम्राज्य बनाना चाहता था और अंगरेज उत्तर से दक्षिण तक अपना साम्राज्य स्थापित करना चाहते थे। इसलिए पूर्वी सूडान पर, जो नील के दक्षिणी भाग में पड़ता था, दोनों की आँखें गड़ी हुई थीं। इस भू-भाग पर पहले मिस्र का अधिकार था; किन्तु 1880 में यह मिस्र के हाथ से निकलकर 'स्वतन्त्र' हो गया था। 1882 में जब ब्रिटेन ने मिस्र पर अपना आधिपत्य स्थापित किया तो वह सूडान को भी अपने प्रभाव-क्षेत्र में सम्मिलित समझने लगा। अतएव वह सूडान में अपनी शक्ति को बढ़ाने का प्रयास करने लगा। लेकिन, सूडान के निवासी विदेशी हस्तक्षेप से असन्तुष्ट थे। उन्होंने मोहम्मद अहम्मद, जो अपने को 'मसीह' कहता था, के नेतृत्व में 1885 में एक विद्रोह प्रारम्भ कर दिया। ब्रिटिश-सरकार ने उसको दबाने के लिए जो सेनाएँ भेजी वे परास्त हो गयीं। ब्रिटिश सेनापति जेनरल गॉर्डन ने अपने सम्पूर्ण सैनिकों के साथ कत्ल कर दिया गया। गॉर्डन की हत्या से सूडानी युद्ध ने बहुत ही गम्भीर रूप धारण कर लिया। अन्त में उसे परास्त करने के लिए लार्ड किचनर के नेतृत्व में एक शक्तिशाली ब्रिटिश-सेना सूडान भेजी गयी।

---

* P. T. Moon : *Imperialism and World Politics, p.* 150

इस समय फ्रांस सूडान की समस्या को एक दूसरे दृष्टिकोण से देख रहा था। फ्रांस यह मानने को तैयार नहीं था कि सूडान एकमात्र ब्रिटेन का प्रभाव-क्षेत्र है। फ्रांस का कहना था कि जो शक्ति सूडान को पहले दबा सके उसी का उस पर अधिकार हो। उस समय साम्राज्यवादियों के बीच अफ्रिका के बँटवारे का एक विचित्र तरीका चल पड़ा था। जिस स्थान पर कोई यूरोपीय पहुँच जाता था और वहाँ वह अपने देश का झण्डा गाड़ देता था, वह स्थान उस व्यक्ति के देश की अधीनता में चला जाता था। इसी सिद्धान्त के आधार पर यात्रा करते हुए फ्रांस का मार्शां नामक एक यात्री 1897 में सूडान पहुँचा और वहाँ फसोदा नामक एक स्थान पर फ्रांस का झण्डा फहरा दिया। अँगरेजों ने इसका विरोध किया। उनकी दृष्टि में सूडान पर उनका ही एकमात्र अधिकार हो सकता था। इसी समय लार्ड किचनर सूडान का विद्रोह दबाने में व्यस्त था। उत्तर की तरफ से वह भी इस प्रदेश में प्रवेश कर रहा था। जब किचनर फसोदा पहुँचा तो उसने मार्शां को फ्रांसीसी झण्डे को उतार देने का आग्रह किया। फ्रांस के लिए यह राष्ट्रीय अपमान था। दोनों के बीच युद्ध छिड़ने की स्थिति पैदा हो गयी; पर युद्ध छिड़ने से बच गया। फ्रांस ने अपनी सेना हटा ली और ब्रिटेन के लिए मैदान खाली हो गया। पीछे चलकर दोनों देशों के बीच एक समझौता हुआ। इस समझौते के द्वारा यह तय किया गया कि मिस्र और सूडान पर से फ्रांस अपना दावा छोड़ दे और मोरक्को में अँगरेज लोग हस्तक्षेप नहीं करें। वहाँ फ्रांस को मनमानी करने का पूरा अधिकार प्राप्त हुआ। इस तरह फसोदा-काण्ड का अन्त हुआ।

फसोदा-काण्ड को लेकर ब्रिटेन और फ्रांस में युद्ध छिड़ सकता था। पर, फ्रांसीसी विदेश-मंत्री देल्कासे के कारण यह सम्भावना उत्पन्न नहीं हुई और दोनों देशों के बीच युद्ध होने से बच गया। देल्कासे जर्मनी का कट्टर विरोधी था। वह ब्रिटेन का समर्थन प्राप्त करके जर्मनी से बदला लेना चाहता था। यूरोप में फ्रांस और जर्मनी के विद्वेष बढ़ रहे थे। जर्मनी की शक्ति भी बढ़ रही थी। इस दशा में फ्रांस का हित इसी में था कि वह ब्रिटेन के साथ अपने झगड़े को नहीं बढ़ावे। ब्रिटेन के साथ मेलजोल करके जर्मनी के विरुद्ध जबर्दस्त मोर्चा कायम करने में ही फ्रांस का हित था। इसी से फसोदा काण्ड के अवसर पर फ्रांस दब गया।

1899 में सूडान के प्रश्न पर ब्रिटेन और फ्रांस के बीच जो समझौता हुआ, वह फ्रांस के लिए बहुत हितकर सिद्ध हुआ। उत्तर-पश्चिमी आफ्रिका में अपना एकछत्र साम्राज्य स्थापित करने के लिए उसका मार्ग अब एकदम साफ हो गया और कांगो से लेकर अलजीरिया तक उसका अबाधित शासन कायम हो गया। इसके अतिरिक्त यह समझौता भविष्य में दोनों देशों के बीच के अन्य समझौताओं का एक आधार भी बन गया

फसोदा-काण्ड के कारण ब्रिटेन की विदेश-नीति में परिवर्तन होना भी जरूरी हो गया। जिस समय फसोदा को लेकर ब्रिटेन और फ्रांस के बीच युद्ध का छिड़ना सम्भव हो गया था उस समय ब्रिटेन को सहायता देनेवाला कोई भी देश नजर नहीं आ रहा था। कैसर ब्रिटेन की यह हालत देखकर काफी खुश था। वह दिल से चाहता था कि इन दोनों देशों के बीच युद्ध छिड़ जाय। कैसर की मनोकामना पूरी नहीं हो सकी। उधर ब्रिटेन को अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में अपने अकेलेपन की स्थिति का एक बार फिर कटु अनुभव हुआ। वहाँ के शासक पृथक्ता की नीति को छोड़ने के लिए तैयार हो गये।

इस तरह बिना कोई भयंकर युद्ध किये यूरोपीय राज्यों ने आपस में अफ्रिका का बँटवारा कर लिया। यद्यपि अफ्रिका के लिए यूरोपीय राज्यों में भयंकर संघर्ष नहीं हुए, फिर भी इसका यह मतलब नहीं है कि इन राज्यों के बीच आपस में तनातनी या मनमुटाव पैदा नहीं हुआ। अफ्रिका में साम्राज्य-विस्तार के क्रम में यूरोपीय शक्तियों के बीच खूब तनातनी बढ़ी। फसोदा-काण्ड उसका ज्वलन्त उदाहरण है। लेकिन फसोदा-काण्ड ही साम्राज्यवाद से सम्बन्धित अन्तिम अन्तर्राष्ट्रीय संकट नहीं था। इसके बाद भी यह समस्या उबलती रही और 1906 में विश्व के सामने मोरक्को-काण्ड और 1911 में अगादीर-काण्ड उपस्थित हो गया, जिनके कारण यूरोपीय शान्ति खतरे में पड़ गयी।

अध्याय ग्यारह

एशिया में नवीन साम्राज्यवाद
(New Imperialism in Asia)

चीन की लूट-खसोट :— प्रथम विश्व-युद्ध के पूर्व संसार की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को भलीभांति समझने के लिए यह आवश्यक है कि एशिया के विविध क्षेत्रों में साम्राज्यवादी देश अपने प्रभुत्व और प्रभाव का विस्तार करने के लिए जो प्रयत्न कर रहे थे, उनका भी संक्षेप में उल्लेख किया जाय। इस युग में प्रभाव के विस्तार का सबसे अधिक संघर्ष चीन में हुआ क्योंकि एशिया में यूरोप के नवीन साम्राज्यवाद का नग्न नृत्य इसी देश में हुआ।

अफ्रिका से बहुत पहले ही एशिया में यूरोपीय साम्राज्यवाद का प्रवेश हो चुका था। 1871 के पहले अधिकांश देश बँट चुके थे। अतएव यहाँ नये बँटवारे का सवाल उतने महत्व का नहीं था जितने महत्व का अफ्रिका में। एशिया के प्रायः तिहाई भाग पर रूस का अधिकार था। भारत पर अँगरेजों का आधिपत्य था। दक्षिण-पूर्वी एशिया में जापान और चीन ही दो ऐसे देश बच रहे थे जहाँ यूरोपीय साम्राज्य की स्थापना हो सकती थी। किन्तु जापान पर अधिकार जमाने की चेष्टा व्यर्थ हुई। उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में ही उसने अपने को आधुनिकता के रंग में रंग लिया और स्वयं एक साम्राज्यवादी देश बन बैठा। ऐसी स्थिति में चीन ही एक अकेला देश बच रहा था जहाँ साम्राज्यवादी देश लूट-खसोट कर सकते थे। सबों की दृष्टि चीन पर लगी हुई थी। एशिया में इससे बढ़कर अभी शोषण का नया क्षेत्र कोई दूसरा नहीं था। समृद्ध देश होते हुए चीन की शासन-व्यवस्था भ्रष्ट और अयोग्य थी। वहाँ की सरकार बहुत कमजोर थी और साम्राज्यवादियों का मुकाबला नहीं कर सकती थी। संक्षेप में, चीन की बुरी दशा साम्राज्यवादियों को शोषण के लिए आमन्त्रित कर रही थी।

उन्नीसवीं शताब्दी के दूसरे भाग का चीन का इतिहास यूरोपीय साम्राज्यवादियों के बलात् प्रवेश का इतिहास है।* प्रारम्भ से चीन पृथकता की नीति का अवलम्बन करते आ रहा था। उसको दुनिया के अन्य किसी राज्य से कोई मतलब नहीं था। चीन के लोग किसी अन्य देश के साथ सम्पर्क स्थापित करना नहीं चाहते थे। लेकिन, चीनी रेशम और चाय यूरोपीय व्यापारियों को ललचा रहे थे। वे लोग धीरे-धीरे चीन में प्रवेश करने लगे। उन्होंने चीन के राजनीतिक

* Ketelbey : *History of Modern Times*, p. 492

मामलों में हस्तक्षेप करना शुरू किया। चीन की सरकार यद्यपि कमजोर थी; लेकिन वह व्यापारियों और कुछ ईसाई-धार्मिक पादरियों के अत्याचार को सहने के लिए तैयार नहीं थी। उसने यूरोपीय लोगों पर अनेक प्रतिबन्ध लगा दिये।

यूरोपीय लोग किसी प्रतिबन्ध को सहने के लिए तैयार नहीं थे। वे अपनी शक्ति का प्रयोग कर जबर्दस्ती चीन का दरवाजा खोलना चाहते थे। ब्रिटेन इस कार्य में सबका अग्रणी रहा। चीन में ब्रिटेन अफीम का व्यापार करता था। चीन सरकार ने अफीम की बिक्री पर रोक लगा दी। इस प्रतिबन्ध को बहाना बनाकर ब्रिटेन ने 1841 में चीन पर चढ़ाई कर दी। इस युद्ध में अँगरेज जीत गये। 1842 में नानकिंग की संधि के अनुसार चीन को हर्जाना देना पड़ा। उसे हाँगकाँग के टापू से हाथ धोना पड़ा और पाँच बन्दरगाह खोलने पडे, जहाँ अंगरेज रह सकें और बिना किसी रोक-टोक के व्यापार कर सकें।

इस युद्ध के बाद भी चीन के लोग यह नहीं चाहते थे कि बन्दरगाहों के बाहर विदेशियों का उनके देश में प्रवेश हो। 1858 में एक फ्रांसीसी पादरी चीन में मारा गया। चीन पर आक्रमण करने का एक अच्छा बहाना मिल गया। फ्रांस और ब्रिटेन दोनों ने मिलकर चीन पर चढ़ाई कर दी। चीन हार गया और तीन्तिसन की सन्धि (1860) के फलस्वरूप चीन को छः और बन्दरगाह खोलने पड़े, अफीम के व्यापार की आज्ञा देनी पड़ी और ईसाई-धर्म-प्रचारकों की सुरक्षा का जिम्मा लेना पड़ा। अब चीन विदेशियों के लिए पूर्णतया खुल गया था। वे स्वच्छन्दतापूर्वक उसके साथ व्यापार कर सकते थे। उन्हें राज्य-क्षेत्र-बाह्य अधिकार (extra territorial rights) भी प्राप्त हुए, जिसके अनुसार उनके वासस्थानों को चीनी कानूनों से मुक्त कर दिया गया। चीन में रहकर भी वे अपने देश के कानून के अनुसार शासित होते थे।*

ब्रिटेन और फ्रांस के बाद अन्य यूरोपीय राज्यों की बारी आयी। अमेरिका, रूस, जर्मनी, हालैंड,बेल्जियम इत्यादि देशों के साथ चीन की पृथक्-पृथक् सन्धियाँ हुईं। इन सभी देशों को चीन में व्यापारिक और राजनीतिक सुविधाएँ प्राप्त हुईं। इन सुविधाओं को प्राप्त करने में ये साम्राज्यवादी राज्य अन्तर्राष्ट्रीय विधि की परवाह नहीं करते थे। चीन के बन्दरगाह पूर्णतया उसके अधिकार में रहते थे। यूरोपीय लोगों को अपनी बस्तियाँ थीं, जहाँ उनकी अपनी सरकार, पुलिस और न्यायालय आदि होते थे। चीन की भूमि पर वे अपनी सेना भी रखते थे। वे अपने को चीन-सरकार के कानूनों से मुक्त मानते थे। उनके व्यापार पर चीन की सरकार पाँच फी सदी से अधिक आयात-निर्यात-कर भी नहीं लगा सकती थी।

---

* Hearnshaw : *Main Currents of European History*, P. 271

इसी प्रकार यूरोपीय राष्ट्रों द्वारा चीन का राजनीति एवं आर्थिक शोषण प्रारम्भ हुआ।*

२. जापान का उत्कर्ष

चीन केवल यूरोपीय साम्राज्यवाद का ही शिकार नहीं हुआ। उसका पड़ोसी देश जापान भी उस पर अपना साम्राज्य फैलाने का प्रयास कर रहा था। प्रारम्भ में चीन की तरह जापान भी बाहरी दुनिया से अपने को अलग रखना चाहता था। विश्व-राजनीति में उसकी नीति भी विलगाव की थी। सतरहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में यूरोपीय व्यापारी तथा धर्म-प्रचारकों ने जापान से सम्पर्क स्थापित करने की कोशिशें की थीं। लेकिन, वे सब प्रयास निष्फल हुए। जापान ने पश्चिमी लोगों के प्रवेश के विरूद्ध अपना दरवाजा कसकर बन्द कर दिया। जापान में उनके लिए घुसना कठिन काम हो गया।

जापान के दरवाजा को खोलने का असल श्रेय संयुक्तराज्य-अमेरिका को है। 1853 में अमेरिकी नौ-सेना का एक सेनापति पेरी संयुक्तराज्य-अमेरिका की सरकार का एक पत्र लेकर जापान पहुँचा। इस पत्र के आधार पर उसने जापान और अमेरिका के बीच व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित करना और कुछ बन्दरगाहों पर अमरीकी व्यापारियों के लिए व्यापार करने के अधिकार की माँग की। पेरी अपने साथ जगी जहाजों का एक बेड़ा लेकर आया था। इन जहाजों को देखकर जापान में खलबली मच गयी। जापान के शासकों के बीच अमेरीकी पत्र को लेकर काफी बहस हुई। एक दल सम्पर्क स्थापित करने का विरूद्ध था और दूसरा दल इसके पक्ष में था। अन्ततोगत्वा दूसरे दल की विजय हुई। संयुक्त राज्य अमेरिका की माँगे मान ली गयीं। जापान और अमेरिका में एक सन्धि हुई, जिसके अनुसार जापान के दो बन्दरगाह अमेरिका के व्यापार के लिए खोल दिये गये।

अमेरिका ने जापान में बलात् घुसने का काम शुरू कर दिया। अब यूरोप के अन्य देश जापान की तरफ दौड़े। जापानी सरकार के सामने उन्होंने अपनी माँगें रखीं। जापान अब इन्कार नहीं कर सकता था। 1867 आते-आते जापान को लगभग पन्द्रह देशों के साथ सन्धि करनी पड़ी। विभिन्न यूरोपीय राज्यों को व्यापारिक तथा अन्य तरह के राजनीतिक अधिकार प्राप्त हुए। जापान के बन्दरगाहों पर यूरोपीय देशों को काफी सुविधाएँ मिली। यूरोपीय देश जापान के शोषण की योजना बनाने लगे। भारत और चीन का इतिहास जापान में भी दुहराया जानेवाला था। जापान 'असमान' सन्धियों के जाल में फँस चुका था। इसके बाद दूसरा कदम यह था कि कोई मौका पाकर जापान पर यूरोपीय शासन लाद दिया जाय।

---

* Hayes and Cole : *History of Europe* (vol. ii), p. 307

लेकिन जापान में यूरोपीयों की यह अभिलाषा पूरी नहीं हुई। जापान के लोग काफी समझदार और चालाक थे। उन्होंने अनुभव किया कि पश्चिम के राज्य काफी बढ़े-चढ़े हैं। अपने देश की उन्नति करके जापान ने उनका मुकाबला करने का निश्चय किया। जापान की शासन-व्यवस्था बहुत ही खराब थी। जापान का राज्य-प्रधान तो एक सम्राट् था, लेकिन राज्य की वास्तविक शक्ति जापान के सामन्तों के हाथों में थी। ये सामन्त भिन्न-भिन्न वर्गों में बंटे हुए थे और एक दूसरे से जलते थे। जापान के शासन में कभी किसी वर्ग की प्रधानता रहती तो कभी किसी वर्ग की। 1867 में जापान की शासन-व्यवस्था सोगुँ वर्ग के सामतों के हाथ में थी। इस वर्ष इस वर्ग के शासन के विरुद्ध एक रक्तहीन क्रांति हुई, जिसके फलस्वरूप जापानी शासन-व्यवस्था से सामान्तों की प्रधानता जाती रही। सम्राट् को अपने पुराने अधिकार पुनः वापस मिल गये और जापान में एक नवजीवन का संचार हुआ।

जापान का आधुनीकरण—1867 के बाद जापान एक प्रगतिशील राष्ट्र बन गया। नये शासकों के नेतृत्व में जापान के पश्चिमीकरण का एक आन्दोलन चल पड़ा। पश्चिमी भावनाओं के पीछे जापान इस रफ्तार से दौड़ने लगा कि कुछ ही दिनों के अन्दर उसके राष्ट्रीय जीवन में क्रांतिकारी परिवर्तन हो गया। जापान में सामन्त-प्रथा का अन्त हो गया। जापानी जल और थल सेनाओं को आधुनिक ढंग से संगठित किया गया। जापान के लिए एक राष्ट्रीय सेना की व्यवस्था की गयी और अनिवार्य सैनिक प्रथा लागू की गयी। जापान की शासन-व्यवस्था में परिवर्त्तन किया गया। नये-नये कानून बनाये गये और एक संविधान की रचना हुई। पश्चिम के बहुत से ग्रंथ अनुवाद किये गये। शिक्षा अनिवार्य कर दी गयी। स्कूलों में अंगरेजी भाषा को अनिवार्य विषय बना दिया गया। हजारों जापानी विद्यार्थियों को उच्च शिक्षा के लिए विदेश भेजा गया। इनके साथ-साथ जापान की व्यापारिक उन्नति भी हुई। जापान में बड़े-बड़े कल-कारखाने खुले। जापान में औद्योगिक क्रांति शुरू हो गयी। बड़े पैमाने पर चीजों का उत्पादन होने लगा। कुछ ही दिनों में जापान का रंग बिल्कुल बदल गया। जो जापान कुछ दिन पहले एक सामान्तवादी देश था वह बीस वर्षों की छोटी अवधि में एक आधुनिक देश बन गया। जापानी साम्राज्यवाद इसी आधुनीकरण का परिणाम था।

३. जापानी साम्राज्यवाद के कारण

पूर्वी एशिया के इतिहास में जापान का उत्कर्ष एक युगान्तकारी घटना है। यूरोपीय और अमरीकी आक्रमण से अपनी रक्षा करने के लिए जापान ने शुरू में

पाश्चात्य सभ्यता का अनुसरण किया था। लेकिन, अधिक दिनों तक केवल देश की सुरक्षा नवीन जापान का उद्देश्य नहीं रह सका। कुछ ही दिनों में जापान एक बहुत बड़ा साम्राज्यवादी देश बन गया। जापानी साम्राज्यवाद के अनेक कारण थे—

सैनिकवाद—आधुनीकरण के फलस्वरूप जापान में सैनिकवाद का जन्म हुआ। जापान की जल और थल-सेनाओं को सुसंगठित किया गया। इन सेनाओं के नेता बड़े महत्त्वकांक्षी व्यक्ति थे। वे आक्रामक प्रवृति के थे और उन्हें जापान के उग्र देशभक्तों से काफी प्रोत्साहन मिलता था। इन सेनापतियों का ख्याल था कि जापान को उग्र विदेश-नीति का अवलम्बन करना चाहिए। 1894 के पहले से ही ये लोग उग्र नीति को अपनाने के लिए दबाव दे रहे थे। जापानी सरकार पर उनका काफी प्रभाव था और इससे प्रभावित होकर जापानी-सरकार ने साम्राज्यवादी नीति का अनुसरण करने का निश्चय किया।

आधुनीकरण—पर यह कहना गलत होगा कि जापानी साम्राज्यवाद के लिए केवल कुछ मुट्ठी भर उग्र राष्ट्रवादी और सैनिक अफसर जिम्मेवार थे। जापानी साम्राज्यवाद के अनेक कारण थे और उसमें सबसे प्रमुख था जापान का जागरण। 1867 के बाद जापान के राष्ट्रीय स्वरूप में क्रांतिकारी परिवर्तन होने लगे। आधुनीकरण के कारण जापान एक महान् राष्ट्र बन गया था। उसमें नये उत्साह और जीवन का संचार हुआ था। औद्योगिक विकास के कारण जापान दिन दूनी रात-चौगुनी उन्नति कर रहा था। जापान की आबादी में भी वृद्धि हो रही थी। सामरिक दृष्टि से जापान की भौगोलिक स्थिति का बहुत बड़ा महत्त्व है; क्योंकि वह चारों तरफ समुद्र से घिरा हुआ है। इस स्थिति के कारण वह एक व्यापारी राष्ट्र भी हो सकता था। इस समय जापान की अपनी बढ़ती हुई आबादी को खिलाने की समस्या थी। इस समस्या का समाधान वह अपना औद्योगीकरण करके कर सकता है। लेकिन, औद्योगीकरण के लिए कुछ आवश्यक चीजों की जरूरत होती है—कच्चे माल और बाजार दो ऐसी ही आवश्यक चीजें थीं। जिस प्रकार इन चीजों की आवश्यकता ने पाश्चात्य राज्यों को साम्राज्य स्थापित करने को बाध्य किया था, उसी प्रकार इन आवश्यकताओं ने जापान को भी साम्राज्य स्थापित करने के लिए उत्तेजित किया।

पश्चिमी साम्राज्य का भय—जिस समय जापान के एकान्तवासी जीवन का अन्त हुआ उस समय साम्राज्यवाद विश्व-राजनीति का एक प्रमुख सिद्धांत बन चुका था। उस समय यूरोप के भिन्न-भिन्न राज्य तथा जापान का पड़ोसी संयुक्त राज्य अमेरिका गैर-यूरोपीय देशों में अपने-अपने साम्राज्य का विस्तार कर रहे थे। उन्नीसवीं सदी की आठवीं दशाब्दी से चीन के लूट-खसोट का काम शुरू हो गया

था। उधर 1898 में अमेरिका ने हवाईद्वीप पर अपना आधिपत्य कायम किया। हवाईद्वीप के अधिकांश निवासी जापानी थे। इसके कुछ ही दिनों बाद फिलिपाईन्स-द्वीपसमूह पर भी अमेरिका का कब्जा हो गया। चारों तरफ से साम्राज्यवादी संघर्षों से जापान घिर रहा था और इस बातों को जापान अवहेलना की दृष्टि से नहीं देख सकता था। राष्ट्रीय सुरक्षा के लिए जापान के लिए यह आवश्यक हो गया कि साम्राज्यवाद के क्षेत्र में वह भी पश्चिमी देशों का अनुकरण करे।

समानता की आकांक्षा :—जापान के निवासी बड़े घमंडी एवं सूक्ष्मग्राही व्यक्ति थे। उनका देश पूर्व का प्रथम देश था, जो अपना यूरोपीकरण कर यूरोपीय देशों के स्तर पर पहुँच गया था। जापान में वे सभी गुण मौजूद थे जिनके कारण वह यूरोपीय समाज में समानता के स्तर पर प्रवेश पा सके। जापान यूरोपीय समाज में प्रवेश तो कर गया; पर यूरोपीय राष्ट्रमंडल में उसका हार्दिक स्वागत नहीं हुआ। यूरोप के राज्य उसको अनादर, उपेक्षा तथा तिरस्कार की दृष्टि से देखते थे। जापान के घमंडी लोगों को यह बात बहुत बुरी लगती थी। इस मानसिक दशा में वे पश्चिमी राष्ट्रों को घृणा की दृष्टि से देखने लगे। उनका कहना था कि जबतक जापान स्वयं एक साम्राज्यवादी राष्ट्र नहीं बन जाता तबतक यूरोप के राज्य उसके साथ समानता का व्यवहार नहीं करेंगे। जापान किसी भी यूरोपीय देश से कम शक्तिशाली या प्रगतिशील राष्ट्र नहीं था। लेकिन, साम्राज्य नहीं होने के कारण शक्तिशाली और प्रगतिशील होने के बावजूद राष्ट्रों के समाज में उसकी पूछ नहीं थी। अतः दुनिया में अपनी आवाज को बुलन्द करने के लिए जापान को साम्राज्य स्थापित करना आवश्यक हो गया।

प्रजातीय श्रेष्ठता :—जापानी लोग अपने को श्रेष्ठ प्रजाति (race) के व्यक्ति समझते थे। वे अपने देश को देवलोक तथा अपने सम्राट् को ईश्वर का रूप मानते थे। उनका विचार था कि शेष संसार के लोग जंगली और असभ्य हैं और श्रेष्ठ प्रजाति के होने के कारण उनका अधिकार है कि वे दूसरी जातियों पर शासन करें। विशिष्ट जाति होने का यह भ्रम जापानी साम्राज्यवाद का एक दूसरा कारण था।

सैनिक परम्परा :—जापान को अपनी सैनिक शक्ति पर काफी भरोसा था। इसी शक्ति के बल पर वे अपना राज्य-विस्तार करना चाहते थे। सैनिक-शक्ति का प्रथम प्रयोग उन्होंने 1894 में चीन-जापान-युद्ध के अवसर पर किया और इसमें उन्हें आशातीत सफलता मिली थी। 1905 में उसने रूस-जैसे महान् शक्तिशाली देश को हराया। प्रथम विश्व-युद्ध में भी उसको लाभ ही लाभ हुए। जापान की सैनिक परम्परा बहुत पुरानी थी। इस देश में एक-से-एक योद्धा और

वीर पैदा हुए थे। इधर युद्ध में उसको मुँहमांगी सफलता प्राप्त हो रही थी। जापान के लोगों में यह विश्वास जम गया कि उनकी सैनिक-शक्ति अजेय है, उनको कोई परास्त नहीं कर सकता है और इसके बल पर वे अपना राज्य-विस्तार कर सकते हैं।

आबादी :—जापान की आबादी में वृद्धि जापानी साम्राज्यवाद का एक अन्य प्रमुख कारण था। एक वर्ग मील के हिसाब से जापान की आबादी चीन से चौगुनी और भारत से दुगुनी थी। उन्नीसवीं शताब्दी की अन्तिम दशाब्दी में इस आबादी में घनघोर वृद्धि हो रही थी। आबादी में यह वृद्धि जापान के शासकों के लिए एक कठिन समस्या हो गयी। दूसरे देश में जाकर बसना इस समस्या का एक समाधान हो सकता था। पर यह सम्भव नहीं था; क्योंकि जिन जगहों पर जापानी लोग जाकर बस सकते थे उन पर यूरोपीय लोग बहुत पहले ही कब्जा जमा चुके थे। संयुक्तराज्य-अमेरिका, कनाडा, आस्ट्रेलिया इत्यादि देशों के प्रवास नियम (emigration laws) इतने कठोर थे कि इन देशों में एशियाई लोगों का घुसना असम्भव था। मंचूरिया में जाकर बसने का कुछ प्रयास जापानियों द्वारा किया गया। लेकिन, इस समस्या का समाधान नहीं हो सका। इस समस्या के समाधान का एकमात्र उपाय यह था कि जापान का औद्योगीकरण हो। जापान में बड़े-बड़े कल-कारखाने खोले जायँ और इन्हीं कल-कारखानों में जापान की बढ़ती हुई जनसंख्या को लगा दिया जाय। लेकिन, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, औद्योगीकरण के लिए दो चीजों-कच्चे माल तथा बाजार की आवश्यकता होती है। कच्चे माल का मिलना तो उतना मुश्किल नहीं था; परन्तु बाजार को लेकर अनेक कठिनाइयाँ थीं। एशिया के सभी देश किसी-न-किसी यूरोपीय राज्य के साम्राज्य के अन्तर्गत थे और कोई भी साम्राज्यवादी देश अपने क्षेत्र में नये प्रतिद्वन्दी को उतरते नहीं देख सकता था। ऐसी दशा में जापान के लिए जीवन-मरण का प्रश्न हो गया। राष्ट्रीय मान-मर्यादा तथा आर्थिक आवश्यकता जीवन को साम्राज्यवादी अपनाने के लिए जापान को वाध्य कर रहे थे।

जापान के साम्राज्यवादी जीवन का उद्भव पूर्वी एशिया की राजनीति में एक क्रान्तिकारी घटना थी। इसके कारण उस क्षेत्र की राजनीति में क्रान्तिकारी परिवर्तन होना आवश्यक हो गया। जापान के सामने उस समय मुख्य प्रश्न यह था कि वह किस क्षेत्र में अपने राज्य का विस्तार करें। वह उग्र साम्राज्यवादी विदेश-नीति को अपनाने के लिए तैयार था; लेकिन प्रश्न यह था कि इस नीति को किस भूखंड में कार्यान्वित किया जाय। सारा संसार यूरोपीय राज्यों के बीच बँट चुका था। जापान के पड़ोसी एशियाई देशों पर यूरोपीय शक्तियों का साम्राज्य कब का स्थापित हो चुका था। पर अभी संसार में एक ऐसा क्षेत्र बच रहा था जहाँ पर जापान

अपनी अभिलाषाओं की पूर्ति कर सकता था। वह था पड़ोस का शक्तिहीन एवं कमजोर देश चीन, जो हाल के कुछ वर्षों से यूरोपीय साम्राज्यवाद के शोषण का शिकार बन रहा था। जापान को यही मौका था। अतएव उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम वर्षों में जापान भी चीन के शोषण और लूट-खसोट में साम्राज्यवादी यूरोपीय देशों का सफेदार बन गया।

1894-5 का चीन-जापान-युद्ध

कोरिया की स्थिति—कोरिया के प्रश्न पर जापान को सर्वप्रथम अपनी नवीन शक्ति की परीक्षा लेने का मौका मिला। कोरिया चीन-साम्राज्य का एक प्रदेश था और जापान के बहुत निकट में स्थित था। कोरिया-प्रायद्वीप में जापान का परम्परागत स्वार्थ था। पर इस स्वार्थ को पूरा करने का जापान को मौका नहीं मिल रहा था। जापान में सैनिकवाद का जन्म हुआ, तो यह आवश्यक हो गया कि वह कोरिया के सम्बन्ध में उग्र नीति का अवलम्बन करे। इस समय कोरिया विश्व-राजनीति के भँवर-जाल में फँस रहा था और जापान इसको दर्शक के रूप में देखने के लिए तैयार नहीं था। बहुत दिनों से कोरिया पर चीन की प्रभुसत्ता थी। जापान इस स्थिति को दिल से मानने को तैयार नहीं था। सोलहवीं शताब्दी में जापान ने कोरिया को चीन के चंगुल से छुड़ाने के अनेक प्रयास किये थे; पर इस में उसको कोई सफलता नहीं मिली। उन्नीसवीं शताब्दी में पूर्वी एशिया की राजनीति में काफी परिवर्तन होने लगे थे। यूरोपीय शक्तियों का दबदबा चारों तरफ छा चुका था। यदि कोरिया पर उनमें से किसी एक का अधिकार हो गया, तो जापान की राष्ट्रीय सुरक्षा खतरे में पड़ सकती थी। जापान के लिए कोरिया की वही स्थिति थी, जो ब्रिटेन के लिए बेल्जियम की। कोरिया को जापान अपने सीने पर तने हुए कटार की तरह समझता था। ऐसे महत्त्वपूर्ण स्थान पर अधिकार जमाना उसके जीवन-मरण का प्रश्न था।

जिस समय कोरिया को अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के भँवर-जाल में फँसाने का प्रयास हो रहा था उस समय कोरिया की आन्तरिक दशा अत्यन्त शोचनीय थी। कोरिया के तत्कालीन शासक बहुत कमजोर, अयोग्य और निकम्मे थे। उनके बीच आपस में झगड़े हुआ करते थे। कोरियाई राजनीति में दो दल थे। एक दल चीन का पक्षपाती था और दूसरा जापान का। 1884 में कोरिया में एक बलवा हो गया। इस समय चीन यूरोपीय राष्ट्रों से निबटने में व्यस्त था। चीन की अव्यवस्था से लाभ उठाकर कोरिया के चीन-विरोधी नेता शासन की बागडोर हड़पने की कोशिश करने लगे। कोरिया के राजा ने जापान से मदद मांगी। कुछ ही दिनों में

जापान की सेना कोरिया में घुस गयी। लेकिन चीन कभी इस परिस्थिति को कबूल नहीं कर सकता था कि किसी अन्य राज्य की सेना कोरिया में आकर अपना पैर जमा ले। इस कारण कोरिया में चीन और जापान की सेनाओं में मुठभेड़ हो गयी। काफी झंझट के बाद अन्त में चीन और जापान के बीच कोरिया के सम्बन्ध में एक समझौता हुआ। इसके अनुसार दोनों देशों ने वादा किया कि बिना पूर्व सूचना दिये उनमें से कोई भी अपनी सेना कोरिया नहीं भेजेगा।

कोरिया को लेकर चीन और जापान के बीच कोई साधारण प्रतिरोध नहीं हुआ। केवल एक दशाब्दी के भीतर ही समस्या इतनी गम्भीर हो गयी कि दोनों के बीच युद्ध अवश्यम्भावी हो गया। 1894 में कोरिया में एक दूसरा विद्रोह उठ खड़ा हुआ। कोरिया के शासकों ने इस विद्रोह को दबाने के लिए चीन से सहायता मांगी। चीन से एक सेना कोरिया के लिए रवाना कर दी गयी और इसके बाद जापान को इसके विषय में, समझौता के अनुसार, सूचना भेज दी गयी। जापान ने झट चीन पर यह आरोप लगाया कि उसने सन्धि की शर्तों की अवहेलना की है। इसके बाद उसने भी शीघ्र ही अपनी सेना कोरिया के लिए रवाना कर दी। लेकिन, चीन और जापान की सेना पहुँचने के पहले ही कोरिया सरकार ने विद्रोह को दबा दिया। अब एक गम्भीर समस्या उठ खड़ी हुई। विदेशी सेनाएँ कोरिया की भूमि पर डटी हुई थीं। चीनी तथा जापानी सेनाएँ कोरिया में आमने-सामने खड़ी थीं। ऐसा लगने लगा कि दोनों के बीच युद्ध छिड़ जायेगा। पर कुछ दिनों के लिए युद्ध छिड़ने से रुक गया। चीन और जापान में प्रत्यक्ष वार्तालाप होने लगा। चीन ने प्रस्ताव रखा कि दोनों देश एक ही साथ अपनी अपनी सेना को कोरिया से हटा लें और इसके साथ-साथ यह वादा भी करें कि वे कोरिया के आन्तरिक मामले में हस्तक्षेप नहीं करेंगे। जापान ने चीन के इस प्रस्ताव को नामंजूर कर दिया। इसके बदले में उसने एक दूसरा प्रस्ताव रखा। इस प्रस्ताव में कहा गया था कि चीन और जापान दोनों मिलकर कोरिया में सुधार की योजना बनायें और सम्मिलित रूप से उनको कार्यान्वित करें। चीन इस प्रस्ताव को मानने के लिए तैयार नहीं हुआ। कुछ दिनों के लिए वार्तालाप बन्द हो गया। जापान कोरिया के प्रश्न पर चीन से लोहा लेने पर तुला हुआ था। वह अपनी नयी शक्ति का प्रदर्शन करना चाहता था और इसके द्वारा वह यूरोप के महान् राष्ट्रों को बतला देना चाहता था कि पूर्वी एशिया की राजनीति में उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती है। जुलाई, 1894 में एक जापानी जंगी जहाज ने एक चीनी जहाजी बेड़े पर गोली चला दी। यह चीन-जापान-युद्ध का श्रीगणेश था। इसके बाद दोनों देशों की सरकार की ओर से बाजाप्ता युद्ध की घोषणा कर दी गयी।*

* P. T. Moon : *Imperialism and World Politics*, pp. 330-31

युद्ध और शिमोनेस्की की सन्धि—कोरिया के प्रश्न पर चीन-जापान युद्ध करीब नौ महीनों तक चलता रहा। जल तथा थल दोनों युद्धों में जापान की विजय हुई। सैनिक संगठन में चीन और जापान की कोई तुलना नहीं थी। जापान की सेना सुशिक्षित, अनुशासित, सुव्यवस्थित और आधुनिकतम हथियारों से लैस थी। उसके सेनापति सुयोग्य अफसर थे और सेना का एक-एक अंग विशेषज्ञों द्वारा संचालित होता था। चीनी सेना की हालत ठीक इसके विपरीत थी। उसके अफसर अत्यन्त भ्रष्ट थे। वे निजी स्वार्थ को राष्ट्रीय स्वार्थ से अधिक महत्त्व देते थे। ऐसी दशा में जापान की विजय निश्चित थी। चीन प्रत्येक युद्ध में बुरी तरह पराजित हुआ और बाध्य होकर उसे जापान से शान्ति के लिए प्रार्थना करनी पड़ी। अन्त में शिमोनेस्की की सन्धि के द्वारा इस युद्ध का अन्त हुआ। इस सन्धि के अनुसार—(1) चीन ने कोरिया की स्वाधीनता को मान लिया। (2) चीन को फारमोसा-द्वीप, पेसकाडोर तथा लाओतुंग प्रायद्वीप जापान के सुपुर्द कर देने पड़े। लाओतुंग-प्रायद्वीप में ही पोर्टआर्थर पड़ता है। यह बहुत ही महत्त्वपूर्ण-स्थान है। लाओतुंग की प्राप्ति से जापान के लिए मंचूरिया का मार्ग खुल गया। (3) चीन ने युद्ध की क्षतिपूर्ति के लिए 45 करोड़ रुपये हरजाने के रूप में जापान को देने का वादा किया। (4) चीन से जापान को अनेक व्यापारिक सुविधाएँ प्राप्त हुईं।

युद्ध के परिणाम चीन-जापान-युद्ध केवल चीन के लिए ही नहीं बल्कि पश्चिमी देशों के लिए भी एक चुनौती था।* जापान के एक राजदूत का कहना था—"यह मैं निश्चित रूप से कह सकता हूँ कि हमलोग कोरिया को तबतक छोड़ने को तैयार नहीं हैं जबतक वहाँ हमारे उद्देश्यों की पूर्त्ति नहीं हो जाती। हम कोरिया में अपने भविष्य के लिए ही नहीं बल्कि अपनी स्वतन्त्रता के लिए लड़ रहे हैं। यदि कोरिया कभी किसी यूरोपीय शक्ति के हाथ में पड़ गया तो जापान की सुरक्षा और स्वतन्त्रता खतरे में पड़ जायेगी।" लेकिन, यूरोप के राज्य जापान को पूर्वी एशिया में स्वच्छन्द छोड़ने को तैयार नहीं थे। शिमोनेस्की की सन्धि से जापान को अत्यधिक लाभ हुए थे। अन्य यूरोपीय राज्य के लिए यह असह्य था; रूस खास तौर से इसका प्रबल विरोधी था। वह बहुत दिनों से लाओतुंग-प्रायद्वीप पर अपनी नजर गड़ाये हुए था। लेकिन पोर्टआर्थर-सहित जापान इस प्रायद्वीप को हड़प रहा था। रूस का विदेश-मंत्री इस घटना से काफी दुःखी थी। उसने जार से कहा—"हमलोग जापान को यह स्वीकृति नहीं दे सकते कि वह अपने भू-भाग से बाहर निकलकर एशिया के अन्य भूखंड में उत्पात मचाये। इसका तात्पर्य यह होगा कि एशिया में रूस के शान्तिपूर्ण प्रवेश का मार्ग सदा के

लिए वन्द हो जायगा।" इसी प्रकार फ्रांस और जर्मन जापान की इस सफलता को ईर्ष्या भरी दृष्टि से देख रहे थे। रूस, फ्रांस और जर्मनी मिलकर जापान पर दवाव डालने लगे कि वह लाओतुंग-प्रायद्वीप से अपना अधिकार हटा ले। तीन राज्यो का यह हस्तक्षेप जापान को सह्य नहीं था। पर, वह तीन शक्तिशाली देशों का आग्रह टाल भी नहीं सकता था। वाध्य होकर जापान ने लाओतुंग-प्रायद्वीप से अपना आधिपत्य हटा लिया। इसके वदले में उसे चीन से एक वड़ी धनराशि हरजाने के रूप में मिली।

शिमोनेस्की-सन्धि के वाद रूस ने जो रुख अपनाया उससे जापान काफी क्षुब्ध था। रूस के कारण ही वह विजयी होते हुए भी विजय का फल नहीं प्राप्त कर सका था। जापान इसको भूल नहीं सकता था। वह रूस से इसका वदला लेना चाहता था। इस दृष्टिकोण से विचार करने पर यह कहा जा सकता है कि चीन-जापान-युद्ध के द्वारा 1905 के रूस जापान-युद्ध का वीजारोपण हुआ। जापान ने सोचा कि जबतक वह सैनिक दृष्टिकोण से और अधिक शक्तिशाली नहीं हो जाता तबतक अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में उसकी आवाज की कोई कीमत नहीं होगी। भविष्य में यूरोपीय राज्य उसको प्राप्त लाभ से वंचित करते रहेंगे। अतः, जापान और अधिक शक्तिशाली वनने की तैयारी करने लगा।

'तीन राज्यों के हस्तक्षेप' से केवल रूस जापान-युद्ध का ही वीजारोपण नहीं हुआ, वल्कि 1902 की आंग्ल-जापानी सन्धि का भी वीजारोपण हुआ। ब्रिटेन ने शिमोनेस्की-सन्धि के समय हस्तक्षेप करने से इन्कार कर दिया था। इससे जापानी लोग काफी खुश थे। दोनों देशों के वीच अच्छा सम्वन्ध वनाने में इस घटना का वहुत वड़ा हाथ था।

पूर्वी एशिया के इतिहास में चीन-जापान युद्ध को एक वर्त्तन-विन्दु माना जाता है। विश्व-राजनीति में भी इसका परिणाम काफी व्यापक हुआ। 'तीन राज्यों के हस्तक्षेप' के वावजूद इस युद्ध के परिणामस्वरूप चीन की कमजोरी का भेद सारी दुनिया के सामने प्रकट हो गया। इसके साथ-साथ दुनिया को जापान की शक्ति का पता भी लग गया। जापान ने खुले मैदान में अपनी शक्ति का प्रदर्शन किया था। इसका अर्थ यह था कि वह किसी यूरोपीय राज्य से कमजोर नहीं है। ऐसी स्थिति में वह यूरोपीय राज्यों के साथ 'असमान संधियों' को क्यों परहेज करेगा। उसने यूरोपीय देशों को इन संधियों को दुहराने का आग्रह किया और यूरोपीय राज्य इसको टाल नहीं सके। उनके राज्य-क्षेत्र-वाह्य-अधिकारों (extra-territorial rights) का अन्त कर दिया गया। अव जापान और अन्य यूरोपीय राज्य अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में एक स्तर पर थे।

चीन-जापान युद्ध से जापानी साम्राज्यवाद को बहुत बड़ी प्रेरणा मिली। वास्तव में यह जापानी साम्राज्यवाद का आधार-स्तम्भ साबित हुआ। इसी आधार पर जापान के सम्पूर्ण साम्राज्यवादी जीवन की इमारत खड़ी की गयी। विगत पच्चीस वर्षों से जापान अपनी सेना को संगठित तथा युद्ध-सामग्रियाँ इकट्ठा कर रहा था। चीन जापान युद्ध में सर्वप्रथम उसकी शक्ति की परीक्षा हुई। इस परीक्षा में जापान को आशातीत सफलता मिली। इस सफलता से उसका उत्साह और बढ़ा और वह भविष्य में इसी तरह की विजय प्राप्त करने का मनसूबा बाँधने लगा। दस वर्ष के भीतर उसने एक महान् यूरोपीय राज्य को युद्ध के मैदान में ललकार कर पराजित किया। इसके पाँच साल पश्चात् उसने कोरिया को अपने अधिकार में कर लिया। और, फिर इसके बाद उसके साम्राज्य का विस्तार होने लगा।

ऊपर कहा जा चुका है कि चीन-जापान-युद्ध ने चीन की कमजोरी का पर्दा-फास कर दिया। युद्ध में चीन किसी यूरोपीय देश द्वारा नहीं, बल्कि एक एशियाई देश से हारा था और वह भी जापान से, जिसके बासिन्दों से वह घृणा करता था और जिन्हें चीनी लोग 'बावना' कहकर पुकारा करते थे। युद्ध के फलस्वरूप चीन को अपने अधीनस्थ राज्यों का ही परित्याग करना पड़ा, वरन् उसकी प्रादेशिक अखण्डता भी भंग हो गयी। यह परिणाम चीन के लिए अभिशाप के रूप में वरदान सिद्ध हुआ। चीन के लोगों को पहले-पहले अपने देश की कमजोरी का पता लगा। अभी तक वे समझते थे कि उनका देश विशाल एवं महान् है। लेकिन, चीन-जापान युद्ध से इस विश्वास को एक जबर्दस्त धक्का लगा। चीन के राष्ट्रवादी नागरिक सतर्क हो उठे। उनकी आँखें खुलीं। वे अपने शासकों की नीचता समझने लगे। चीन की शासन-व्यवस्था में सुधार लाने का एक आन्दोलन चल पड़ा। जैसे-जैसे दिन बीतता गया वैसे–वैसे इस आन्दोलन की जड़ भी मजबूत होने लगी। इस प्रकार हम कह सकते है कि 1911 की चीन की क्रांति परोक्ष रूप से चीन-जापान-युद्ध का ही परिणाम है।

चीन-जापान-युद्ध का प्रभाव यूरोप की राजनीति पर पड़े बिना नहीं रह सका। यूरोप के साम्राज्यवादियों को चीन की वास्तविक ताकत का पता लग गया। उन्हें इस निष्कर्ष पर पहुँचते देर नहीं लगी कि चीन तीव्र गति से पाताल की तरफ गिर रहा है। वह समय दूर नहीं जब वह एक दूसरा अफ्रिका बन जाय। यूरोप के राज्य उसको भी आपस में बाँट लेने के लिए तत्पर हो गये। इस तरह चीन के बँटवारे की भावना साम्राज्यवादियों के दिमाग में घर कर गयी। इसका नतीजा यह हुआ कि चीन में अपना-अपना प्रभाव-क्षेत्र कायम करने के लिए यूरोपीय देश में एक नयी होड़ प्रारम्भ हो गयी। चीन की यह दशा देखकर उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम

वर्षों में शायद ही कोई ऐसा व्यक्ति यूरोप में था जो कुछ दिनों में उसके पूर्ण विनाश की भविष्यवाणी नहीं करता हो।

5. पूर्वी एशिया की समस्या

'चीनी खरबूजा का काटना'—विद्वानों का मत है कि चीन-जापान-युद्ध से विश्व-राजनीति में एक युग का अन्त होता है और दूसरे युग का प्रारम्भ। इसके फलस्वरूप पूर्वी एशिया की राजनीति में जो अनिश्चितता का युग था उसका अंत हो गया। किस देश को कितना बल है, इसका पता सबको स्पष्ट रूप से लग गया और इसीके आधार पर साम्राज्यवादी देशों ने अपनी-अपनी नीति का निर्धारण करना शुरू किया। जापान की शक्ति का पता सबको लग चुका था और पश्चिमी राष्ट्रों को उसके साथ असमान सन्धियों को अंत करते देर नहीं लगी। कैसर ने जिस पीत आतंक (yellow peril) का भय प्रकट किया था, उसकी सत्यता सिद्ध होने में अब देर नहीं थी। अब पूर्वी एशिया की राजनीति एक दूसरे युग में प्रवेश करने लगी। चीन पर यूरोपीय राज्यों तथा जापान के द्वारा प्रत्यक्ष या परोक्ष रीति से आक्रमण और उसकी लूट खसोट इस युग की मुख्य विशेषता थी। चीन एक कमजोर देश था। दिनों-दिन उसका पतन हो रहा था। ऐसी स्थिति में साम्राज्यवादी देश उसको नोचने के लिए गिद्ध की तरह टूट पड़े। चीन पर साम्राज्यवादियों द्वारा इस तरह टूट पड़ना एक नवीन समस्या पैदा कर रहा था, जिसको पूर्वी एशिया की समस्या कहते हैं। उधर दक्षिण-पूर्व यूरोप में तुर्की-साम्राज्य के पतन के कारण एक समस्या थी ही। उस समस्या के साथ-साथ चीन के पतन के कारण एक दूसरी समस्या भी उपस्थित हो गयी। साम्राज्यवादी राज्य इस समस्या को सुलझाने में जुट गये। दूसरे शब्दों में इसका अर्थ था चीन का अधिक से अधिक शोषण। इस प्रकार का शोषण पूर्वी एशिया के इतिहास के लिए एक नयी बात थी। दूसरे शब्दों में यह चीनी खरबूजे को काटने का युग था। 'चीनी खरबूजे को काटने' और वहाँ राजनीतिक तथा आर्थिक सुविधा प्राप्त करने के लिए भिन्न-भिन्न शक्तियों में होड़ मच गयी।

'प्रभाव-क्षेत्र'—इस नये युग का उद्‌घाटन रूस ने किया। शिमोनेस्की की सन्धि के अनुसार चीन को एक बहुत बड़ी रकम जापान को हरजाना के रूप में देनी थी। लेकिन, चीन के पास इतना धन नहीं था कि वह इतनी बड़ी धनराशि को चुकती कर सके। अतः, इसके लिए उसे रूस से कर्ज लेना पड़ा। रूस ने अत्यन्त उदारता से यह धनराशि बिना किसी अमानत के ही चीन को दी थी। इस कर्ज से चीन रूस पर बहुत आश्रित हो गया। रूस प्रशांत महासागर के तट पर स्थित अपने प्रसिद्ध

बन्दरगाह ब्लादीवोस्तक के साथ रेल द्वारा सीधा सम्बन्ध स्थापित करना चाहता था। इसके लिए सीधा रास्ता मंचूरिया से गुजरता था, जो उस समय चीन के अधीन था। रूस ने मंचूरिया के बीच रेलवे का निर्माण करने के लिए चीन से अनुमति माँगी। रूसी कर्ज से दबा हुआ चीन इसको इन्कार नहीं कर सकता था और रूस को मंचूरिया होकर रेल बनाने की अनुमति मिल गयी। इसके अतिरिक्त रूस को और सुविधाएँ भी मिलीं। उदाहरण के लिए युद्ध के समय पोर्टआर्थर और क्याऊ-चाऊ के बन्दरगाहों को प्रयोग करने की अनुमति। इसके अतिरिक्त मंचूरिया में रेलवे की रक्षा के लिए रूसी सेनाओं को प्रविष्ट करने की आज्ञा भी मिली।*

चीन को कर्ज देने में फ्रांस ने भी रूस का साथ दिया था। अतः फ्रांस को भी चीन में अनेक सुविधाएँ मिली। फ्रांस को रेलवे बनाने का, खान खोदने का तथा चीन के कुछ बन्दरगाहों को प्रयोग करने की सुविधा प्राप्त हुई। ब्रिटेन इन सब बातों को देखकर भीतर-ही-भीतर जलता था। पर अभी कुछ कर सकने में वह असमर्थ था। उधर जर्मनी को भी ईर्ष्या हो रही थी। जर्मनी भी तीन देशों में एक था जिन्होंने चीन का पक्ष लेकर शिमोनेस्की की सन्धि के समय हस्तक्षेप किया था। लेकिन, चीन ने जर्मनी को इसके लिए कोई इनाम नहीं दिया। कैसर ईर्ष्या ही नहीं कर रहा था; बल्कि सशंकित भी हो रहा था। कारण, द्विगुट के सहयोगियों को पूर्वी एशिया में जो सुविधाएँ प्राप्त हुई थीं जर्मनी के लिए वह खतरे की बात थी।

कुछ ही दिनों में जर्मनी का भाग्य मुस्काया और उसे एक ईश्वरप्रदत्त मौका मिल गया। 1897 में शान्तुंग के प्रदेश में दो जर्मन पादरी मारे गये। जर्मनी के लिए इससे अच्छा समाचार क्या हो सकता था? कैसर ने झट एक सेना चीन पर आक्रमण करने के लिए भेजी और क्याऊ-चाऊ प्रदेश को जीतकर अपने अधीन कर लिया। चीन की सरकार जर्मनी का मुकाबला नहीं कर सकती थी। एक सन्धि हुई और निन्यानवे साल के लिए क्याऊ-चाऊ का प्रदेश जर्मनी के सुपुर्द कर दिया गया। इसके अतिरिक्त जर्मनी को चीन में अन्य आर्थिक सुविधाएँ भी प्राप्त हुईं। शान्तुंग में उसको रेलवे बनाने का अधिकार प्राप्त हुआ। इन प्रदेशों में जर्मन-सेना रखने की आज्ञा भी चीन ने दे दी।†

जब जर्मन को इस तरह सुविधा प्राप्त हुई तो यूरोप के अन्य राज्य सशंकित हो उठे। पर वे जर्मनी को रोक नहीं सकते थे। इसके बदले में वे चीन से और सुविधा की माँग करने लगे। अब सुविधा-प्राप्ति की होड़ में प्रचण्डता आ गयी। 1897 में रूस ने पोर्टआर्थर और तेलीनवान पर कब्जा कर लिया। पोर्टआर्थर के

---

* P. T. Moon : *Imperialism and World Politics*, p. 337

† Ibid, p. 338

वन्दरगाह पर रूस का एकाधिपत्य स्थापित हो गया। इसके वाद फ्रांस ने क्वांग-चुयान के प्रदेश तथा टोनकिन से उनान तक रेल वनाने के अधिकार माँगा। इतना ही नहीं, फ्रांस ने यह माँग भी की कि चीन के डाक-विभाग के अध्यक्ष के पद पर एक फ्रांसीसी नागरिक की नियुक्ति की जाय। चीन ने फ्रांस की इन सभी माँगों को मान लिया। अव ब्रिटेन की वारी आयी। उसने अपने हित को ध्यान में रख वरमा-चीन सीमांत-रेखा को ठीक करवाया। इसके वाद हॉग-कांग से सटे हुए चीनी प्रदेशों पर इसने दावा किया। चीन ने इसे भी स्वीकार कर लिया। इस पर भी ब्रिटेन की भूख शान्त नहीं हुई। उसने एक तीसरी माँग की कि चीन का चुँगी-अफसर एक ब्रिटिश नागरिक हो। चीन ने इस शर्त को भी मान लिया। यहाँ तक की इटली भी, जिसका कोई पादरी चीन में नहीं मारा गया था, सुविधा प्राप्त करने के लिए तड़पने लगा। लेकिन, इटली को कोई विशेष सफलता नहीं मिल सकी। सुविधा प्राप्त करने की होड़ इतनी तीव्र हो गयी कि ऐसा प्रतीत होने लगा कि आगे चलकर चीन के प्रश्न पर विविध देशों में संघर्ष अनिवार्य हो जायेगा। चीन के सम्बन्ध में इन देशों के हित टकराते थे। साम्राज्यवादी देश चीन में व्यापार का स्वच्छन्द अधिकार प्राप्त करके और अनेक प्रदेशों को अपने कब्जे में करके सन्तुष्ट नहीं थे। वे चीन पर अपना पूर्ण आर्थिक आधिपत्य स्थापित कर लेना चाहते थे। इस क्रम में परस्पर संघर्ष की सम्भावना थी और साम्राज्यवादी राज्य इस संघर्ष से वचना चाहते थे। पर इससे वे वच नहीं सके और 1905 में रूस और जापान के वीच भयंकर संघर्ष शुरू हो गया। फिर भी उनकी कोशिश थी कि वे इस प्रकार के संघर्ष होने से रोकें। इसका एक ही उपाय था। साम्राज्यवादियों ने चीन से यह वचन ले लिया कि वह यूरोपीय राज्यों के विविध प्रभाव-क्षेत्रों में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं लायेगी। इस प्रकार चीन में साम्राज्यवादियों का अपना-अपना 'प्रभाव-क्षेत्र' कायम हो गया। रूस को अपने प्रभाव-क्षेत्र में स्वाधीनता मिली तथा फ्रांस, जर्मनी, ब्रिटेन और जापान को अपने-अपने क्षेत्र में। इस प्रकार हिनान तथा टोनकिन के समीपवर्ती भू-भाग फ्रांस के प्रभाव-क्षेत्र, यांगटीसी ब्रिटेन के प्रभाव-क्षेत्र में, फूकीन जापान के प्रभाव-क्षेत्र में, शातुंग जर्मनी के प्रभाव-क्षेत्र में तथा मंचूरिया और चीनी तुर्कीस्तान रूस के प्रभाव-क्षेत्र में आ गये।

चीन में प्रभाव-क्षेत्र कायम करने का एक अन्य तरीका भी था। रेल-लाइनों का निर्माण करके भी चीन पर प्रभाव वढ़ाया जा सकता था। आर्थिक और सैनिक दृष्टियों से रेलवे का निर्माण वहुत महत्त्वपूर्ण था। अतः प्रत्येक साम्राज्यवादी देश चीन में रेल-लाइन वनवाने की फ्रिक में था। इस समय पेकिंग-हान्को-लाइन सवसे प्रमुख थी और इसको वनवाने के लिए सभी राज्य चीनी सरकार की आज्ञा प्राप्त करने की फिक्र में थे। अन्त में वेल्जियम को इसकी आज्ञा मिल

गयी। ब्रिटेन, जापान, अमेरिका, रूस, फ्रांस, जर्मनी इत्यादि सब-के-सब इस पर पर आँखें गड़ाये हुए थे। उन्हें भी कुछ सुविधा मिलनी ही चाहिए। धीरे-धीरे इन देशों को भी चीन के विभिन्न प्रदेशों में रेल-लाईन बनवाने की अनुमति मिल गयी। इन रेलों में जिस देश की पूँजी लगती थी वहाँ का प्रदेश उसीके प्रभाव में आ जाता था। वहाँ वह स्वतन्त्रापूर्वक व्यापार कर सकता था और रेलवे की रक्षा के लिए अपनी पुलिस और फौज रख सकता था। इस प्रकार चीन एक दूसरे तरीके से भी विदेशी राज्यों के प्रभाव-क्षेत्रों में विभक्त हो रहा था। ऐसा लगता था कि प्रभाव क्षेत्र के नाम पर चीन का प्रादेशिक विभाजन हो गया है। चीन-राज्य की प्रभुसत्ता का नामोनिशान मिट रहा था। चीनी सरकार अपने ही राज्य में विवश थी। अपने राज्य के अधिकांश प्रदेशों पर उसका नाम-मात्र के लिए भी अधिकार नहीं था। इसके बाद साम्राज्यवादियों का दूसरा कदम यही होनेवाला था कि वे सरकारी तौर पर घोषणा करके अपने-क्षेत्र को अपने राज्य में बाजाप्ता सम्मिलित कर लें। लेकिन ऐसा नहीं हो सका। 'खुले दरवाजे की नीति', बोक्सर-विद्रोह तथा आंग्ल-जापानी सन्धि के कारण चीन का विभाजन होने से बच गया।

'खुले दरवाजे की नीति' :—यह संयुक्त-राज्य-अमेरिका के साम्राज्यवाद की एक उत्तम और अनूठी कृति थी। विभिन्न साम्राज्यवादी राज्य चीन को प्रभाव-क्षेत्र में विभाजित कर रहे थे। उनके बीच सुविधा प्राप्त करने के लिए होड़ मची हुई थी। अमेरिका इन घटनाओं को चुप बैठकर नहीं देख सकता था। चीन में उसके हित और स्वार्थ भी थे। लेकिन, अमरीकी साम्राज्यवाद का रूप यूरोपीय साम्राज्यवाद से भिन्न था। वह खुलकर चीन के आन्तरिक मामलों में अन्य देशों की तरह हस्तक्षेप करना नहीं चाहता था। अतः चीन के लिए उसने 'खुले दरवाजे की नीति' की घोषणा की। इस नीति का जन्मदाता अमेरिका का तत्कालीन विदेश-सचिव जॉन हे था। इसका अर्थ था कि सभी विदेशियों को समान रूप से चीन के साथ व्यापार करने की सुविधा मिले और किसी के साथ कोई खास रियायत नहीं हो। विदेश-सचिव जॉन हे ने अपनी इस नीति का स्पष्टीकरण करते हुए साम्राज्यवादी राज्यों को एक पत्र भेजा। रूस को छोड़कर सभी देशों ने जॉन हे के विचारों का आदर किया। यद्यपि प्रभाव-क्षेत्र को चीन से समाप्त नहीं किया गया, फिर भी 'खुले दरवाजे की नीति' को सिद्धान्त के रूप में मान लिया गया।*
इस नीति से चीन की लूट में साम्राज्यवादी देशों के साथ-साथ अमेरिका को भी लाभ हुआ। इसके अतिरिक्त चीन टुकड़े-टुकड़े में विभाजित होने की दुर्दशा से बच गया।

---

* P. T. Moon : *Imperialism and World Politics*, p 341.

'बोक्सर'-विद्रोह :—विदेशियों की इन कारवाईयो से चीनी लोग बहुत क्षुब्ध हो रहे थे। चीन मे राष्ट्रीयता की लहर चल रही थी। चीन का हर तरह से विदेशियों द्वारा शोषण हो रहा था और अपने देश की रक्षा करने में वे लाचार थे। इस तरह की स्थिति अब असह्य हो रही थी। जापान उनके सामने एक उदाहरण था। वह छोटा-सा देश नवीन विद्याओ और विज्ञानों को अपनाकर किस प्रकार यूरोपीय देशो का मुकाबला करने लगा था, इस बात को वे प्रत्यक्ष देख रहे थे। अपनी मातृभूमि को विदेशियो के पजे से मुक्त करने के लिए चीनी लोग भी उतावले हो रहे थे। देशभक्ति की एक लहर दौड पडी और कुछ चीनी क्रान्तिकारियो ने अपने यहाँ से विदेशियो को बाहर निकालने के लिए एक गुप्त संगठन कायम किया, जो 'बोक्सर' के नाम से प्रसिद्ध है। 'बोक्सर' लोग क्रान्तिकारी थे और लुटेरे विदेशियो को अपने देश से मार भगाना चाहते थे। उन्हें चीनी सरकार की सहानुभूति भी प्राप्त थी। कुछ यूरोपीयो का कहना है कि चीन में राजतन्त्र के विरुद्ध विद्रोह की भावना पैदा हो रही थी। चीन की साम्राज्ञी त्जू-हसी इस भावना को विदेशी-विरोधी भावना में परिवर्तित करना चाहती थी। वह क्रुद्ध जनता का ध्यान एक तरफ से हटाकर दूसरी तरह लगाना चाहती थी। इसीलिए 'बोक्सर' लोगों को चीनी सरकार की सहायता और प्रोत्साहन प्राप्त था। जो भी हो चीन में विदेशियो के शोषण के विरुद्ध भावना जड पकड रही थी। 1900 में यह विदेशी-विरोधी भावना प्रचण्ड हो गयी। 'बोक्सर देशभक्तों ने नारा लगाना शुरू किया—"विदेशियो को नष्ट कर दो।" यह देशव्यापी विद्रोह का संकेत था। चीन के राष्ट्रवादी देशभक्त स्वतन्त्रता के रणनागंन में कूद पडे। विदेशियो के घर जलाये गये, धर्म-प्रचारक मारे गये और रेल की लाइनें उखाड दी गयी। पिकिंग के जिस इलाके में विदेशी राष्ट्रों के दूतावास थे, उसे विद्रोहियो ने घेर लिया। 20 जून, 1900 के दिन 'बोक्सर' देशभक्तो ने जर्मन-राजदूत पर आक्रमण करके उसे मौत के घाट उतार दिया।

इन समाचारो से विदेशो मे सनसनी फैल गयी। अपने अधिकारो की रक्षा और 'बोक्सर'-विद्रोह को दबाने के लिए जापानी, रूसी, ब्रिटिश, अमरीकी, फ्रांसीसी और जर्मन सभी साम्राज्यवादी सरकारो ने अपनी-अपनी सेनाएँ भेजी। साम्राज्यवादी देशों की सम्मिलित सेना ने पिकिंग पर हमला किया। विद्रोही हरा दिये गये। पिकिंग शहर लूट लिया गया और उसके निवासियों पर अमानुषिक अत्याचार किये गये। इस समय 'सभ्य' यूरोपीय की सरकारों ने अपनी तथाकथित 'सभ्यता' का अच्छा परिचय दिया। चीन को बाध्य होकर इन कठोर साम्राज्यवादियों से समझौता करना पड़ा। इसके अनुसार चीन को मजबूर होकर विदेशियो को और भी अधिक सुविधाओ के साथ-साथ एक बहुत बड़ी रकम हरजाना के रूप

में देनी पड़ी। इसके अतिरिक्त चीन के एक राजदूत को जर्मनी की राजधानी बर्लिन जाकर जर्मन-राजदूत की हत्या के लिए क्षमा-याचना करनी पड़ी।*

जिस समय चीन के रंगमंच पर साम्राज्यवादी राज्यों द्वारा यह अमानुषिक नाटक खेला जा रहा था उस समय रूस चीन में अपने राज्य-विस्तार के कार्य में व्यस्त था। रूसी विस्तार की कुछ कहानी ऊपर कही जा चुकी है। लेकिन, 'बोक्सर'-विद्रोह के समय और उसके बाद उसको राज्य-विस्तार का एक दूसरा स्वर्ण अवसर प्राप्त हो गया। ब्रिटेन रूस के इस प्रसार से काफी चिन्तित हो रहा था। उसको भय था कि इसी तरह राज्य-विस्तार करते-करते कहीं रूस भारत की सीमा तक नहीं पहुँच जाय। रूस के इस विस्तार को रोकना ब्रिटेन के लिए आवश्यक हो गया। अतः 1902 में उसने जापान के साथ एक सन्धि की। इस सन्धि का मुख्य उद्देश्य रूस के विस्तार को रोकना था। चीन में रूस की महत्वाकांक्षा बढ़ती जा रही थी। जापान इसको सहने के लिए तैयार नहीं था। वह किसी भी मूल्य पर रूसी विस्तार को रोकना चाहता था। इसके फलस्वरूप कुछ ही दिनों में रूस-जापान-युद्ध अवश्यम्भावी हो गया।

6. रूस-जापान-युद्ध (1904-5)

युद्ध के कारण :—रूस-जापान-युद्ध आंग्ल-जापानी सन्धि का तात्कालिक परिणाम था। 'बोक्सर'-विद्रोह के बाद कोई-न कोई बहाना लगाकर रूस मंचूरिया में अपना प्रभाव बढ़ा रहा था। उसका मुख्य उद्देश्य मंचूरिया को रूसी साम्राज्य में मिला लेना था। दूसरे साम्राज्यवादी राज्यों ने इसका विरोध किया। रूसी साम्राज्य के विस्तार से सबसे अधिक खतरा ब्रिटेन और जापान को था। अतः इसका मुकाबला करने के लिए इन दोनों देशों ने 1902 में एक सन्धि कर ली। आंग्ल-जापानी सन्धि के बाद रूस ने अपनी मंचूरिया-सम्बन्धी नीति में कुछ परिवर्तन किये। 1902 के मंचूरिया-समझौते के अनुसार रूस ने मंचूरिया से अपनी सेना हटाने का वादा किया; लेकिन वह इस वादे को पूरा करने के लिए तैयार नहीं था। वह सिर्फ मंचूरिया के एक कोने से अपनी सेना हटाकर दूसरे कोने में इकट्ठा कर देता था। कुछ दिनों के बाद रूस ने अपनी सेना हटाने से साफ-साफ इन्कार कर दिया। वह इतने ही से सन्तुष्ट नहीं हुआ। उसने चीन से यह माँग की कि वह रूस को मंचूरिया में आर्थिक एकाधिपत्य कायम करने की अनुमति दे दे।

मंचूरिया में तो रूस का विस्तार हो ही रहा था; कोरिया में भी वह अपनी प्रभाव फैलाने की फिक्र में था। रूसी फौज एक-न-एक बहाने कोरिया में पहुँचने लगी। इससे सबसे अधिक खतरा जापान को था। जापान कभी भी यह सहने को

* Hazen : *Modern European History*, p. 579.

तैयार नहीं था कि कोरिया में रूस के प्रभाव का विस्तार हो। 1904 के प्रारम्भ में रूसी सेना की एक टुकड़ी लकड़ी काटने के बहाने कोरिया पहुँची। इस समय जापान ने हस्तक्षेप किया। उसने यह मांग की कि दोनों देश (रूस और जापान) वादा करें कि वे कोरिया और चीन की प्रादेशिक अखण्डता को बनाये रखेंगे और पूर्वी एशिया में 'खुले दरवाजे की नीति' का अवलम्बन करेंगे। इसके अतिरिक्त जापान ने यह सुझाव भी रखा कि रूस इस बात को मान ले कि कोरिया में जापान के विशेष स्वार्थ हैं। इसके बदले ने जापान मंचूरिया में रूस के विशेष स्वार्थ को मानने के लिए तैयार था। लेकिन, रूस इस तरह के किसी सुझाव मानने के लिए तैयार नहीं था। उसने झट एक दूसरा प्रस्ताव रखा। यह प्रस्ताव ऐसा था कि यदि जापान उसकी मान लेता तो मंचूरिया में रूस को छूट मिल जाती और कोरिया में जापान पर तरह-तरह के प्रतिबन्ध लग जाते। इस हालत में जापान ने युद्ध द्वारा ही इस मामले को निर्णय करने का फैसला लिया। जापान को कोई भय नहीं था। उनकी सेना संगठित थी और संसार का एक महान् राष्ट्र ब्रिटेन उसका मित्र था। 1904 के फरवरी में कूटनीतिक वार्तालाप का अन्त हो गया और 5 तारीख को रूस-जापान-युद्ध प्रारम्भ हो गया।

रूस-जापान-युद्ध :—जापान युद्ध के मैदान में पहले-पहल यूरोप के एक महान् शक्तिशाली देश से लोहा ले रहा था। प्रारम्भ में ऐसा मालूम पड़ा कि यह युद्ध दो असमान प्रतिद्वन्दियों के बीच है। जापानी 'बावना' और रूसी 'दानव' में समानता ही कैसी! लेकिन, 'बावना' युद्ध के लिए पहले से भलीभाँति तैयार था।* रुस और जापान में जहाँ-जहाँ भी लड़ाई हुई, प्रायः सभी स्थानों पर जापानी सेनाएँ विजयी रहीं। विश्व इतिहास में ऐसा उदाहरण कहीं नहीं मिलता कि एक देश जो पच्चास साल पूर्व तीर और धनुष से लड़ता था एक महान् शक्तिशाली यूरोपीय राज्य को बुरी तरह हरा दे। अमरीकी राष्ट्रपति रुजवेल्ट की मध्यस्थता के फलस्वरुप इस युद्ध का अन्त हुआ। युद्ध के बाद रुस और जापान के बीच 5 सित० 1905 के दिन एक सन्धि हुई, जिसको पोर्टसमाउथ की सन्धि कहते हैं। इस सन्धि के अनुसार (1) पोर्ट आर्थर और लाओतुंग प्रायद्वीप जापान को प्राप्त हुए, (2) कोरिया पर जापान का प्रभुत्व स्वीकृत किया गया, और (3) मंचूरिया को दो प्रभाव-क्षेत्रों में बाँट दिया गया। उत्तरी मंचूरिया पर रुस और दक्षिणी मंचूरिया पर जापान का प्रभाव स्वीकृत किया गया। युद्ध में हारे हुए रूस से विजयी जापान को कोई हरजाना नहीं मिल सका।

रूस-जापान युद्ध के परिणाम :—युद्ध में जापान ने अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगा दी थी। इसी कारण वह विजयी हुआ था। इस युद्ध के बाद जापान की गणना

* P. T. Moon : *Imperialism and World Politics*, p. 345.

संसार के शक्तिशाली राष्ट्रों में होने लगी। लेकिन, युद्ध से जापान को जो लाभ हुए उससे वह सन्तुष्ट नहीं था। विजय हासिल करने के बाद भी उसको कोई हरजाना नहीं मिला। जापान के शासक इससे काफी रुष्ट थे। पर इससे उन्हें कोई सदमा नहीं पहुँचा। वे जानते थे कि उन्हें कितने विशाल शत्रु से लोहा लेना पड़ा था और उन्होंने जमकर उससे लोहा लिया था। जापान के उत्साह और सामरिक पटुता का प्रदर्शन दुनिया में हो चुका था। उसका सबसे बड़ा दुश्मन रूस को, जिसको जापानी घृणा की दृष्टि से देखते थे, अपमान-सहित घुटने टेकने पड़े थे। रूस पस्त था। वहाँ आन्तरिक कलह था और राजनीतिक क्रान्ति की तैयारी हो रही थी। जापान अपने दुश्मन की यह दुर्दशा देख फूला नहीं समाता था।

जापानी साम्राज्यवाद का विस्तार—रूस-जापान-युद्ध में विजय के कारण पूर्व-एशिया की राजनीति में जापान एक कदम और आगे बढ़ गया। वह किसी प्रकार चीन में पहुँचना चाहता था। इसी उद्देश्य से 1894 में उसने चीन के साथ युद्ध किया था। युद्ध से उसको अपने उद्देश्य-पूर्ति में सफलता भी मिली थी। लेकिन तीन राज्यों के हस्तक्षेप ने उसके किये-कराये काम को नष्ट कर दिया था। रूस-जापान-युद्ध से इस क्षति की पूर्ति हो गयी। इस बार जापान को चीन में घुस जाने का मौका मिल गया। जापान को इस युद्ध से इतने लाभ हुए, जिसकी कल्पना युद्ध के पूर्व या बाद जापान के जिम्मेवार शासक भी नहीं कर सके थे। उसने रूस को पूर्वी एशिया की राजनीति से एक कदम पीछे हटा दिया। मंचूरिया पर नाममात्र के लिए रूस का प्रभाव रहा। जापान ने युद्ध में साबित कर दिया कि वह संसार के शक्तिशाली राष्ट्रों में एक है। इस आधार पर उसने ब्रिटेन से आग्रह किया कि वह आंग्ल-जापानी सन्धि को इस तरह दुहराये जिससे जापान को कुछ और लाभ हो। सबसे बड़ी बात तो यह थी कि कोरिया से रूस का प्रभाव सदा के लिए जाता रहा। अब जापान कोरिया में निर्विरोध अपना प्रभाव फैला सकता था—उसको रोकनेवाला कोई नहीं रहा। मौका पाकर 1910 में जापान ने कोरिया को पूर्णतया अपने साम्राज्य में मिला लिया। इस प्रकार कोरिया को जापान के अधीन लाने की नींव रूस-जापान-युद्ध में विजय के कारण मजबूत हो गयी। यह कहना कोई अत्युक्ति नहीं होगी कि इस युद्ध से जापान को लाभ-ही-लाभ हुए; उतना लाभ जिसकी कल्पना जापान के शासक भी नहीं कर रहे थे।

रूस-जापान-युद्ध का परिणाम इतना व्यापक था कि इसका प्रभाव जापान, चीन, रूस तथा यूरोपीय-एशियाई राजनीति पर पड़े बिना नहीं रह सकता था। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, जापान को इस युद्ध से लाभ-ही-लाभ हुए। उसके

लिए तो यह युद्ध राष्ट्रीय जीवन-मरण का प्रश्न था। अगर जापान इस युद्ध में हार जाता तो उसके सारे मनसूबों पर पानी फिर जाता। लेकिन, वह हार नहीं; वह विजयी था। समूचे संसार में और खासकर पूर्वी एशिया में उसकी प्रतिष्ठा बढ़ गयी। जापान का उत्साह बढ़ा और उसी दिन से उसने उग्र साम्राज्यवादी जीवन अपनाया, जिसके फलस्वरूप 1910 में उसने कोरिया को जीता और प्रथम विश्व-युद्ध के समय चीन से इक्कीस माँगे की।

चीन पर प्रभाव :—रूस-जापान-युद्ध का परिणाम चीन की राजनीति पर दो तरह से पड़ा। चीन में जिस तीव्रता के साथ साम्राज्यवादी होड़ चल रही थी उसको लेकर स्वयं साम्राज्यवादियों में ही संघर्ष हो जाने की पूर्ण सम्भावना थी। रूस-जापान-युद्ध ने इस तथ्य को पूर्णतया स्पष्ट कर दिया था। कहना न होगा कि साम्राज्यवादी इस तरह के संघर्ष से बचना चाहते थे। अतः चीन के शोषण में उन्होंने परस्पर सहयोग करने का फैसला किया। वे तो मिलजुलकर चीन का शोषण करें, नहीं तो आपस में लड़कर अपना विनाश स्वयं कर लें। इसके अतिरिक्त कोई तीसरा विकल्प नहीं था। अतः, रूस-जापान-युद्ध से चीन में "खुले दरवाजे की नीति" को काफी प्रोत्साहन मिला।

रूस-जापान-युद्ध से चीन के जागरण में बड़ी सहायता मिली। 1894 में चीन-जापान-युद्ध तथा उसके बाद चीन में प्रभाव क्षेत्र कायम करने की अन्तर्राष्ट्रीय होड़ के प्रतिक्रियास्वरूप चीन में 'बोक्सर'-विद्रोह हुआ था। 1904-5 के रूस-जापान युद्ध ने 1911 की चीनी क्रान्ति की पृष्ठभूमि तैयार की। चीन के देशभक्त रूस-जापान युद्ध की गति और परिणामों को आँख फाड़-फाड़कर देख रहे थे। उनको इस युद्ध से एक मिश्रित अनुभव हुआ। युद्ध में जापान ने एक विशाल और शक्तिशाली राज्य को परास्त कर दिया था। वे लोग भी जापान के समान उन्नत और शक्तिशाली राज्य बनाने की बात सोचने लगे। चीनी देशभक्त इस समय चिल्ला-चिल्लाकर कह रहे थे कि चीन में नवयुग आना चाहिए और वर्तमान युग की बातों को अपनाये बिना मातृभूमि का कल्याण नहीं हो सकता। चीन में एक नये आन्दोलन का सूत्रपात हुआ, जिसके नेता डा० सनयात सेन थे। इनके नेतृत्व में 1911 में चीन में एक बहुत बड़ी क्रान्ति हुई, जिसके फलस्वरूप चीन से राजतन्त्र का अन्त हो गया और गणतन्त्र की स्थापना हुई।

रूस पर-प्रभाव :—रूस-जापान-युद्ध का प्रभाव रूस की आन्तरिक राजनीति पर भी पड़े बिना नहीं रह सका। उस समय रूसी स्वेच्छाचार के खिलाफ रूस में विद्रोह की आग सुलग रही थी। इसी बीच रूसी-जापान-युद्ध शुरू हो गया और रूस-जापान से हार गया। इसका एक कारण यह था कि रूसी जनता की

सहानुभूति अपने देश के प्रति नहीं थी। रूसी जनता के सामने उस समय रोटी और राजनीतिक स्वतन्त्रता का प्रश्न था। विशाल रूसी साम्राज्य में कुछ और प्रदेश सम्मिलित हो जायँ इस बात में उनकी दिलचस्पी नहीं थी। रूस के बहुत-से लोग तो जापान के प्रति सहानुभूति भी रखते थे और वे रूस की पराजय का वृत्तान्त जानकर मन-ही-मन खुश हो रहे थे। ऐसी स्थिति में रूस का जीतना असम्भव था। इसके अतिरिक्त रूसी सरकार की हालत भी खराब थी। उसके अधिकांश कर्मचारी भ्रष्ट और बेईमान थे। वे सेना को उचित समान या हथियार नहीं पहुँचा सकते थे। इसी राष्ट्रीय पतन के कारण रूस युद्ध में हार गया। स्वेच्छाचारी राजतन्त्र की कमजोरी प्रकट हो गयी। जनता को स्वतन्त्र होने का अच्छा अवसर हाथ लगा। रूस में विद्रोह हो गया। 'युद्ध को समाप्त कर दो', 'एकतन्त्र शासन को नष्ट कर दो' इत्यादि, नारों से मास्को और सेन्टपीटर्सवर्ग की गलियाँ गूँज उठीं। 1905 की रूसी राज्य-क्रान्ति, रविवार, 26 जनवरी का वीभत्स हत्याकाण्ड, ड्यूमा की स्थापना, रूस में वैध राजसत्ता कायम करने का विफल प्रयास, आदि सभी रूस-जापान-युद्ध के परिणाम थे।

यूरोपीय राजनीति पर प्रभाव—रूस की विदेश-नीति तथा यूरोपीय राजनीति पर भी रूस-जापान युद्ध का प्रभाव पड़ा। क्रीमिया-युद्ध में हारने के बाद रूस पूर्वी एशिया में अपने विस्तार की योजना बना रहा था। इस योजना में काफी सफलता भी मिली थी। रूस की इस सफलता को ब्रिटेन और जापान नहीं सह सकते थे। इसी कारण रूस-जापान-युद्ध हुआ था। हारने के बाद रूस को पता चला कि पूर्वी एशिया में उसकी दाल नहीं गलने को है। अतः वह इस क्षेत्र से धीरे-धीरे अपना कूटनीतिक जाल बटोरने लगा। रूस वस्तुतः साम्राज्यवादी देश था। अगर पूर्वी एशिया में उसकी कुछ नहीं चलती तो निकटपूर्व तथा बाल्कन-प्रायद्वीप में वह अपना साम्राज्यवादी जाल फैला सकता था। नतीजा यह हुआ कि जापान से हारने के बाद रूस की साम्राज्यवादी कूटनीति निकटपूर्व और बाल्कन-प्रायद्वीप में केन्द्रीभूत हो गयी। यह यूरोपीय शान्ति के लिए बड़े खतरे की बात सिद्ध हुई। रूस इस क्षेत्र में कूद पड़ा, जिसके परिणामस्वरूप वहाँ की राजनीति काफी जटिल हो गयी और तरह-तरह के अन्तर्राष्ट्रीय संकट पैदा होने लगे। यह कहना अनुचित न होगा कि 1908 का बोस्निया-काण्ड तथा 1912-13 का बाल्कन-युद्ध-रूस-जापान-युद्ध के यूरोपीय परिणाम थे।*

एशियाई राष्ट्रीयता पर प्रभाव—प्रोफेसर मेंगसर के अनुसार एशिया में इस युद्ध का परिणाम अभी भी काम कर रहा है। 1947 में दिल्ली में प्रथम अन्तर-

* N. Mansergh : *The Coming of the First World War*, p. 65.

एशियाई-सम्मेलन हुआ था। उस सम्मेलन में यह विचार प्रकट किया गया कि रूस-जापान-युद्ध ने एशिया के इतिहास-परिवर्तन में बहुत बड़ा योग दिया था। वास्तव में जापान की विजय से एशियाई राष्ट्रीयता को बहुत प्रोत्साहन मिला। जापान की विजय की खुशी सम्पूर्ण एशिया में मनायी गयी। एशिया के राष्ट्रवादी युद्ध के परिणाम को बड़े चाव से देख रहे थे। जब रूस हार गया तो उन्होंने सन्तोष की एक लम्बी सांस ली। आज तक एशिया के पराधीन लोगों को अन्धविश्वास था कि पश्चिम की शक्ति अजेय है, उसे विश्व की कोई शक्ति परास्त नहीं कर सकती है। लेकिन जापान द्वारा रूस के हराने से यह अन्धविश्वास सदा के लिये जाता रहा। समस्त एशिया के राष्ट्रवादी समझने लगे कि जापानी तरीके को अपनाकर एशिया के अन्य देश यूरोपीय साम्राज्यवाद के चंगुल से मुक्त हो सकते हैं। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि रूस-जापान-युद्ध के परिणामस्वरूप एशिया में यूरोपीय साम्राज्यवाद की मानसिक जड़ हिल गयी।*

रूस-जापान-युद्ध का प्रभाव भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन पर विशेष रूप से पड़ा। कश्मीर से लेकर कन्याकुमारी तक जापानी विजय की खुशी मनायी गयी। भारतीयों में एक नये बल का संचार हुआ और वे गम्भीरतापूर्वक सोचने लगे कि मातृभूमि की मुक्ति के लिए जापान के तरीकों को क्यों नहीं अपनाया जाय! 1905 के इर्द-गिर्द बंगभंग आन्दोलन तथा स्वदेशी-आन्दोलन के साथ-साथ हमारे देश में जो आतंकवादी आन्दोलन चल पड़ा था, उसको जापानी विजय से काफी प्रेरणा मिली थी। इसको हम इस तरह भी कह सकते हैं कि बंगभंग-आन्दोलन, स्वदेशी-आन्दोलन तथा भारतीय राष्ट्रीयता में आतंकवाद का प्रादुर्भाव रूस-जापान-युद्ध के भारतीय परिणाम थे। ठीक इसी समय आयरलैंड, मिस्र, तुर्की, चीन, हिन्देशिया इत्यादि देशों में राष्ट्रीय विद्रोह की आग सुलग रही थी। रूस-जापान-युद्ध के बाद यह आग प्रज्वलित हो उठी। एशिया के उग्र राष्ट्रवादियों की तत्कालीन मानसिक प्रवृत्ति का प्रतिनिधित्व हमें पंडित जवाहर लाल नेहरू की 'आत्मकथा' में मिलता है। उस समय भारत का यह भावी प्रधानमंत्री जापान की विजयों की कहानी सुनकर फूला नहीं समाता था। उन्होंने लिखा है—"मैं प्रतिदिन समाचारपत्रों की प्रतीक्षा बड़ी व्यग्रता से किया करता था। जापान की विजय के समाचार पढ़कर मेरी खुशी का ठिकाना नहीं रहता था। राष्ट्रीय भावनाओं से मैं इतना ओत-प्रोत हो जाता था कि बराबर यही सोचा करता था कि वह स्वर्ण-अवसर कब आयेगा जब यूरोप के चंगुल से एशिया और भारत की मुक्ति के लिए मैं हाथ में तलवार लेकर साम्राज्यवादियों से लड़ूँगा।"† इस प्रकार साम्राज्यवाद के विरुद्ध एशिया में नव जागृति लाने में रूस-जापान-युद्ध ने बहुत बड़ा काम किया।

* Warner Levi : *Free India in Asia*, p. 5.

† J. L. Nehru : *Autobiography*, p. 16

प्रशांत महासागर में साम्राज्यवाद

अफ्रिका के बँटवारे के साथ प्रशान्त महासागर के द्वीपों की भी छीनाझपटी चल रही थी जिसमें यूरोपीय राष्ट्रों के अतिरिक्त संयुक्त राष्ट्र भी भाग ले रहा था। 1900 तक प्रायः समस्त द्वीप किसी न किसी के पास पहुँच गये थे। इंगलैंड और फ्रांस वहाँ पहले पहुँचे थे, अतः अधिकांश द्वीप उनके हाथ लगे। परन्तु हॉलैंड के पास भी एशिया के दक्षिण-पश्चिम में पूर्वी इन्डीज के द्वीपसमूह में उसका विस्तृत साम्राज्य बना रहा। जर्मनी ने न्यूगिनी के विशाल द्वीप के एक भाग तथा उसके उत्तर की ओर के कई द्वीप और सेमोआ द्वीप-समूह के दो सबसे बड़े द्वीपों पर अधिकार कर लिया। उसने 1899 में स्पेन से केरोलिन द्वीप भी खरीद लिये। संयुक्त राष्ट्र ने श्याम तथा फिलिपाइन द्वीप ले लिये। 1898 में हवाई के द्वीप पर उसने अधिकार कर लिया और 1899-1900 में इंगलैंड और जर्मनी से मिलकर सेमोआ द्वीप-समूह के कई द्वीपों को भी अपने साम्राज्य में शामिल कर लिया। इस द्वीप-समूह के सम्बन्ध में कई बार संघर्ष का डर रहा परन्तु अन्त में 1900 में एक समझौता हो गया जिसके द्वारा इंगलैंड, जर्मनी तथा संयुक्त राज्य अमेरिका के प्रभाव क्षेत्रों का निर्धारण हो गया और मामला सुलझ गया।

※

अध्याय बारह

अफ्रिका में साम्राज्यवादी संकट : अगादीर-काण्ड

अलजिसरास का समझौता—रूस-जापान युद्ध के बाद विश्व-राजनीति के रंगमंच पर से साम्राज्यवादी नाटक का मुख्य दृश्य पूर्वी एशिया से हटकर अफ्रिका चला जाता है, जहाँ एक दूसरे साम्राज्यवादी कलह की तैयारी हो रही थी। अफ्रिका में उन्नीसवीं सदी का सबसे भयानक साम्राज्यवादी संकट 1897 का फसोदा-काण्ड था। इस काण्ड के कारण ब्रिटेन और फ्रांस दोनों में युद्ध छिड़ने की पूर्ण संभावना हो गयी थी। लेकिन सौभाग्यवश ऐसा नहीं हो सका और दोनों देशों के बीच एक समझौता हो गया, जिसके अनुसार मिस्र और सूडान में ब्रिटेन का तथा मोरक्को में फ्रांस का प्रभाव-क्षेत्र कायम हुआ। इसके बाद 1904 में दोनों देशों ने विधिवत् समझौता करके मिस्र और मोरक्को की इस व्यवस्था को पूर्ण रूप से स्वीकार कर लिया। जर्मनी इस व्यवस्था को, खासकर मोरक्को में सम्बन्धित समझौते को, मानने के लिए तैयार नहीं था। उसने इसका विरोध किया। इस विरोध के परिणामस्वरूप 1905-6 में एक बवंडर उठ खड़ा हुआ जिसको मोरक्को-काण्ड कहते हैं। यहाँ पर यह दुहरा देना आवश्यक है कि अलजिसरास-सम्मेलन (1906) के द्वारा यह तय हुआ था कि राजनीतिक दृष्टि से मोरक्को स्वतन्त्र रहे। परन्तु उसके आर्थिक विषयों का संचालन अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण के अन्तर्गत एक बैंक के हाथ में रखा गया। मोरक्को में 'खुले दरवाजे की नीति' को पुनः दुहराया गया, जिससे सब राष्ट्रों को उस छोटे-से अभागे देश में समान रूप से व्यापार करने का मौका मिले। इसके अतिरिक्त मोरक्को में शांति और व्यवस्था कायम रखने के लिए फ्रांस और स्पेन के अधीन एक विदेशी पुलिस-सेना का भी इन्तजाम किया गया था। अलजिसरास-सम्मेलन के इन निर्णयों पर बूलो ने हर्ष प्रकट किया था कि उसने मोरक्को का दरवाजा फ्रांस के लिए बन्द कर दिया है। लेकिन, बूलो को एक बहुत बड़ा भ्रम हुआ। सम्मेलन का निर्णय अनेक दोष और त्रुटियों से भरा पड़ा था और मोरक्को पर अपना अधिकार बढ़ाने के लिए फ्रांस को अनेक अवसर थे और फ्रांस किसी अवसर को चुकने के लिए तैयार नहीं था।*

1909 का समझौता—इन कारणों से अलजिसरास-सम्मेलन के बाद न तो फ्रांस और जर्मनी के सम्बन्धों में सुधार हुआ और न मोरक्को की आन्तरिक स्थिति

* G. P. Gooch : *History of Modern Europe*, p. 304

में ही। मोरक्को में फ्रांस-विरोधी आन्दोलन जड़ पकड़ रहा था। दिन दहाड़े फ्रांसीसी कर्मचारियों की हत्या एक साधारण बात हो गयी थी। 1907 में टैंजीयर में एक फ्रांसीसी अफसर पर गोली चलायी गयी और मारकेश में एक फ्रांसीसी डाक्टर की हत्या कर दी गयी। इसपर फ्रांस ने मोरक्को के उजदा नामक नगर पर तब तक के लिये अधिकार कर लिया जब तक इस हत्या की क्षतिपूर्ति नहीं हो गयी। इस वर्ष कैसाब्लैंका के बन्दरगाह के निर्माण-कार्य में लगे हुए कुछ नाविकों को मार डाला गया। इसके विरोध में फ्रांस ने आसपास के भू-भागों पर अधिकार कर लिया। वास्तव में फ्रांस मोरक्को में अपनी स्थिति मजबूत करने पर तुला हुआ था। उसी समय मोरक्को में सुल्तान अब्दुल अजीज के विरुद्ध एक मुलाई हाफिज के नेतृत्व में विद्रोह का झण्डा खड़ा हुआ। यह विद्रोह इतना भयानक हो गया कि अब्दुल अजीज को सिंहासनाच्युत होना पड़ा और मुलाई हाफिज मोरक्को का सुल्तान बन बैठा।

जिस समय मोरक्को की राजधानी में सुल्तान-परिवर्तन का यह नाटक खेला जा रहा था उस समय एक दूसरे नगर कैसाब्लैंका में एक ऐसी घटना घटी, जिसको लेकर यूरोपीय शांति का भविष्य कुछ दिनों के लिए खतरे में पड़ गया। 25 सितम्बर, 1908 के दिन फ्रांसीसी दूतावास के कुछ सैनिक कैसाब्लैंका-स्थित जर्मन वाणिज्य-दूत (Consul) के बहकाने पर भाग खड़े हुए। जिस नाव पर चढ़कर वे जा रहे थे वह पकड़ ली गयी। उसमें तीन जर्मन भी सम्मिलित थे, जो फ्रांस-सरकार की नौकरी में थे। जर्मन वाणिज्य-दूत ने तीनों जर्मनों को लौटाये जाने की मांग की। फ्रांस ने इन्कार कर दिया। दोनों तरफ से 'वाक्य-युद्ध' प्रारम्भ हुआ और बातें बढ़ने लगी। लेकिन, अन्त में दोनों देशों के विदेश मन्त्रालयों में सुबुद्धि आयी और इस झगड़ का फैसला एक पंचायत पर छोड़ दिया गया। पंचायत के निर्णय के आधार पर 9 फरवरी, 1909 को दोनों देशों के बीच मोरक्को पर एक समझौता हुआ, जिसके अनुसार दोनों देशों ने मोरक्को की प्रादेशिक अखण्डता और स्वाधीनता को बनाये रखने का वादा किया। मोरक्को में आर्थिक समानता के सिद्धांत को मान लिया गया। जर्मनी ने मोरक्को में फ्रांस के विशिष्ट राजनीतिक स्वार्थ को मान लिया। इसके बदले में फ्रांस ने वादा किया कि मोरक्को में जर्मनी के व्यापारिक स्वार्थों में वह किसी प्रकार की बाधा उपस्थित नहीं करेगा।

जर्मनी और फ्रांस के बीच इस समझौते का स्वागत दोनों देशों में हुआ। इस समझौता को लाने में बर्लिन-स्थित फ्रांसीसी राजदूत का बहुत बड़ा हाथ था। कैसर ने खुश होकर जर्मन-साम्राज्य की सबसे बड़ी उपाधि से उसको विभूषित किया। जर्मन सरकार के उच्चपदाधिकारी, जैसे चान्सलर बेथमान-हौलवेग तथा विदेश-सचिव

पीशों ने इस समझौते का हार्दिक स्वागत किया। इस समझौते से ऐसा प्रतीत होता था कि फ्रांस और जर्मनी के सम्बन्धों में गहरा परिवर्तन आ गया है। लेकिन, ऐसी स्थिति बहुत दिनों तक रहनेवाली नहीं थी। फ्रांस और जर्मनी के बीच फिर मतभेद उत्पन्न होने लगे।*

अगादीर-काण्ड – उधर फ्रांस और मोरक्को का सम्बन्ध भी निरन्तर खराब हो रहा था। मोरक्को पर फ्रांस का शिकंजा दिन-प्रतिदिन दृढ़ हो रहा था। शांति और व्यवस्था कायम रखने के बहाने फ्रांसीसी पुलिस मोरक्को के विभिन्न नगरों पर कब्जा करती जाती थी। सुल्तान पूर्णतया फ्रांस के काबू में था। इसके विरुद्ध समस्त मोरक्को में विद्रोह की आग भड़क रही थी। मोरक्को के देशभक्तों ने हिंसा का सहारा लिया। यूरपीयों के जान माल खतरे से पड़ गये। सम्पूर्ण मोरक्को में 'अराजकता' छा गयी। सबसे बड़ा विद्रोह 1911 में फेज में हुआ। यह कहना कठिन है कि मोरक्को में यूरोपीय के जान-माल कहाँ तक खतरे में थे। लेकिन, फ्रांस मोरक्को पर पूर्ण अधिकार जमाने के लिये बहाना ढूँढ़ रहा था। यहाँ पर एक बात बतला देना आवश्यक है कि जर्मनी का कट्टर विरोधी देल्कासे इस समय फिर फ्रांसीसी मंत्रिमण्डल में चला आया था। वह जर्मनी के प्रति कड़ी नीति का समर्थक था। यद्यपि इस समय वह फ्रांस का विदेश-मंत्री नहीं था; तो भी मंत्रिमण्डल का सदस्य होने के नाते सरकार पर उसका अत्यधिक प्रभाव था। जर्मनी के लोगों का सन्देह था कि उसने फ्रांस की मोरक्को-सम्बन्धी नीति को काफी प्रभावित किया है।† जो भी हो विद्रोह के बाद फेज पर अधिकार जमाने के लिए फ्रांस से एक बहुत बड़ी सेना रवाना की गयी और फेज पर फ्रांसीसी अधिकार कायम हो गया। फ्रांस की इस गतिविधि को जर्मनी बड़ी चिन्ता की दृष्टि से देख रहा था। जर्मनी की मोरक्को-सम्बन्धी नीति का निर्धारक किडरलेन ऐसे मौके पर चुप बैठा नहीं रह सकता था। उसने घोषणा की कि फेज पर फ्रांसीसी कब्जा 1906 के फैसले के खिलाफ है। अलजिसरास-सम्मेलन का निर्णय अब लागू नहीं है और मोरक्को में अपने स्वार्थों की रक्षा के लिए जर्मनी कोई कार्रवाई करने में स्वतंत्र है। उसने कैसर को कहा कि फ्रांस अपने नागरिकों की रक्षा का बहाना बनाकर मोरक्को में सेना भेजकर एक-एक नगर पर धीरे-धीरे अपना अधिकार बढ़ा रहा है। मोरक्को के मोगादोर और अगादीर नामक नगरों में कुछ जर्मन नागरिक निवास करते थे। उनकी रक्षा के लिए जर्मनी को भी एक जहाजी बेडा भेजना चाहिए। कैसर किडरलेन के प्रस्ताव से सहमत हो गया।‡

* Brandenburg : *From Bismarck to the Great War*. p. 281

† Fay : *Origins of the World War*, p 280

‡ N. Mansergh : *The Coming of the First World War*, p. 150

पैन्थर—जर्मनी का 'पैन्थर' नामक एक जंगी जहाज दक्षिण अफ्रिका से लौट रहा था। किडरलेन ने इसके संचालक को आज्ञा भिजवा दी कि वह अगादीर के वन्दरगाह पर अनिश्चित काल तक के लिए लंगर डालें। इसके वाद किडरलेन ने घोपणा की—"मोरक्को में फैले हुए आन्दोलन से जर्मनी के व्यापक स्वार्थों को खतरा पैदा हो गया है। इसके अतिरिक्त जर्मनी की जनता इस वात को अधिक समय तक सहने को तैयार नहीं है कि उनकी सरकार ऐसे अवसर पर चुपचाप बैठी रहे, जब फ्रांस की कार्यवाही से यह विल्कुल स्पष्ट है कि वह अलजिसरास-समझौता को मार्यादाओं को पालन करने को तैयार नहीं है। 'पैन्थर' को अगादीर इसलिए भेजा गया है कि वह मोरक्को में जर्मनी के स्वार्थों की रक्षा कर सके। ज्योंही स्थिति शान्त और साधारण हो जायेगी, जहाज को वहाँ से हटा लिया जायेगा।" लेकिन, अगादीर में जर्मनी का यह उद्देश्य नहीं था। फ्रांस ने फेज पर अधिकार कर लिया है। इसके वदले में जर्मनी को कुछ मिलना चाहिए। वास्तव में किडरलेन फ्रांस को डरा धमकाकर फेज के वदले में सम्पूर्ण फ्रांसीसी कांगो हड़पने की चाल चल रहा था। अगर किडरलेन का ऐसा उद्देश्य था तो उसको इसके विषय में फ्रांसीसी सरकार को साफ-साफ कह देना चाहिए था। लेकिन, उसने ऐसा नहीं किया। किसी को विश्वास नहीं हुआ कि अगादीर में 'पैन्थर' जर्मन व्यवसायियों के जान-माल की रक्षा के लिए है; क्योंकि अगादीर में कोई विशेष जर्मन आवादी नहीं थी।*

इसमें कोई शक नहीं कि फेज पर आधिपत्य जमाकर फ्रांस ने अलजिसरास सम्मेलन के निर्णय को भंग किया था। अतः जर्मनी ने जव कड़ा रूख अपनाया तो फ्रांस मोरक्को में जर्मनी की क्षति-पूर्ति के लिए तैयार हो गया। दोनों देशों में वातचीत होने लगी। 9 जुलाई, 1911 को यह वातचीत शुरू हुई और अगले चार महीनों तक चलती रही। यह वातचीत ऐसी तनातनी की स्थिति में चल रही थी कि किसी निर्णय पर पहुँचना असम्भव था। दोनों देशों के समाचारपत्र एक दूसरे पर आग उगल रहे थे। युद्ध का वातावरण तैयार हो रहा था। किडरलेन ने मुआवजे के रूप में समूचे फ्रांसीसी काँगो की माँग की। इसपर फ्रांसीसी राजदूत जूलस कैम्बो ने झट उत्तर दिया—"इसका अर्थ है कि वार्तालाप को वन्द कर दिया जाय। हम आपको अपना सम्पूर्ण उपनिवेश नहीं दे सकते।" इस तरह वर्लिन में मोल-तोल चलने लगा।

ब्रिटिश प्रतिक्रिया—'पैन्थर' के अचानक अगादीर पहुँच जाने के समाचार से फ्रांसीसी सरकार की अपेक्षा ब्रिटिश सरकार को अधिक क्रोध और आश्चर्य हुआ।

*G. P. Gooch : *History of Modern Europe*, p. 311

ब्रिटिश-विदेश मन्त्री सर एडवर्ड ग्रे को सन्देह हुआ कि मुआवजा के नाम पर
जर्मन सरकार अत्लान्तिक महासागर के तट पर जहाजी अड्डा बनाने का प्रयास कर
रही है।* ब्रिटिश-सरकार किसी भी कीमत पर मोरक्को में जर्मनी को एक समुद्री
अड्डा प्राप्त करने देना नहीं चाहती थी। सर ग्रे के विचार में फेज में फ्रांसीसी सेना
का भेजा जाना बिल्कुल न्यायसंगत था। लेकिन, 'पैन्थर' की यात्रा उनकी समझ
में ऐसा 'आक्रमणकारी कार्य' था जिसके लिए किसी प्रकार की उत्तेजना प्रस्तुत
नहीं की गयी थी। उन्होंने कहा—"पैन्थर के भेजे जाने से एक गम्भीर स्थिति
उत्पन्न हो गयी है। हमारे लिए फ्रांस के प्रति सन्धि से उत्पन्न होनेवाले उत्तर-
दायित्वों और मोरक्को में अपने स्वार्थों को ध्यान में रखना आवश्यक है।" 'पैन्थर'
के भेजे जाने से ब्रिटिश-सरकार की दृष्टि में ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गयी थी कि इस
पर विचार करने के लिए शीघ्र ही ब्रिटिश-मन्त्रिमंडल की एक आवश्यक बैठक हुई,
जहाँ यह बात तय कर ली गयी कि इस सम्बन्ध में ब्रिटिश-सरकार कौन-सी नीति
अपनायेगी।

किडरलेन ने जब 'पैन्थर' भेजने का निर्णय लिया था तो उस समय उसको
सपने में भी यह विश्वास नहीं हुआ था कि इससे उत्पन्न होनेवाली स्थिति के परि-
णाम-स्वरूप ब्रिटिश-सरकार इतना क्रोधित हो जायेगी। लेकिन ब्रिटेन ने इसका
घोर विरोध किया। 1905-6 के मोरक्को-काण्ड में केवल जर्मनी और फ्रांस ही दो
प्रतिपक्षी थे। धीरे-धीरे उस काण्ड ने ऐसा प्रचण्ड रूप धारण कर लिया जिससे
यूरोप के सभी राज्य इसमें फँस गये। ब्रिटेन और फ्रांस में उस समय हाल ही में
समझौता हुआ था। मोरक्को-काण्ड उस समझौते की अग्नि-परीक्षा था और आँग्ल
फ्रांसीसी समझौता इस परीक्षा से और अधिक मजबूत होकर निकला। ठीक उसी
तरह अदागीर-काण्ड भी ब्रिटेन, फ्रांस और रूस के त्रिगुट की अग्नि-परीक्षा था और
इस परीक्षा से भी वह त्रिगुट और अधिक मजबूत होकर निकला। जर्मनी की विदेश
नीति से उसके दुश्मनों का गुट सुसंगठित होने लगा।†

अगादीर का संकट बहुत दिनों तक यूरोपीय राजनीति के नभमंडल पर
बादल की तरह छाया रहा। इसके अन्त होने का कोई आसार नहीं दीखता था।
बर्लिन और पेरिस के बीच मुआवजा के प्रश्न पर अभी भी मोल-तोल चल रहा था।
जर्मनी समूचे फ्रांसीसी काँगो पर दावा किये हुए था। फ्रांस इस मांग की पूर्ति के
लिए तैयार नहीं था। ऐसा प्रतीत होता था कि वार्तालाप अचानक टूट जायेगा और
दोनों देश अपने झगड़े के फैसले का भार युद्ध-देवता पर छोड़ देंगे। लेकिन,
अदागीर ऐसा काण्ड था, जिसको ब्रिटिश-सरकार चुपचाप बैठे देखना नहीं चाहती

* Bradenbrurg : *From Bismarck to the Great War*, p. 285

† Fay : *Origins of the World War*, p, 288

थी। बर्लिन-वार्तालाप से कोई निष्कर्ष नहीं निकल रहा था। 21 जुलाई को सर एडवर्ड ग्रे ने जर्मन-राजदूत को बातचीत के लिए बुलाया। उसने राजदूत से स्पष्ट शब्दों में कह दिया कि ब्रिटिश-सरकार मोरक्को में जर्मन-सरकार की हरकतों को सहने के लिए तैयार नहीं है। बर्लिन-बातचीत की असफलता से एक जटिल परिस्थिति उत्पन्न हो सकती है और इसके लिए जर्मन-सरकार ही जिम्मेवार होगी। सर ग्रे के इन गम्भीर विचारों का कोई भी सन्तोषजनक जवाब जर्मन-राजदूत से नहीं मिला। तब सर ग्रे ने इस दिशा में कुछ ठोस काम करने का फैसला किया।

मैन्शन हाउस का भाषण— उस समय ब्रिटेन के उदारदलीय मंत्रिमण्डल में डेविड लायड जार्ज वित्त-मंत्री था। इस मंत्रिमंडल में वही एक ऐसा सदस्य था, जिसको जर्मनी के शासक जर्मन-प्रेमी समझते थे। मंत्रिमण्डल की सहमति से उसने लंदन के सुप्रसिद्ध मैन्शन-भवन में एक भाषण दिया। उसने जर्मनी को चेतावनी देते हुए कहा—"मैं मानता हूँ कि हमारे देश की दृष्टि से ही नहीं; परन्तु सारे संसार के हित की दृष्टि से यह आवश्यक है कि ब्रिटेन सभी प्रकार के खतरों को उठाकर भी संसार के बड़े राष्ट्रों में अपना स्थान और प्रतिष्ठा बनाये रखे। हम शान्ति बनाये रखने के बहुत बड़े समर्थक हैं। पर, यदि हमपर एक ऐसी स्थिति लाद दी जाय जिससे शांति को बनाये रखने के लिए यह आवश्यक हो जाय कि ब्रिटेन को अपना वह महान् और उपयोगी स्थान छोड़ना पड़े जो उसने सदियों की वीरता और विजयों से प्राप्त किया है; जिसमें ब्रिटेन के साथ उन प्रदेशों से जहाँ उसके अपने महत्त्वपूर्ण स्वार्थ हैं, वहाँ इस प्रकार का व्यवहार करने की अनुमति दे दी जाय जिसके परिणामस्वरूप राष्ट्रों को मंडलों में ब्रिटेन का कोई स्थान ही नहीं रह जाय तो मैं जोरों के साथ कहूँगा कि इस कीमत पर शांति बनाये रखना एक ऐसा असहनीय अपमान होगा जिसको हमारे जैसा महान् देश कभी भी बर्दाश्त नहीं करेगा।"*

लायड जार्ज के मुख से इस प्रकार के उत्तेजित शब्द निकलने से सम्पूर्ण जर्मनी में सनसनी फैल गयी। जर्मनी की जनता ने इस भाषण में खतरे की घंटी की आवाज सुनी और उन्हें ऐसा लगा कि मानों यह ब्रिटेन द्वारा युद्ध घोषणा का शंखनाद किया जा रहा है। उनकी दृष्टि में यह उस बात का पक्का सबूत था कि ब्रिटेन जर्मनी की औपनिवेशिक और व्यापारिक महत्त्वाकांक्षाओं को कुचल देना चाहता है। जर्मनी के उग्रराष्ट्रवादी क्रोध से उबल पड़े और मैक्सीमिलियन हार्डेन ने कर्कश ध्वनि में माँग की कि इस असहनीय अपमान के प्रत्युत्तर में युद्ध की घोषणा कर देनी चाहिए। अदागीर-संकट अपनी चरम सीमा पर पहुँच चुका था।

* Gooch : *History of modern Europe*, p 316

इसमें कोई शक नहीं कि मैन्शन-भवन के भाषण में कूटनीतिक औचित्य की कमी थी और ब्रिटेन जैसे प्रौढ़ देश के लिए यह शोभा नहीं दे रहा था कि काल्पनिक भय से वह जर्मनी-जैसे महान् राष्ट्र को इस तरह धमकी दे। लेकिन, लायड जार्ज का भाषण असामयिक नहीं था। जिस उद्देश्य से यह भाषण दिया गया था वह पूरा हो गया। यूरोपीय राजनीति का नभमडल, जो युद्ध के काले बादलों से आच्छादित था, फट गया। इसके परिणामस्वरूप जर्मनी को अपने मुआवजा की माँग में काफी परिवर्तन करना पड़ा। जर्मनी के शासकों को यह भ्रम था कि सम्पूर्ण ब्रिटिश-मंत्रिमण्डल में सर ग्रे ही जर्मन विरोधी हैं। यह भ्रम अब जाता रहा। इसके साथ-साथ उनके इस भ्रम का भी सदा के लिए अन्त हो गया कि अगर जर्मनी उस विदेशी-नीति को अपनाये तो आंग्ल फ्रांसीसी मित्रता टूट जायेगी। मैन्शन-भवन के भाषण से अगादीर-संकट का अन्त शीघ्र ही नहीं हो गया। बहुत दिनों तक इसको तय करने के लिए वार्तालाप जारी रहा। इसका तत्कालीन लाभ केवल यही हुआ कि एक यूरोपीय युद्ध का भय कुछ देर के लिए टल गया।*

समझौता—4 नवम्बर, 1911 के दिन फ्रांस और जर्मनी के बीच मोरक्को की समस्या पर एक तीसरा समझौता हुआ। इस समझौते के अनुसार जर्मनी ने फ्रांस को मोरक्को में अपनी संरक्षता कायम करने की छूट दे दी। इसके बदले में जर्मनी को फ्रांसीसी कांगो का 100,000 वर्गमील हाथ लगा। फ्रांस को मोरक्को में अब स्वच्छन्दता प्राप्त हो गयी। 1912 में फैज की सन्धि के अनुसार मोरक्को के सुलतान ने फ्रांस की संरक्षता स्वीकार कर ली। वस्तुतः यह समझौता फ्रांस के लिए एक विजय था। इस बात को फ्रांस के प्रधानमन्त्री मो० कैलोक्स ने भी स्वीकार किया था। लेकिन, जर्मनी में इस सन्धि का स्वागत नहीं हुआ। जर्मन उपनिवेश-मंत्री लिन्डेक्विस्ट ने तो विरोध में अपना त्यागपत्र दे दिया। इस सन्धि के बाद सन्तोष की भावना जितनी गहरी और व्यापक लन्दन में थी उतनी और कहीं नहीं। प्रधानमंत्री एसक्विथ ने अंग्रेजों की प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए कहा—"मो० कैलोक्स से कहिए कि वे बर्लिन से, लार्ड बेकन्सफील्ड की तरह, प्रतिष्ठा और शान्ति दोनों साथ लेकर लौटे हैं।"

प्रोफेसर ब्रैन्डेनबर्ग के अनुसार अगादीर-काण्ड जर्मन विदेश-नीति की महान् बेवकूफी थी। बूलो के अनुसार भी अगादीर-काण्ड जर्मनी के लिए एक 'शोचनीय' घटना थी। बूलो तथा प्रो० ब्रैन्डेनबर्ग के इन विचारों से सभी सहमत हैं। आंग्ल-फ्रांसीसी मित्रता को सुसंगठित करना अगादीर-काण्ड का सबसे महत्त्वपूर्ण परिणाम था। अगादीर-संकट के समय जब तक फ्रांस और जर्मनी में

* N. Mansergh : *The Coming of the First World War*. p. 153

वार्तालाप चलता रहा, ब्रिटेन अपने मित्र को हर प्रकार से सहायता देता रहा। संकट टल जाने के बाद अँगरेज लोगों ने पहले-पहल यह अनुभव किया कि जर्मनी के साथ औपनिवेशिक मामलों पर उनकी लड़ाई भी हो सकती है। 1904 के बाद से ही फ्रांस और ब्रिटेन के सैनिक अधिकारियों के बीच सुरक्षा-सम्बन्धी विषयों पर बातचीत चल रही थी। उधर आंग्ल-जर्मन नाविक प्रतिस्पर्धा चल रहा था। इन सैनिक अधिकारियों ने अब यह सोचना प्रारम्भ किया कि दूसरी बार जर्मनी से युद्ध छिड़ सकता है। अतः इसका मुकाबला करने के लिए वे अब व्यावहारिक योजना बनाने लगे। जर्मनी की गलती से ब्रिटेन और फ्रांस की मित्रता और भी पुष्ट होने लगी। *

अगादीर-काण्ड के कारण आंग्ल-जर्मन-सम्बन्ध, जो इस समय नाविक प्रतिस्पर्धा के कारण अत्यन्त खराब हो चुका था, और भी खराब हो गया। जर्मनी में ब्रिटेन के खिलाफ घृणा की भावना पैदा हो रही थी। जर्मन अनुदार-दल के नेता हेडेब्रांड ने क्रोध में जलते हुए कहा— "अब हम यह बात जान गये हैं कि वह कौन-सा देश है, जो अपने विश्वव्यापी स्वार्थों के नाम पर हमारे उन सब प्रयासों का विरोध करता है जिसके द्वारा हम संसार में अपने लिए उपयुक्त स्थान की प्राप्ति की कोशिश करते हैं। अन्धेरे में बिजली के प्रकाश के समान अब सारी बातें स्पष्ट हो गयी हैं। हम बार-बार झुक जाने की नीति के द्वारा नहीं, परन्तु जर्मन तलवार के द्वारा, शान्ति प्राप्त करेंगे।" स्पष्ट है कि यह संकेत ब्रिटेन की तरफ था। अगादीर-काण्ड विश्व-युद्ध के पूर्व अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध को बिगाड़ने के क्रम में एक महत्त्वपूर्ण घटना था।†

ट्रिपोली का युद्ध—इटली द्वारा ट्रिपोली का अनुबन्धन (annexation) अगादीर-काण्ड का एक व्यापक परिणाम था। एक लम्बे अर्से से इटली अपनी ललचायी हुई दृष्टि अफ्रिका के समुद्र-तट पर गड़ाये हुए था। वह ट्रिपोली को अपने आधिपत्य में लेना चाहता था। अगादीर-काण्ड के समय इटली के शासक इस निष्कर्ष पर पहुँच गये कि 'ट्रिपोली को मिलाने का समय अब समीप आ गया है।' 29 सितम्बर 1911 के दिन इटली ने ट्रिपोली के प्रश्न को लेकर तुर्की पर युद्ध की घोषणा कर दी। किसी ने इसका विरोध नहीं किया। हाल ही में बोस्निया पर आस्ट्रिया ने आधिपत्य कायम किया था और ब्रिटिश-सरकार ने कड़े शब्दों में इसकी भर्त्सना की थी। लेकिन, इस बार सर एडवर्ड चुप रहे। इटली के विरूद्ध उनके मुख से एक शब्द भी नहीं निकला। जब जर्जर तुर्की को किसी तरफ से सहायता नहीं मिली तो उसका हारना अवश्यम्भावी ही था। अक्टूबर, 1912 में ट्रिपोली-युद्ध

---

* S. B. Fay : *Origins of the World War*, p. 291.

† G. P. Gooch : *History of Modern Europe*, pp. 319-20

का अन्त हुआ और उसके बाद यह छोटा-सा देश इटली के साम्राज्य का एक अंग बन गया। इटली की अधीनता में इसका नाम परिवर्तित करके लीबिया रखा गया।

तत्कालीन अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर छोटे से ट्रिपोली-युद्ध का प्रभाव पड़े बिना नहीं रह सका। यूरोप की कूटनीतिक स्थिति को परिवर्तित करने में इस युद्ध ने बहुत बड़ा योग दिया। कैसर जानता था कि इटली उसके त्रिगुट का वफादार सदस्य नहीं है। उस समय वह तुर्की के सुल्तान के साथ अपनी मैत्री बढ़ा रहा था। ऐसी स्थिति में इस युद्ध में जर्मनी की सहानुभूति स्वभावतः तुर्की के साथ थी। तुर्की इस बात को नहीं भूला। वह जर्मनी के समीप आने लगा। ठीक इसके विपरीत ब्रिटेन या फ्रांस के द्वारा तुर्की को कोई सहायता नहीं मिली थी। परम्परा से ब्रिटेन तुर्की की प्रादेशिक अखण्डता का समर्थक था। लेकिन, इस बार वह एकदम चुप रहा। तुर्की यह बात नहीं भूला और उसने प्रथम विश्व-युद्ध में ब्रिटेन-फ्रांस के खिलाफ जर्मनी का साथ दिया।

उधर इटली भी अपने तथाकथित मित्रराष्ट्र जर्मनी की कृतघ्नता तथा ब्रिटेन-फ्रांस की कृतज्ञता को नहीं भूल सकता था। पहले ही से वह जर्मनी के खेमे से फ्रांस के खेमे में छलांग मार रहा था। ट्रिपोली-युद्ध के कारण उसने इस छलांग की एक दूसरी मंजिल भी पूरी कर ली। वह जर्मनी से दूर हटता गया और जब प्रथम विश्व-युद्ध आ धमका तो उसने अपनी तटस्थता की घोषणा कर दी।

ट्रिपाली-युद्ध के कारण तुर्की बहुत कमजोर हो गया। उसके पूर्ण विनाश के दिन अब दूर नहीं थे। इसलिए उसको लूटने के लिए बड़े जोर-शोर से साम्राज्यवादी तैयारी शुरू हुई। तुर्की की कमजोरी से लाभ उठाने के लिए रूसी सहायता से बुल्गेरिया और सर्बिया ने मिलकर एक बाल्कन-संघ की स्थापना की। इससे सर्बिया और आस्ट्रिया का सम्बन्ध और अधिक खराब हो गया, जिसके कारण प्रथम विश्व-युद्ध दरवाजे पर आ पहुँचा। इसलिए अगादीर-काण्ड प्रथम विश्व-युद्ध का एक परोक्ष पर प्रमुख कारण माना जाता है।*

* S. B. Fay: *Origins of the World War*, p. 293.

पूर्वीय समस्या और बर्लिन-व्यवस्था

(The Eastern Question & Berlin Settlement)

आधुनिक युग की विश्व-राजनीति के इतिहास में पूर्वीय समस्या (Eastern Question) एक महत्त्वपूर्ण विषय है। 1871 से 1914 तक के काल में इसने विश्व की राजनीति को बहुत हद तक प्रभावित किया। इसी समस्या के कारण प्रथम विश्व-युद्ध उत्पन्न हुआ। यही कारण है कि प्रथम विश्व-युद्ध को तुर्की के "उत्तराधिकार का युद्ध" (War of the Turkish Succession)* कहा जाता है।

ओटोमन साम्राज्य—तुर्की साम्राज्य (Ottoman Empire) की स्थापना इस्लामी साम्राज्य-विस्तार की कहानी का एक भाग है। ग्यारहवीं शताब्दी के आरम्भ में, जब इस्लामी साम्राज्य का पतन हो रहा था, उस समय सलजुक तुर्क नामक एक जाति ने इस्लाम धर्म को स्वीकार करके इस्लामी साम्राज्य को पतन से बचा लिया। 1071 में पूर्वी रोमन साम्राज्य पर उसका भयंकर आक्रमण हुआ था। सारे यूरोप के लिए यह एक बहुत बड़े पैमाने पर चुनौती थी। पन्द्रहवीं शताब्दी में पूर्वी रोमन साम्राज्य के दुर्बल हो जाने पर 1453 में सुल्तान मुहम्मद द्वितीय ने उस पर आक्रमण करके उसकी राजधानी कान्स्टेनिनोपल पर अधिकार जमा लिया और तुर्क साम्राज्य की स्थापना की। यूरोप में तुर्क का प्रवेश यही से शुरू होता है।

तुर्क लोग आगे बढ़ते रहे और अगले दो शताब्दियों के अन्दर यूरोप का एक बहुत बड़ा भूभाग उनके कब्जे में आ गया। सोलहवीं शताब्दी तक तुर्क सुल्तान की सेनाएँ बराबर वेनिस की रिपब्लिक तथा आस्ट्रियन साम्राज्य की सीमाओं पर आक्रमण करके तुर्क साम्राज्य का विस्तार करती चली गयी। 1683 में तुर्क सेनाओं ने आस्ट्रिया की राजधानी वियना पर भी आक्रमण किया। लेकिन यह आक्रमण सफल नहीं हो सका। हाप्सबुर्ग राजाओं ने डट कर तुर्की का मुकाबला किया। फलस्वरूप तुर्क लोग यूरोप में और आगे नहीं बढ़ सके। लेकिन इस समय तक बाल्कन प्रायद्वीप का अधिकांश तुर्की साम्राज्य में सम्मिलित हो गया था और साम्राज्य की सीमाएँ जर्मनी से जा मिली थीं। अठारहवीं शताब्दी के अन्तिम वर्षों में तुर्क

* A. J. P. Taylor : *Origins of the Second World War* p. 2.

साम्राज्य की उत्तरी सीमा नीस्टर नदी के किनारे जा लगी। डैन्यूब नदी के उत्तर में स्थित माल्डेविया और वेलेशिया भी तुर्की साम्राज्य के अंग बना लिए गये। मान्टेनिग्रो तथा डालमेशिया नामक दो छोटे राज्यों के अतिरिक्त शेष समस्त बाल्कन प्रायद्वीप पर तुर्कों का हरा झंडा लहराने लगा। ईजियन सागर के सभी द्वीपों पर भी तुर्कों का अधिकार हो गया। उधर एशिया में एशिया माइनर, सीरिया, फिलिस्तीन, मेसोपोटेमिया, आरमेनिया, और अरब तथा अफ्रिकी महादेश में मिस्र और एल्जीयर्स विशाल तुर्की साम्राज्य के अंग बने हुए थे। इस प्रकार इस विशाल साम्राज्य में विभिन्न जातियों, प्रजातियों, धर्मों और सभ्यताओं के लोग बसे हुए थे। तुर्क लोग अपने विजित प्रदेशों की अन्य मतावलम्बी जातियों को घृणा की दृष्टि से देखते तथा उन पर भीषण अत्याचार करते रहते थे।

"यूरोप का मरीज"– अठारहवीं शताब्दी के मध्य तक तुर्की साम्राज्य उन्नति की चरम सीमा पर रहा। पर उसके बाद उसका पतन होने लगा। तलवार के बल पर इतने बड़े साम्राज्य को टिकाये रखना असम्भव हो गया। सहस्त्रो मील लम्बे-चौड़े तुर्क साम्राज्य पर दृढ़तापूर्वक शासन करने के लिए एक बहुत ही बलवान, योग्य, बुद्धिमान और अनुभवी शासक की आवश्यकता थी। लेकिन तुर्क सुल्तानों में इन गुणों का सर्वथा अभाव था। वे विलासी और आरामतलबी बन गये और शासन में ढिलाई आने लगी। साम्राज्य का शासन अस्त-व्यस्त हो गया। दूरस्थ प्रान्तों के शासक, जो पाशा कहलाते थे, स्वतन्त्र होने और मनमानी करने लगे। साम्राज्य का पतन तीव्र गति से होने लगा। तुर्की यूरोप का मरीज (Sickman of Europe) कहा जाने लगा।

फ्रांस की क्रांति तक तुर्की साम्राज्य किसी तरह कायम रहा। लेकिन 1815 के बाद तुर्की साम्राज्य की शक्ति क्षीण होने लगी। यह प्रजातान्त्रिक भावनाओं और राष्ट्रीयता का युग था। फ्रांस की क्रांति का प्रभाव बाल्कन प्रायद्वीप के लोगों पर पड़ा और राष्ट्रीयता के नाम पर वे अपनी राष्ट्रीय स्वतन्त्रता मांगने लगे।

पूर्वीय समस्या—तुर्क साम्राज्य की समस्या बढ़ने लगी और कुछ ही दिनों में इसका अन्तर्राष्ट्रीयकरण हो गया। तुर्की का पतन अवश्यम्भावी प्रतीत हो रहा था। इस कारण यूरोप की महाशक्तियों के सामने एक प्रश्न उठ खड़ा हुआ कि तुर्की साम्राज्य के पतन के बाद उसके द्वारा रिक्त किये स्थान की पूर्ति किसके द्वारा होगी ? इसी समस्या ने पूर्वीय समस्या का जन्म दिया। यूरोपीय राज्यों के शासक बाल्कन प्रदेश की ईसाई जनता के राष्ट्रीय आन्दोलनों की ओट में अपनी साम्राज्य विस्तार की आकांक्षा पूरी करने के लिए उनको सहायता पहुँचाने का यत्न करने लगे। रूस काले सागर तथा जलडमरूमध्यों पर अधिकार करना चाहता था। आस्ट्रिया

दक्षिण पूर्व की ओर अपने साम्राज्य-विस्तार का अभिलाषी था। फ्रांस, अपने लिए सीरिया और मिस्र में सुविधाएँ प्राप्त करना चाहता था तथा ब्रिटेन भी तुर्की साम्राज्य के अफ्रिकी हिस्सा पर अधिकार जमाने का इच्छुक था। इसमें रूस की महत्वाकांक्षा सबसे बड़ी थी। यदि यह महत्वाकांक्षा पूरी हो जाती तो यूरोप का शक्ति सन्तुलन बिगड़ जाता तथा ब्रिटेन के भारतीय साम्राज्य पर प्रत्यक्ष खतरा उत्पन्न हो जाता। अतएव ब्रिटेन ने रूसी महत्वाकांक्षा को रोकने का निश्चय किया। इस प्रकार यूरोपीय राज्यों की स्वार्थपूर्ण रूचियों के कारण तुर्की साम्राज्य से सम्बन्धित एक अत्यन्त पेचीदी समस्या का जन्म हुआ जिसको पूर्वीय समस्या कहते हैं।*

रूस का स्वार्थ—उन्नीसवीं सदी के प्रारम्भ में राष्ट्रीयता का सिद्धान्त तो तुर्की साम्राज्य की समस्या को जटिल बना ही रहा था; एक और घटना ने इसे और भी जटिल बना दिया। रूसी साम्राज्य तुर्की-साम्राज्य का एक नया प्रतिद्वन्द्वी बनने की तैयारी कर रहा था। रूस को यूरोप की एक महान् शक्ति बनाने का काम वहाँ के सुप्रसिद्ध राजा पीटर (1672-1725) ने किया था। उसीके समय रूसी शासकों की महत्वाकांक्षा हुई कि रूस यूरोप से निकलकर एशिया में अपने साम्राज्य का विस्तार करे। यूरोप से बाहर निकलने के लिए रूस को एक ही रास्ता था। उसका उत्तरी समुद्र उत्तरी ध्रुव के बहुत समीप होने के कारण शीतऋतु में जम जाता है और सामुद्रिक आवागमन का मार्ग बन्द हो जाता है। रूस के पास सामुद्रिक आवागमन का केवल एक ही मार्ग ऐसा है जो सालोभर खुला रहता है। वह है काला सागर से डार्डेनल्स और बोस्फोरस के जलडमरूमध्यो से गुजरकर एजियन सागर में आना और फिर वहाँ से भूमध्यसागर में पहुँच जाना। रूस का समूचा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार तथा जंगी जहाजों का आवागमन इसी मार्ग पर निर्भर था। वास्तव में डार्डेनल्स और बोस्फोरस के जलडमरूमध्य रूस के लिए जीवन-मरण के प्रश्न थे। स्वेज-नहर का जो महत्त्व ब्रिटेन के लिए था वही महत्त्व रूस के लिए इन जलडमरूमध्यों का था। ये दोनों जलडमरूमध्य तुर्की-साम्राज्य के अन्तर्गत थे। रूस इन पर अपना आधिपत्य जमाना चाहता था। उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ से जब तुर्की-साम्राज्य का पतन होने लगा तो रूस की बराबर यही कोशिश रही कि वह उस विशाल साम्राज्य को निगल जाय। इसके लिए वह तरह-तरह के दांव-पेच लगाता रहा। इन राजनीतिक दांव-पेचों का परिणाम यह हुआ कि तुर्की साम्राज्य की समस्या जटिल होने लगी।

बाल्कन-देशों में राष्ट्रीयता—ऊपर कहा जा चुका है कि फ्रांस की क्रांति के द्वारा फैलाये गये राष्ट्रीयता के सिद्धान्त की लहर में समूचा बाल्कन प्रायद्वीप

*Marriott : *The Eastern Question*, pp. 256-60.

ओतप्रोत हो रहा था। बाल्कन-प्रायद्वीप के विभिन्न राज्य अपने राष्ट्रीय राज्यों की स्थापना का स्वप्न देखने लगे। उनकी इस आकांक्षा को उसकाने में रूस और आस्ट्रिया विशेष रूप से सहायता प्रदान कर रहे थे। इन दोनों साम्राज्यों का हित इस बात में था कि तुर्की इतना कमजोर हो जाय कि वे बाल्कन-क्षेत्र में अपना राज्य विस्तार कर सकें। इस स्थिति में सबसे पहले 1804 में सर्विया के युगोस्लाव लोगों ने तुर्की के खिलाफ विद्रोह किया। यह आन्दोलन प्रायः 1829 तक चलता रहा। उस साल तुर्की ने सर्विया की स्वन्त्रता मान ली। लेकिन, अभी भी सर्विया पूर्णतया स्वतन्त्र नहीं हो सका। सर्विया की राजधानी बेलग्रेड में भी तुर्की-फौज रहती थी।

सर्विया के बाद यूनानियों ने अपनी स्वतन्त्रता-संग्राम शुरू किया। 1821 में यूनान-स्वतन्त्रता संग्राम प्रारम्भ हुआ। यूनानी विजयी हुए और 1832 में उन्हें पूर्ण स्वतन्त्र कर दिया गया। सर्विया और यूनान के स्वतन्त्र होने के बाद बाल्कन-प्रायद्वीप के अन्य राज्य भी स्वतन्त्रता की माँग करने लगे। बाल्कन-प्रायद्वीप की राजनीति में एक नये युग का प्रारम्भ हुआ।

रूस की नीति—तीव्र गति से तुर्की-साम्राज्य का पतन इन नये युग की मुख्य विशेषता थी। उन्नीसवीं सदी के प्रारम्भ में तुर्की एक जर्जर और मृतप्राय साम्राज्य हो चुका था। उसको 'यूरोप का मरीज' कहा जाता था। तुर्की के रोग से सबसे अधिक लाभ रूस उठाना चाहता था। जैसा ऊपर कहा जा चुका है, तुर्की में रूस का विशिष्ट स्वार्थ था। रूस को केवल डार्डेनल्स और बोस्फोरस के जलडमरूमध्यों में ही दिलचस्पी नहीं थी। रूस का साम्राट् अपने को बेजनटाइन-साम्राज्य का उत्तराधिकारी मानता था। बाल्कन-प्रायद्वीप के अधिकांश लोग स्लाव-नस्ल के थे। रूसी लोग भी इसी नस्ल के थे और उनके बीच बन्धुत्व की भावना मौजूद थी। इसके अतिरिक्त इस क्षेत्र के निवासी ग्रीक-चर्च के ईसाई थे और रूस का साम्राट् ग्रीक चर्च का प्रधान था। इन सब बातों को लेकर रूस चाहता था कि किसी तरह तुर्की-साम्राज्य का पतन हो जाय और वह स्वयं उसकी जगह ले ले। वैसी हालत में बाल्कन-प्रायद्वीप के ग्रीक चर्च के स्लाव ईशाई उसके अनुयायी हो जायेंगे और उन्हें वह जैसे चाहेगा नचायेगा। लेकिन, रूस के शासकों की महत्वाकांक्षा यही तक सीमित नहीं थी। वे तुर्की-साम्राज्य के खंडहर पर एक विशाल रूसी साम्राज्य का महल उठाना चाहते थे। जब भी मौका मिलाता वे यूरोप के महान् राष्ट्रों के सामने यह प्रस्ताव रखवे कि तुर्की का पतन हो रहा है और वह मौका आ गया है कि उसको स्पेन या पोलैंड की तरह आपस में बाँट लिया जाय। लेकिन, इन सब बातों में रूस की एक ही चाल थी। रूस किसी तरह भूमध्यसागर तक पहुँच जाना चाहता था।

ब्रिटेन का विरोध—भूमध्यसागर में रूस का प्रवेश ब्रिटेन के लिए बड़ा खतरा था। ब्रिटेन का साम्राज्य समूचे संसार में फैला हुआ था और भारत उस साम्राज्य का सबसे बड़ा चमकता हुआ सितारा था। ब्रिटेन किसी भी हालत में इस बात को सहसे के लिए तैयार नहीं था कि किसी प्रकार से उसके भारतीय साम्राज्य पर कोई खतरा पहुँचे। कावेशश और मध्यएशिया में जिस शीघ्रता से रूस का प्रभाव बढ़ रहा था उसको देखते हुए ब्रिटिश-सरकार चुपचाप नहीं बैठ सकती थी। ब्रिटिश-सरकार तुर्की-साम्राज्य में रूस का प्रभाव बढ़ने देना नहीं चाहती थी। रूस ने जब भी डॉर्डेनल्स और बोस्फोरस पर अधिकार जमाते का प्रयास किया, ब्रिटेन ने उसका विरोध किया। कैनिंग के समय से ही निकटपूर्व में रूसी चेष्टाओं को विफल करना ब्रिटिश विदेश नीति का मूल आधार हो गया था। रूस ब्रिटेन को अपने पक्ष में करना चाहता था। रूसी सम्राट् ने विचार किया कि तुर्की-साम्राज्य को नष्ट करके यदि उसका एक हिस्सा ब्रिटेन को प्रदान कर दिया जाय तो सम्भवतः काम चल जायगा। ब्रिटेन चाहता था कि स्वेज-नहर पर उसका कब्जा रहे। रूस अपने लाभ के बदले में मिस्र और स्वेज में ब्रिटेन को छूट दे देने के लिए तैयार था। अपने लिए वह ब्रिटेन से यही मनवाना चाहता था कि कन-स्टेन्टिनोप्ल पर उसका अधिकार हो जाय। उसके बाद तुर्की-साम्राज्य के नष्ट हो जाने के पाश्चात् बाल्कन-प्रायद्वीप में जो ईसाई राज्य कायम होंगे वे अनिवार्य रूप से रूस के प्रभाव-क्षेत्र में आ जायेंगे। रूस समझता था कि इस सौदे में ब्रिटेन को लाभ-ही लाभ है। उसको पूर्ण विश्वास था कि वह इसके लिए तैयार हो जायेगा। और, यदि तुर्की के मामले में रूस और ब्रिटेन एकमत हो जायँ तो अन्य किसी यूरोपीय राज्य की हिम्मत न होगी कि उनकी सम्मिलित नीति का विरोध कर सके। लेकिन, ब्रिटेन रूस की इस चाल में फँसने वाला नहीं था। जब तक लार्ड पामर्स्टन के हाथों में ब्रिटेन की विदेश नीति के संचालन का भार रहा है तबतक उसने अपनी सम्पूर्ण शक्ति से रूस का विरोध किया।

1840 में लार्ड पामर्स्टन ब्रिटिश-मन्त्रिमंडल से हट गया। रूस ने इस मौके से लाभ उठाना चाहा। 1844 में रूसी सम्राट जार निकोलस ने ब्रिटेन की यात्रा की। उसने ब्रिटिश-राजनीतिज्ञों के सामने तुर्की-समस्या का मिल-जुलकर समाधान करने का प्रस्ताव रखा। लेकिन, ब्रिटेन से कोई प्रोत्साहन नहीं मिला। ब्रिटेन ने रूस की योजना से असहमति प्रकट की। वास्तव में बात यह थी कि ब्रिटेन एशिया के साम्राज्य में अपना सबसे बड़ा प्रतिस्पर्धी रूस को मानता था। वह कभी नहीं चाहता था कि पूर्व की तरफ रूस का विस्तार हो। अपने पड़ोस में शक्तिशाली रूस का होना उसके लिए भयंकर खतरे की बात थी। स्थल सेना में रूस यूरोप का सबसे शक्तिशाली देश था। ब्रिटेन को इस बात का भय था कि

अगर कन्स्टेन्टिनोप्ल और बाल्कन-प्रायद्वीप पर रूस का प्रभुत्व कायम हो गया तो वह एक जबर्दस्त सामुद्रिक शक्ति भी हो जायगा और ब्रिटेन का विश्वव्यापी साम्राज्य तथा राष्ट्रीय सुरक्षा के खतरे में पड़ जाने की सम्भावना उपस्थित हो जायगी। अतः वह रूसी योजना को कभी स्वीकार नहीं कर सकता था।

क्रीमिया का युद्ध—अनेक प्रयासों के बाद जब रूस ब्रिटेन को अपने पक्ष में नहीं कर सका तो उसने तुर्की-साम्राज्य को हड़पने के लिए अन्य उपायों का अवलम्बन किया। वह कब तक ब्रिटेन के विरोध की परवाह करता रहे। उसे अपनी सैन्य-शक्ति पर पूरा भरोसा था। ब्रिटेन की ओर से निराश होकर रूस तुर्की के विरूद्ध युद्ध छेड़ने के लिए उपयुक्त अवसर की प्रतीक्षा में था। ऐसा अवसर 1853 में जेरूसलम के ईसाईयों के पवित्र स्थान को लेकर उपस्थित हुआ और इसी बहाने रूस ने मार्च, 1853 में तुर्की के विरूद्ध युद्ध उद्घोषित कर दिया। यह क्रीमिया का युद्ध था।

क्रीमिया युद्ध में रूस और तुर्की अकेले नहीं लड़ सके। ब्रिटेन और फ्रांस नहीं चाहते थे कि रूस तुर्की-साम्राज्य का विनाश कर दे। उन्होंने तुर्की का पक्ष लिया। परिणाम हुआ कि रूस क्रीमिया-युद्ध में हार गया। 1856 की पेरिस-सन्धि के द्वारा इस युद्ध का अन्त हुआ। रूस को सन्धि की सभी शर्तें माननी पड़ीं। क्रीमिया-युद्ध के फलस्वरूप निकटपूर्व में रूस की महत्वाकांक्षाओं पर कुछ दिनों के लिए अंकुश बन गया।

रूमानिया—1856 के बाद तुर्की-साम्राज्य की समस्या में कोई ऐसी उलझन नहीं पैदा हो सकी जिसके कारण यूरोप का शांति खतरे में पड़ जाय। बाल्कन-राज्य अपनी स्वतंत्रता के लिए प्रयास कर रहे थे। यूरोप के महान् राज्य अपना दाव-पेंच लगा रहे थे। तुर्की-साम्राज्य भी किसी तरह अपने को सम्हालता रहा। पेरिस-संधि के बाद मोल्डेविया और वलेचिया के प्रश्न को छोड़कर तुर्की साम्राज्य की समस्या में कोई विशेष उलझन नहीं हुई। ये दोनों प्रदेश तुर्की साम्राज्य से स्वतंत्रता पाकर अपना संघ स्थापित करना चाहते थे। पेरिस-सन्धि के द्वारा उन्हें इस प्रकार का आश्वासन दिया गया था। अन्त में 23 दिसम्बर, 1861 के दिन इन दोनों प्रदेशों का एक संघ विधिवत् घोषित कर दिया गया। दोनों प्रदेशों को मिलाकर रूमानिया का राज्य बना।

'अखिल-स्लाव'-आन्दोलन—पेरिस-सन्धि के अनुसार तुर्की-सुल्तान ने वादा किया था कि वह अपनी ईसाई-प्रजाओं को कष्ट नहीं देगा। उनकी उन्नति और भलाई के लिए वह हर तरह का प्रयास करेगा। लेकिन, किसी भी साम्राज्यवादी सरकार से इस तरह की आशा करना व्यर्थ है। कागज पर तो ईसाई-प्रजाओं को सब तरह की सुख-सुविधाएँ प्राप्त थीं। बिना किसी प्रकार के भेद-भाव

से उन्हें राजनीतिक अधिकार, वैयक्तिक तथा धार्मिक स्वतन्त्रता, सरकारी पदों पर नियुक्ति का अधिकार इत्यादि प्राप्त थे। पर वास्तव में इस प्रकार की कोई बात नहीं थी। तुर्की साम्राज्य की ईसाई-प्रजा को तरह-तरह से सताया जाता था। उनपर तरह-तरह के नाजायज कर लगते थे। उन्हें किसी प्रकार का राजनीतिक या धार्मिक अधिकार नहीं था। उनके लिए उचित न्याय पाना असम्भव था।

स्वतन्त्रता और राष्ट्रीयता के प्रभाव में आकर बाल्कन की ईसाई-प्रजा तुर्की सुल्तान की स्वेच्छाचारिता को अब नहीं सह सकती थी। सर्बिया, यूनान तथा रूमानिया का उदाहरण उनके सामने था। बाल्कन-राज्यों में तुर्की शासन के विरुद्ध तरह-तरह के षड्यन्त्र की योजना बनने लगी। वे अपनी राष्ट्रीय स्वाधीनता के लिए हाथ-पैर मारने लगे। 'अखिल-स्लाव' (Pan Slavism) आन्दोलन का उत्थान बाल्कन राज्यों की नये स्वाधीनता-संग्राम की एक मुख्य विशेषता थी। समस्त यूरोप की स्लाव जाति के लोगों को एक सूत्र में बाँधना इस आन्दोलन का मुख्य उद्देश्य था। इस आन्दोलन की सफलता का परिणाम होता तुर्की-साम्राज्य का विनाश। 'अखिल स्लाव' आन्दोलन को रूसी सरकार से प्रोत्साहन मिलता था। क्रीमिया-युद्ध के बाद पूर्व में रूस के विस्तार के रास्ते पर काफी अड़चनें आ गयी थीं। प्रत्यक्ष रूप से रूस इस क्षेत्र में अपना प्रभाव नहीं फैला सकता था। रूसी लोग स्लाव नस्ल के थे और जार ग्रीक चर्च का नेता था। बाल्कन-प्रायद्वीप के अधिकांश लोग इसी नस्ल के थे और ग्रीक-चर्च के ईसाई थे। जाति और धर्म के पर्दे के पीछे उनपर प्रभाव जमाया जा सकता था। अतः क्रीमिया-युद्ध के बाद 'अखिल-स्लाव'-आन्दोलन को प्रोत्साहित करना रूस की बाल्कन-नीति का प्रमुख आधार हो गया। रूस के जासूस बाल्कन-राज्यों में छाये रहते थे। स्लावों के बीच जाकर उन में जागृति पैदा करने और तुर्की के खिलाफ विद्रोह करने के लिए उन्हें भड़काया करते थे। 1867 में मास्को में एक 'अखिल-स्लाव'-काँग्रेस का अधिवेशन हुआ। हर देश के स्लाव-प्रतिनिधि इसमें सम्मिलित हुए थे। जार ने स्वयं इस काँग्रेस का उद्घाटन किया। एक केन्द्रीय 'अखिल-स्लाव-समिति' की स्थापना की गयी। इसका प्रधान कार्यालय मास्को में था और बाल्कन-प्रायद्वीप के प्रमुख शहरों में इसकी शाखाएँ फैली हुई थीं। अखिल-स्लाव आन्दोलन पर समिति पत्रिकाएँ प्रकाशित करती और बाल्कन-प्रायद्वीप में उन्हें मुफ्त बाँटा जाता था। स्लाव-विद्यार्थियों को मास्को-विश्वविद्यालय में तरह-तरह की सुविधाएँ भी मिलती थीं। वहाँ शिक्षा प्राप्त करने के साथ साथ उन्हें 'स्लाव-आन्दोलन' के उद्देश्य भी बतलाये जाते थे। कान्स्टेन्टिनोप्ल स्थित रूसी दूतावास तथा बाल्कन प्रायद्वीप में फैले हुए रूसी वाणिज्य दूतावास इस आन्दोलन के अड्डे थे।*

* Marriott : *The Eastern Question*, pp 218-21

ऐसी स्थिति में तुर्की-साम्राज्य के स्लाव-लोग आन्दोलन करने के अवसर की प्रतीक्षा में थे।

बाल्कन-प्रायद्वीप में रूस की स्थिति काफी मजबूत हो रही थी। 1870 में फ्रेंको-युद्ध छिड़ गया, रूस ने इस मौके से लाभ उठाकर 1856 की पेरिस-सन्धि की कालासागर-सम्बन्धी शर्तों को अस्वीकार कर दिया। सेवास्टोपोल में उसने पुनः किलाबन्दी शुरू कर दी और कालासागर के तट पर अपनी नौ-सेना को पुनर्संगठित करने का काम भी शुरू कर दिया। यह तुर्की-साम्राज्य में अपनी अभिलाषा पूरी करने के लिए ही नहीं, बल्कि स्लाव लोगों को प्रभावित करने के लिए भी की गयी थी। इसी वर्ष रूस ने तुर्की-सुल्तान को बाध्य किया कि वह अपने स्लाव-ईसाई-प्रजाओं को और सुविधा प्रदान करे।

आस्ट्रिया का स्वार्थ—इस समय तक निकटपूर्व समस्या में एक और जटिलता आ चुकी थी। 1871 आते-आते आस्ट्रिया नये जोश के साथ इस क्षेत्र की राजनीति में प्रवेश कर चुका था। कहना न होगा कि आस्ट्रिया और तुर्की परम्परा से एक-दूसरे के दुश्मन थे। 1883 में तुर्की ने आस्ट्रिया की राजधानी वियना पर चढ़ाई की थी। उसी समय से तुर्की और आस्ट्रिया एक-दूसरे के शत्रु बने रहे। आस्ट्रिया एक विशाल साम्राज्य था और उसका स्वार्थ चारो तरफ फैला हुआ था। जर्मनी की राजनीति में उसकी विशेष दिलचस्पी थी। पर, 1863 में आस्ट्रो-प्रशन-युद्ध के फलस्वरूप बिस्मार्क ने आस्ट्रिया को जर्मनी की राजनीति से सदा के लिए निकाल बाहर कर दिया। अब आस्ट्रिया के विस्तार के लिए केवल एक ही मार्ग था। वह था बाल्कन-प्रायद्वीप को राजनीति में हस्तक्षेप करना। जर्मनी में आस्ट्रिया की शक्ति क्षीण हो जाने के बाद उसके सम्राट् यह अनुभव करते थे कि उनकी शक्ति का विस्तार का उपयुक्त क्षेत्र बाल्कन-प्रायद्वीप ही हो सकता है। 1871 के बाद 'पूर्व की ओर धक्का दो' (Drang Nach Osten) का सिद्धान्त आस्ट्रिया की विदेश-नीति का मुख्य आधार बन गया। अतः रूस की तरह आस्ट्रिया का हित भी इसी बात में था कि तुर्की कमजोर हो जाय और बाल्कन-प्रायद्वीप की लूट द्वारा वे अपना राज्य-विस्तार कर सकें।

बाल्कन-प्रायद्वीप में आस्ट्रिया और रूस के एक ही उद्देश्य थे—तुर्की के मूल्य पर अपने-अपने राज्य का विस्तार करना। अतः इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि इस क्षेत्र में दोनों देशों के हित टकराते। आस्ट्रिया में द्वैध राजतन्त्र था। 1867 में आस्ट्रिया और हंगरी मिलकर एक राज्य हो गये थे। हंगरी में मेगायर-नस्ल के लोग बहुसंख्यक थे। वे स्लाव-जाति के विरोधी थे। अतः आस्ट्रिया के लिए आवश्यक हो गया कि वह स्लाव-लोगों का विरोध करे। एक तरफ रूस 'अखिल स्लाव आन्दोलन' को प्रोत्साहित कर रहा था और दूसरी तरफ आस्ट्रिया इस आन्दोलन का

विरोधी था। ऐसी हालत में बाल्कन-प्रायद्वीप में आस्ट्रिया और रूस का संघर्ष अवश्यम्भावी हो गया। इस तरह के विविध उलझनों को लेकर 1871 में निकट-पूर्व समस्या का एक नया अध्याय शुरू हुआ।

(2) रूसी-तुर्की-युद्ध (1877-78)

अनेक कारणों से प्रभावित होकर बाल्कन-प्रायद्वीप के विविध ईसाई-राज्यों में राष्ट्रीय आन्दोलन जोर पकड़ रहा था। बोस्निया तथा हर्जेगोविना के युगोस्लाव निवासियों ने सर्वप्रथम जुलाई, 1875 में तुर्की-शासन के खिलाफ विद्रोह का झण्डा खड़ा किया। इस विद्रोह के साथ रूस और सर्बिया की सहानुभूति थी और उन्होंने विद्रोहियों की सक्रिय मदद की। विद्रोही युगोस्लाव लोगों ने यूरोप के प्रमुख राज्यों से प्रार्थना की कि वे उनकी स्वतन्त्र सत्ता को स्वीकार करें। यूरोप के लिए इस सम्बन्ध में अपनी नीति का निर्धारण करना सुगम कार्य नहीं था। समझौते के अनेक कोशिशें हुईं लेकिन सब-के-सब व्यर्थ। अन्त में निराश होकर बोस्निया और हर्जेगोविना के विद्रोहियों ने जून, 1876 में तुर्की के खिलाफ बाकायदा युद्ध उद्घोषित कर दिया।

बुल्गेरिया में विद्रोह :—बोस्निया-हर्जेगोविना का विद्रोह सीमित नहीं रह सकता था। यह एक ऐसी चिनगारी थी जो समूचे बाल्कन-प्रायद्वीप को प्रज्ज्वलित करने पर तुली हुई थी। विद्रोह की आग फैलने लगी। जिस समय बोस्निया-हर्जेगोविना के लोग तुर्की के विरुद्ध संघर्ष कर रहे थे उसी समय बुल्गेरिया में भी विद्रोह हो गया। तुर्की के सुलतान को इन विद्रोहों में एक भयानक रोग का लक्षण दिखाई पड़ने लगा। एक के बाद दूसरा राज्य उसकी सत्ता के विरूद्ध विद्रोह करता जा रहा था। यह उसके साम्राज्य के भविष्य के लिए बड़े खतरे की बात थी। अतः तुर्की-सरकार ने इन विद्रोहों को खासकर बुल्गेरिया के विद्रोह का क्रूरता से दमन करने का निश्चय किया। तुर्की की सरकार ने इन विद्रोहियों पर भयंकर अत्याचार किये। एक बहुत बड़ी सेना बुल्गेरिया के लिए रवाना हुई। बुल्गेरिया के निरस्त्र किसान इसका मुकाबला नहीं कर सके। लगभग साठ गाँवों को जलाकर राख कर दिया गया। बारह हजार से अधिक पुरुष, स्त्री और बच्चे निर्दयता के साथ मौत के घाट उतार दिये गये। तुर्की के इस अमानुषिक अत्याचार से बुल्गेरिया का विद्रोह कुछ दिनों के लिए शान्त हो गया।

जब बुल्गेरिया में भयंकर अत्याचारों का समाचार यूरोप के समाचारपत्रों में छपा तो सारे यूरोप में खलबली पैदा हो गयी। यूरोप के ईसाई-लोग अपने बुल्गेरिया के ईसाई-बन्धुओं पर इस तरह के मुसलमानी अत्याचार को सुनकर तड़प उठे।

तुर्की का मुस्लिम-सुल्तान बाल्कन-राज्यों की ईसाई-प्रजाओं को इस पाशविकता से कुचल दे, इस बात को यूरोपीय ईसाई सहने को तैयार नहीं थे। यहाँ तक कि ग्लैडस्टोन-जैसे उदार प्रवृत्ति के व्यक्ति का दिल भी दहल उठा। उसने बुल्गेरिया के अत्याचार पर एक छोटी-सी पुस्तक प्रकाशित करायी। उसमें उसने लिखा था—"तुर्की लोग अपना बोरिया-बिस्तर बाँधकर यूरोप से निकल जायँ। बाल्कन के ईसाई लोगों के त्राण का यही एकमात्र उपाय है।" ग्लैडस्टोन ने तुर्की के विरुद्ध बाल्कन-राज्यों की सहायता के लिए एक आन्दोलन प्रारम्भ कर दिया। उसका विचार था कि ब्रिटेन का अपनी पुरानी नीति (तुर्की की रक्षा) का परित्याग कर तुर्की के विरुद्ध बाल्कन-विद्रोहियों की सहायता करनी चाहिए।

लेकिन इस समय ब्रिटेन का प्रधानमन्त्री ईसाई ग्लैडस्टोन नहीं, बल्कि यहूदी डिजरैली था। वह बहुत बड़ा साम्राज्यवादी था और पुरानी नीति का अनुसरण करने में ही ब्रिटेन का हित समझता था। डिजरैली की आँखों के सामने बुल्गेरिया का अत्याचार नहीं वरन् भारतीय साम्राज्य की सुरक्षा नाच रही थी। ब्रिटेन का शत्रु तुर्की नहीं; बल्कि रूस था, जो भारत की तरफ बढ़ने के लिए उस समय अफगानिस्तान में तरह-तरह का षड्यन्त्र रच रहा था। वह बुल्गेरिया में तुर्की-अत्याचारों को दबाने की कोशिश करता रहा। लेकिन, समाचारपत्रों के संवाददाता उसके सभी प्रयत्नों को व्यर्थ बना रहे थे।

रूसी प्रतिक्रिया : बुल्गेरिया-अत्याचार के समाचार से ब्रिटेन की अपेक्षा रूस में अधिक सनसनी थी। बुल्गेरिया में रूस के 'स्लाव-बन्धुओं' पर तुर्की का क्रूर अत्याचार हो रहा था और रूस के शासक इस बात को कब तक देखते रह सकते थे। स्लाव-शहीदों की आत्मा उन्हें रो-रोकर पुकार रही थी। जार ने सार्वजनिक रूप से यह घोषणा की कि अगर यूरोप के महान् राष्ट्र संयुक्त रूप से बुल्गेरिया के ईसाईयों की रक्षा नहीं करेंगे तो बाध्य होकर रूस को अकेले ही कोई कदम उठाना होगा।* इस भाषण में डिजरैली को कान्स्टेन्टिनोप्ल तथा स्वेज-नहर पर रूसी आधिपत्य का चित्र दिखलाई पड़ने लगा। उसने जार को चेतावनी दी कि यदि रूस ऐसा करेगा तो ब्रिटेन अपनी सम्पूर्ण शक्ति के साथ उसका विरोध करेगा। परन्तु, बाल्कन राज्यों में तुर्क-शासकों के द्वारा किये गये अत्याचारों के जो समाचार निरन्तर प्राप्त हो रहे थे उन्हें दृष्टि में रखकर कुछ करना आवश्यक था। आखिर इस समस्या पर विचार करने के लिए कान्स्टेन्टिनोप्ल में यूरोपीय राज्यों के राजदूतों का एक सम्मेलन शुरू हुआ। सम्मेलन ने तुर्की-सरकार से माँगों की एक सूची बनायी। तुर्की के सुल्तान ने उसको मानने से इन्कार कर

* Grant and Temperly : *Europe in the Nineteenth and Twentieth Centuries*, p. 300

दिया। अब रूस के लिए अच्छा मौका था। सम्पूर्ण यूरोप का लोकमत उस समय तुर्की के खिलाफ था। इस दशा में अगर वह तुर्की के विरूद्ध युद्ध की घोषणा कर देता तो अन्य कोई राज्य उसका विरोध नहीं करता। अप्रिल, 1877 में रूस ने तुर्की से कुछ माँगें कीं। तुर्की का विश्वास था कि रूस के विरूद्ध ब्रिटेन उसकी मदद अवश्य करेगा। अतः उसने रूस की माँगें अस्वीकृत कर दीं। इस पर 14 अप्रिल, 1877 को रूस ने तुर्की के विरुद्ध युद्ध शुरू कर दिया।*

युद्ध और सन स्टीफानो की सन्धि—रूस की सैन्य-शक्ति के सामने तुर्की एक साधारण शक्ति था। वह युद्ध में हारता गया। रूस की एक सेना कान्स्टेन्टिनोप्ल के अत्यन्त समीप सन स्टीफानो नामक गाँव तक पहुँच गयी। कान्स्टेन्टिनोप्ल रूस के अधीन आनेवाला ही था। लेकिन, डिजरैली इस बात को नहीं सह सकता था। उसने ब्रिटिश नौ-सेना को तैयार हो जाने की आज्ञा दी। भारत में ब्रिटिश सेना माल्टा पहुँचायी गयी। उधर आस्ट्रिया भी रूस का विरोध करने की तैयारी करने लगा। ऐसी स्थिति में रूस ने तुर्की के साथ सन्धि कर लेना ही ठीक समझा। 3 मार्च, 1878 को सन स्टीफानो में एक सन्धि पर दोनों युद्धरत देशों ने हस्ताक्षर कर दिये। इस सन्धि की मुख्य-मुख्य शर्तें निम्नलिखित थीं—(1) सर्विया, रूमानिया और मान्टिनिग्रो की पूर्ण स्वतन्त्रता मान ली जाय। (2) बोस्निया, हर्जेगोविना तथा आरमेनिया के शासन में सुधार किया जाय। (3) एक विशाल स्वतन्त्र बुल्गेरिया का निर्माण हो जो डैन्यूब नदी से इजियन-सागर तक तथा कालासागर से अल्बेनिया तक विस्तृत हो। (4) रूस को आर्मेनिया के कुछ प्रदेश तथा बेसरेबिया और दोब्रुद्जा का विस्तृत भूभाग मिले। (5) तुर्की ने रूस को हरजाने के रूप में एक बहुत बड़ी धन राशि देने का वादा भी किया।

सन स्टीफानो की सन्धि का मतलब था यूरोप में तुर्की-साम्राज्य का विनाश। इस सन्धि से रूस की शक्ति बहुत बढ़ गयी। सर्विया, रूमानिया और मान्टिनिग्रो तो पहले ही उसके प्रभाव में थे। अब यह एक नवीन बुल्गेरिया का सृजन कर रहा था। इस बुल्गेरिया पर उसका पर्याप्त प्रभाव रहना सर्वथा स्वाभाविक था। पूर्व में विस्तार की दिशा में रूस एक महत्त्वपूर्ण कदम उठा चुका था।†

(3) बर्लिन की सन्धि

सन स्टीफानो का विरोध—जिस समय सन स्टीफानो-सन्धि की शर्तें यूरोपीय समाचारपत्रों में प्रकाशित हुईं उस समय ब्रिटेन और आस्ट्रिया में

* Marriott : *Europe and Beyond*, pp. 54-56.

† Ketelbey : *History of Modern Times*, p. 304.

खलबली मच गयी। जर्मन से निकाले जाने के बाद आस्ट्रिया अपने साम्राज्यवाद की भूख शान्त करने के लिए बाल्कन-राज्यों की तरफ वक्र-दृष्टि से देख रहा था। लेकिन, इस क्षेत्र में रूस के प्रभाव की जड़ दिन-दूनी रात-चौगुनी मजबूत हो रही थी। सन स्टीफानो के बाद तो आस्ट्रिया को ऐसा लगा कि मानों इस विशाल संसार में उसके लिए कुछ रह ही नहीं गया है। रूस और बुल्गेरिया को छोड़कर कोई देश सन स्टीफानो की सन्धि से सन्तुष्ट नहीं था। रूमानिया ने युद्ध में रूस का साथ दिया था। लेकिन, जब सन्धि के लिए वार्तालाप प्रारम्भ हुआ तो रूस ने उसको निमन्त्रण तक नहीं भेजा। सर्बिया, मान्टिनिग्रो तथा यूनान विशाल बुल्गारिया का सृजन देखकर जल रहे थे। यूनान तो क्रोध से इतना आग बबूला था कि उसने थेसली पर आक्रमण तक कर दिया। बाल्कन-प्रायद्वीप में जर्मनी का कोई निजी स्वार्थ नहीं था; पर बिस्मार्क आस्ट्रिया का पक्ष लेना चाहता था। सबसे अधिक रुष्ट ब्रिटेन था। इस समय डिजरैली के मन्त्रिमंडल में लार्ड सेलिसबरी विदेश-मंत्री था। उसकी समझ में विशाल बुल्गेरिया का सृजन एक वैसी सीढ़ी का निर्माण था जिसके सहारे रूस आसानी से कान्स्टेन्टिनोपुल पहुँच सकता था। मास्को स्थित ब्रिटिश-राजदूत ने कड़े शब्दों में इस सन्धि का विरोध किया। डिजरैली का कहना था कि सन स्टीफानो की सन्धि के अनुसार कालासागर पर रूस का एकाधिपत्य हो जायेगा। ब्रिटेन और आस्ट्रिया इस बात पर एकमत थे कि तुर्की-साम्राज्य की समस्या में सभी यूरोपीय राज्यों की दिलचस्पी है और कोई एक राज्य अकेले अपने लाभ के लिए इस क्षेत्र में कोई व्यवस्था नहीं कर सकता है। आस्ट्रिया ने इस प्रश्न पर विचार करने के लिए बाकायदा एक अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन की माँग की। ब्रिटेन ने आस्ट्रिया का समर्थन किया। उसका कहना था कि ऐसे सम्मेलन में रूस और तुर्की के बीच हुई सन्धि पर विचार हो। चारो तरफ से अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन की माँग होने लगी। यूरोप का जनमत सन स्टीफानो की सन्धि रद्द करने और नये सिरे से एक सन्धि करने के पक्ष में काफी प्रबल हो चुका था। रूस ने कुछ दिनों तक सम्मेलन की मांग का विरोध किया। इसपर डिजरैली ने भारतीय सेना को माल्टा में केन्द्रीभूत करना शुरू किया। रूस इस समय युद्ध लड़ने की स्थिति में नहीं था। उसकी सैनिक और आर्थिक व्यवस्था खराब थी। जर्मनी उसको मदद देने के लिए तैयार नहीं था। आस्ट्रिया उसके विरुद्ध था। वह चारों तरफ से संकटों से घिरा हुआ था। ऐसी स्थिति में ब्रिटेन से झगड़ा मोल लेना ठीक नहीं था। रूस ने ब्रिटेन के प्रस्ताव को स्वीकार कर लेने में ही अपना कल्याण समझा। अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन के प्रस्ताव पर उसने अपनी सहमति दे दी। यूरोप में एक बार फिर युद्ध होते-होते बच गया।

बर्लिन-सम्मेलन—इस समय तक यूरोपीय रंगमंच पर संयुक्त जर्मनी का प्रादुर्भाव हो चुका था। विश्व में जर्मनी की महत्ता प्रदर्शित करने के लिए बिस्मार्क

ने प्रस्ताव रखा कि प्रस्तावित अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन बर्लिन में हो। यूरोप के राज्यों ने कोई आपत्ति नहीं की। वे भी जर्मनी की नयी महत्ता को स्वीकार करने को तैयार थे। अतः बर्लिन में सम्मेलन का काम शुरू हुआ। 'निष्पक्ष दलाल' के रूप में विस्मार्क ने सभापति का आसन ग्रहण किया।

बर्लिन की संधि 13 जून 1878 को सम्मेलन का कार्य प्रारम्भ हुआ, लेकिन मुख्य प्रश्नों पर रूस के विदेश मंत्री काउंट शुवेलाफ तथा ब्रिटिश विदेश मंत्री लार्ड सौल्सबरी में 30 मई को समझौता हो चुका था। अतः वाद-विवाद में अधिक समय नहीं लगा और 13 जुलाई को एक सन्धि पर हस्ताक्षर हो गया।* यह बर्लिन की सन्धि थी। इस सन्धि के अनुसार पूर्वीय समस्या के सम्बन्ध मे निम्न-लिखित व्यवस्थाएँ की गयी :—

(1) रूस को सन स्टीफानो की सन्धि से काफी लाभ हुआ था। इसमें बहुत कमी कर दी गयी। रूमानिया से वेसरेबिया का प्रदेश लेकर रूस को दे दिया गया। इसके अतिरिक्त आर्मेनिया का कुछ हिस्सा रूस को प्राप्त हुआ।

(2) रूमानिया की स्वतन्त्रता स्वीकार कर ली गयी। दोब्रुद्जा का प्रदेश जो सन स्टीफानो की सन्धि द्वारा रूस को दिया गया था, अब रूमानिया को प्रदान किया गया।

(3) आस्ट्रिया को वोस्निया और हर्जेगोविना के प्रदेश प्राप्त हुए। इसके अतिरिक्त सर्बिया और मान्टिनिग्रो के बीच स्थित संजक के नोविबाजार नामक स्थान में सेना रखने का अधिकार भी उससे मिला।

(4) ब्रिटेन को साइप्रस पर आधिपत्य तथा शासन करने का अधि-कार मिला।

(5) सर्बिया और मान्टिनिग्रो को पूर्णतया स्वाधीन राज्यों के रूप में स्वीकृत कर लिया गया।

(6) बुल्गेरिया की स्वाधीनता मान ली गयी। पर उसे बहुत छोटा राज्य बना दिया गया। डेन्यूब नदी और बाल्कन पर्वतमाला के मध्यवर्ती प्रदेश तक ही बुल्गेरिया राज्य को सीमित कर दिया गया।

(7) बाल्कन-पर्वतमाला के दक्षिण में स्थित पूर्वी रूमेलिया का प्रदेश था। यह सन स्टीफानो की सन्धि के अनुसार बुल्गेरिया-राज्य के अन्तर्गत था। यह बुल्गेरिया से अलग कर दिया गया और पुनः तुर्की सुल्तान के जिम्मे सौंप दिया गया। लेकिन, इसके शासन के लिए ईसाई गवर्नर की व्यवस्था की गयी।

(8) तुर्की की अधीनता में मैसिडोनिया तक के प्रदेश रखे गये।

बर्लिन सम्मेलन से फ्रांस ने ट्यूनिस, इटली ने अलबेनिया तथा ट्रिपोली एवं यूनान ने क्रीट, एपिरस, थेसली और मेसिडोनिया पर दावा किया। पर उस समय इस पर कोई निर्णय नहीं हुआ। एक बात मार्के की थी। जर्मनी किसी प्रदेश का दावा नहीं किया। इसके बदले में उसको तुर्की की कृतज्ञतापूर्ण मैत्री का बड़ा भारी लाभ हो गया।

बर्लिन-व्यवस्था का मूल्यांकन—

शक्ति-संतुलन—विश्व-राजनीति के आधुनिक इतिहास में बर्लिन सन्धि का एक बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है। निकटपूर्व की जटिल समस्या को सुलझाने की दिशा में यह एक उत्साहवर्द्धक कदम था। लेकिन, अनेक कारणवश बर्लिन-सम्मेलन को अपनी चेष्टा में सफलता नहीं मिल सकी। इसी से उत्पन्न परिणामों के फलस्वरूप 1912 और 1913 में बाल्कन-युद्ध हुआ और अन्ततः प्रथम विश्व-युद्ध। बर्लिन-सम्मेलन का काम यूरोपीय शक्ति-संतुलन बनाये रखना था। इसका उद्देश्य जर्जर और लड़खड़ाते हुए तुर्की-सरकार को जीवित रखना था। तुर्की-साम्राज्य के पतन से उस क्षेत्र में 'राजनीतिक शून्यता' हो जाने का भय था। ब्रिटेन नहीं चाहता था कि इस तरह की परिस्थिति आये। ऐसा होने से रूस को विस्तार का स्वर्ण अवसर मिल जाता।

राष्ट्रीयता की उपेक्षा—राष्ट्रीयता के सिद्धांत की पूर्ण उपेक्षा बर्लिन समझौते की दूसरी विशेषता थी। बुल्गेरिया के नवीन राज्य का निर्माण करते हुए राष्ट्रीयता के प्रश्न की दृष्टि से ओझल कर दिया गया था। इस तरह भी इस सिद्धान्त की उपेक्षा की गयी थी। शक्ति-संतुलन का सिद्धान्त यूरोप के राजनीतिज्ञों के सामने इस तरह नाचता था कि वे इस बात को एकदम भूल गये कि बाल्कन प्रायद्वीप की एकमात्र समस्या राष्ट्रीयता की है। सर्बिया, मान्टिनिग्रो, रूमानिया तथा बुल्गेरिया को स्वाधीन राज्यों के रूप में स्वीकृत करना राष्ट्रीयता के सिद्धान्त के अनुकूल था। लेकिन, ब्रिटेन द्वारा साइप्रस पर तथा आस्ट्रिया द्वारा बोस्निया और हर्जेगाविना पर आधिपत्य करना सभी सिद्धान्तों के प्रतिकूल था। जिन राज्यों ने तुर्की की प्रादेशिक अखण्डता के नाम पर हस्तक्षेप किया था वे स्वयं तुर्की को लूटने लगे थे। सन्धि के अनुसार रूस को काकेशश के अन्तर्गत कर्श तथा बातुम के प्रदेश मिले थे। इसके बदले में ब्रिटेन को कुछ चाहिए था। अतः उसने साइप्रस पर अधिकार कर लिया। उधर आस्ट्रिया भी बाल्कन-प्रायद्वीप में अपना प्रभाव बढ़ाने की कोशिश कर रहा था। इसलिए वह रूस के विरुद्ध तुर्की और ब्रिटेन की सहायता करने को उद्यत रहता था। इस सहायता के लिए उसने इनाम मांगी। अतः बोस्निया और हर्जेगोविना के प्रदेश प्रदान करके उसको भी सन्तुष्ट कर दिया गया।

* Philips : *Modern Europe*, p. 518.

तुर्की का पतन :— तुर्की साम्राज्य का सर्वनाश से बचा लेना बर्लिन सम्मेलन सबसे बड़ी सफलता बतलायी जाती है। डिजरैली ने दावा किया कि तुर्की-साम्राज्य को असामयिक मृत्यु से बचा लेना उसके राजनीतिक जीवन का सबसे अद्भुत कर्त्तव्य है। लेकिन यह दावा आंशिक रूप में ही सत्य था।* इसमें सन्देह नहीं कि बर्लिन की सन्धि द्वारा लड़खड़ाता हुआ तुर्की कुछ देर के लिए सम्हल गया। जनसंख्या और क्षेत्रफल के खयाल से सन स्टीफानो की सन्धि के कारण उसको अपार क्षति उठानी पड़ी थी। बर्लिन-सन्धि के द्वारा उस क्षति की पूर्ति हो गयी। लेकिन, इसके बावजूद बर्लिन सन्धि के कारण तुर्की की कमर टूट गयी। क्षेत्रफल और जनसंख्या की दृष्टि से तुर्की-साम्राज्य आधा हो गया। बर्लिन-सन्धि के द्वारा तुर्की को कोई नव-जीवन प्राप्त नहीं हुआ। वह तो कब से मृत्युशय्या पर लेटा हुआ था और डिजरैली की करतूतों ने उसके दुःख-दर्द को कुछ दिनों के लिए और बढ़ा दिया।

बर्लिन-सन्धि ने तुर्की साम्राज्य या बाल्कन-प्रायद्वीप की समस्याओं का कोई समाधान नहीं हो सका। यह समस्या और भी जटिल हो गयी। वास्तव में यह भविष्य के लिए बाल्कन प्रायद्वीप में संकटों और उत्पातों का जड़ सिद्ध हुआ। बर्लिन-सन्धि का मुख्य काम उस वृहत् बुल्गेरिया को नष्ट कर देना था जिसका निर्माण सन स्टीफानो की सन्धि के द्वारा हुआ था। मैसिडोनिया को फिर से सुल्तान के प्रत्यक्ष शासन में रख दिया गया। एक ईसाई-गवर्नर की व्यवस्था करके रूमेलिया का प्रदेश भी सुल्तान को वापस मिल गया। इसके परिणामस्वरूप बुल्गेरिया का क्षेत्रफल बहुत कम हो गया। ये सारी व्यवस्थाएँ भविष्य के लिए काफी खतरनाक सिद्ध हुई हैं। मैसिडोनिया को लेकर 1912 में प्रथम बाल्कन-युद्ध छिड़ा और 1913 का द्वितीय बाल्कन-युद्ध बुल्गेरिया के क्षेत्रफल को सीमित करने का प्रत्यक्ष परिणाम था।

राष्ट्रीय आन्दोलन :—बर्लिन-सन्धि के अनुसार मैसिडोनिया, रूमेलिया, आर्मेनिया तथा क्रीट पर तुर्की-सुल्तान का अधिकार कायम रहा। सुल्तान ने अपनी ईसाई-प्रजा के साथ अच्छा व्यवहार करने और उनको राजनीतिक प्रगति के लिए संवैधानिक सुधार करने का वादा किया। लेकिन, सुलतान को अपने वादों की कोई परवाह नहीं थी। उसका शासन ज्यों-का-त्यों कठोर बना रहा और कभी संवैधानिक सुधार नहीं हुआ। बाल्कन-प्रायद्वीप के अन्य देश—सर्बिया, मान्टिनिग्रो तथा रूमानिया—स्वतंत्र हो चुके थे, उनकी इस नवीन स्थिति को बल्कन के पराधीन राज्य ललचायी निगाहों से देखते थे। वे भी अपनी स्वतन्त्रता के लिए प्रयास करने

---

* Ketelbey : *History of Modern Times*, p. 312.

लगे । तुर्की के अधीनस्थ राज्यों में राष्ट्रीय आन्दोलन जोर पकड़ने लगा । तुर्की का सुल्तान इन राष्ट्रीय आन्दोलनों को दमन करने पर दृढ़ था । उसका आधा साम्राज्य तो यों ही खत्म हो चुका था । अगर ये राज्य भी स्वतन्त्र हो जायेंगे तो तुर्की साम्राज्य का नामोनिशान मिट जायेगा । अतः तुर्की राष्ट्रीय आन्दोलनों को क्रूरता से दमन करने पर दृढ़संकल्प था । इसी तरह बाल्कन के पराधीन राज्य भी अपनी स्वतन्त्रता प्राप्त करने के लिए तैयार थे । उनका राष्ट्रीय आन्दोलन जोर पकड़ता गया ।

मेसिडोनिया :—सबसे पहले हम मेसिडोनिया के आन्दोलन पर विचार करेंगे । मेसिडोनिया में मुख्यतया तीन जातियाँ निवास करती थीं - बल्गर, सर्व और यूनानी । सबसे पहले बल्गर-लोग आन्दोलन के मैदान में अग्रसर हुए । उनकी कोशिश थी कि मेसिडोनिया को स्वतन्त्र बुल्गेरिया के साथ सम्मिलित कर दिया जाय । बुल्गेरिया स्वयं इस आन्दोलन को प्रोत्साहित करता था । इसके लिए बुल्गेरिया में एक समिति की स्थापना हुई । इसकी सहायता से मेसिडोनिया के बुल्गर लोग काफी उत्पात मचाया करते थे । तुर्की-सरकार इससे बहुत तंग थी और इसलिए मेसिडोनिया में वह भयंकर अत्याचार करने लगी । ऐसी परिस्थिति में 1903 में यूरोपीय राज्यों ने इस मामले में हस्तक्षेप किया । मेसिडोनिया के सुशासन के लिए कुछ व्यवस्था की गयी । लेकिन, इसका कोई परिणाम नहीं निकला । तुर्क और बुल्गर-लोग अपने काम से बाज नहीं आये । उनका उत्पादन होता रहा और तुर्की द्वारा उसका दमन जारी रहा । 1908 में 1903 की व्यवस्था का परित्याग कर दिया गया । मेसिडोनिया की राजनीतिक स्थिति दिनोदिन खराब होने लगी और अन्त में उसको लेकर बाल्कन युद्धों का सूत्रपात हुआ । इसके अतिरिक्त रूमेलिया को बुल्गेरिया से पृथक् कर देना भी गलत काम था । एक जाति के होने के कारण रूमेलिया के निवासी बुल्गेरिया के साथ मिलना चाहते थे । 1885 में रूमानिया के लोगों ने विद्रोह कर दिया और अन्ततोगत्वा बुल्गेरिया से मिल गये और बर्लिन-सन्धि के विधाता, यूरोप के महान राष्ट्र, देखते ही रह गये । उस सन्धि की एक प्रमुख शर्त बात की बात में अन्त हो गयी ।

आर्मेनिया :—अर्मेनिया तुर्की के क्रूर दमन का सबसे बड़ा शिकार हुआ । 1878 की व्यवस्था से निराश होकर अर्मेनिया के लोगों ने भी स्वाधीनता-प्राप्ति के उद्देश्य से विद्रोह प्रारम्भ किया । तुर्की-शासन इस विद्रोह को नहीं सह सकता था । 1895-96 में उसने अर्मेनिया के लोगों पर भयंकर अत्याचार किये । करीब 26 हजार के लगभग लोग कत्ल कर दिये गये । यूरोपीय राज्यों ने हस्तक्षेप किया । लेकिन, उसका कोई फल नहीं हुआ । 1904 और 1906 में आर्मेनियनों ने फिर विद्रोह किया । पर तुर्की-सरकार ने उन्हें फिर बुरी तरह कुचल दिया ।

यूनानः—बर्लिन की सन्धि यूनान की अभिलाषाओं को पूरी करने में असफल रही। बर्लिन-सम्मेलन में यूनान ने क्रीट, एपिरस, थेसली और मेसिडोनिया के कुछ भू-भागों पर दावा किया था। पर डिजरैली यूनान को धैर्य रखने का उपदेश देता रहा। डिजरैली का कहना था कि "यूनान एक महान् देश है और वह कुछ और दिनों के लिए ठहर सकता है।" पर यूनान ठहरने के लिए तैयार नहीं था। क्रीट को लेकर वह सबसे अधिक दुःखी था। यह विशाल द्वीप यूनान के दक्षिण में स्थित है और इसके निवासी प्रधानतया यूनानी थे। मेसिडोनिया के दक्षिण प्रदेशों में भी यूनानी लोग रहते थे। यूनान के लिए यह उचित और स्वाभाविक था कि वह अपने स्वजातीय लोगों द्वारा आबाद इन प्रदेशों को तुर्की की अधीनता से मुक्त कराकर अपने साथ सम्मिलित कर ले। इसके लिए यूनान में 'विशाल यूनान' आन्दोलन चला। 1896 में क्रीट में विद्रोह हुआ। विद्रोहियों को यूनान से काफी मदद मिली। इस विद्रोह के फलस्वरूप क्रीट को थोड़ी-बहुत स्वतन्त्रता मिल गयी; लेकिन वे पूर्ण स्वतन्त्रता चाहते थे। अतः 190[illegible]-6 में उन्होंने फिर विद्रोह कर दिया। इस बार वे पूर्ण स्वतन्त्र हो गये। 1913 में क्रीट विधिवत् यूनान के साथ मिल गया।

आस्ट्रिया और सर्बिया : बोस्निया और हर्जेगोविना को आस्ट्रिया के अधिकार में देकर बर्लिन की सन्धि ने बाल्कन प्रायद्वीप की राजनीति को और अधिक उलझा दिया। सर्बिया और आस्ट्रिया एक-दूसरे के दुश्मन थे और अब दोनों दुश्मन एक-दूसरे के अत्यन्त समीप आ गये। एक ही क्षेत्र में दोनों अपना प्रभाव फैलाना चाहते थे। आस्ट्रिया की अपेक्षा सर्बिया यद्यपि छोटा राज्य था; लेकिन विशाल देश रूस उसकी पीठ पर था। सर्बिया को रूस से काफी-प्रोत्साहन मिलता था। ऐसी स्थिति में सर्बिया और आस्ट्रिया में तनाव तथा संघर्ष अनिवार्य हो गया। इससे बाल्कन-प्रायद्वीप में एक नयी समस्या उत्पन्न हो गयी। यहाँ यह बात विचारणीय है कि आस्ट्रिया और सर्बिया के बीच तनातनी ही प्रथम विश्व-युद्ध का सबसे प्रमुख तात्कालिक कारण थी और इस तनातनी का प्रारम्भ बर्लिन-समझौता की व्यवस्था के कारण ही हुआ था।

'प्रतिष्ठायुक्त शान्ति' :— हर दृष्टि से देखने से यही पता चलता है कि बर्लिन-सन्धि ने तुर्की-साम्राज्य तथा बाल्कन-प्रायद्वीप की समस्याओं की सुलझाने के बदले और उलझा दिया। बर्लिन-सम्मेलन से जब डिजरैली लौटा तो उसके स्वागत के लिए एक विशाल भीड़ इकट्ठी थी। उनको देखकर उसने कहा—"मैं आपके लिए प्रतिष्ठा के साथ शान्ति (peace with honour) लाया हूँ।" महारानी विक्टोरिया अपने प्रधानमंत्री की सफलता पर अत्यधिक खुश थी। उसने उसको 'ड्यूक' की उपाधि से विभूषित किया। बकिंघम-महल में, जहाँ उपाधि-वितरण का उत्सव हो रहा था, उसके पीछे एक विशिष्ट स्थान पर निम्नलिखित शब्द अंकित

थे—'प्रतिष्ठा के साथ शान्ति।' लेकिन 'प्रतिष्ठा के साथ शान्ति' का यह दावा बिल्कुल गलत था £ बर्लिन-सन्धि के कारण इस क्षेत्र की राजनीति का दिनोंदिन खराब होना इसका प्रमाण है। एक विद्वान का कहना है कि अच्छा होता कि 'प्रतिष्ठा के साथ शान्ति' कहने के बदले डिजरैली निम्नलिखित बातें कहता—"मैं साइप्रस के द्वीप, बाल्कन-प्रायद्वीप और तुर्की-साम्राज्य में रूसी महत्त्वाकांक्षा पर थोड़ी देर के लिए रुकावट डालकर शान्ति लिए लौटा हूँ।" वास्तव में बात यह थी कि बर्लिन की सन्धि ने बाल्कन-प्रायद्वीप की पेचीदी समस्या का कोई स्थायी समाधान नहीं दिया और उसपर हस्ताक्षर करनेवाले अधिकांश प्रतिनिधि जर्मनी की राजधानी से एक गहरी निराशा और अपमान की भावना लेकर लौटे, जिसको यूरोप की शान्ति के लिए अच्छा शकुन नहीं माना जा सकता था। बर्लिन की सन्धि की शर्तों को पूरा करना बड़ा कठिन सिद्ध हुआ और कुछ ही दिनों में स्पष्ट हो गया कि रूस और तुर्की दोनों इस समझौते को लागू करने के काम में रुकावट डालने को तैयार है।*

बर्लिन की सन्धि का प्रभाव : बर्लिन की सन्धि का प्रभाव इतना व्यापक था कि संसार के अन्य क्षेत्र भी इससे नहीं बच सके। इस सन्धि ने रूस की प्रसार नीति पर एक बहुत बड़ी रुकावट डाल दी। रूस ने अनुभव किया कि ब्रिटेन के कारण इस क्षेत्र में उसकी दाल नहीं गलने की है। अतः बर्लिन की सन्धि के बाद रूस अपना कूटनीतिक जाल इस क्षेत्र से समेटकर पूर्वी एशिया ले गया। इस समय तक चीन के शोषण का काम शुरू हो गया था। रूस भी इस अपवित्र कार्य में सम्मिलित हो गया। इस कारण वहाँ की राजनीति और भी पेचीदी हो गयी। इस समस्या पर हम पहले ही प्रकाश डाल चुके हैं। बर्लिन-सन्धि के करीब तीस साल बाद जापान से हारने के बाद रूस फिर बाल्कन-प्रायद्वीप की राजनीति में आ पहुँचा। इस बार उसकी महत्त्वाकांक्षा पर कोई अंकुश लगानेवाला नहीं था; क्योंकि ब्रिटेन के साथ 1907 में उसकी सन्धि हो चुकी थी। इस क्षेत्र की राजनीति में हस्तक्षेप करने के लिए रूस अब पूर्ण स्वतन्त्र था। इसका परिणाम हुआ कि बाल्कन की समस्या काफी खतरनाक हो गयी और यूरोपीय शान्ति का भविष्य खतरे में पड़ गया।†

बर्लिन-सम्मेलन में जर्मनी ने तुर्की-साम्राज्य के किसी क्षेत्र पर दावा नहीं किया। बिस्मार्क के अनुसार बाल्कन-प्रायद्वीप संसार का ऐसा क्षेत्र था जिसमें जर्मनी की कोई दिलचस्पी नहीं थी। तुर्की इसके लिए लिए जर्मनी का कृतज्ञ था। उसके

£ Grant and Temperley : *Europe in the Nineteenth and Twentieth Centuries*, p. 300.

* G. P. Gooch : *History of Modern Europe*, p. 1.

† Ketelbey : *History of Modern Times*, p, 313.

शासक सोचते थे कि सम्पूर्ण यूरोप में जर्मनी ही एक ऐसा देश निकला जिसने तुर्की के किसी प्रान्त पर दावा नहीं किया। जर्मनी के प्रति तुर्की में सद्भावना वढ़ने लगी। जर्मनी का यह एक अच्छा विनियोग हुआ। जब कैसर के हाथों में जर्मनी की विदेश-नीति के संचालन का काम आया तो तुर्की के साथ जर्मनी की दोस्ती वढ़ाना उसकी नीति का प्रमुख लक्ष्य हो गया। वर्लिन-सम्मेलन में उत्पन्न सद्भावना भविष्य के इस मेल-जोल का आधार बना। पीछे चलकर तुर्की और जर्मनी इतने वड़े दोस्त वन गये कि प्रथम विश्व-युद्ध के समय दोनों देशों ने कन्धे से कन्धा मिला कर दुश्मनों का सामना किया।

वर्लिन-सन्धि का प्रभाव सुदूर अफगानिस्तान की राजनीति पर भी पड़ा। अफगानिस्तान में रूस का प्रभाव वढ़ रहा था। उसका शासक शेर अली पूर्णतया रूस के प्रभाव में था। रूस के दूत अफगानिस्तान के अमीर को अँगरेजों के विरुद्ध वरावर भड़काया करते थे। वे उसको यह गलत आश्वासन दिया करते थे कि अगर ब्रिटिश-सरकार ने उसके राज्य पर हमला किया तो वे हर तरह से उसकी मदद करेंगे। इसी प्रोत्साहन के वल पर शेरअली अँगरेजों के प्रति कड़ा रुख अपना रहा था। उसको पूरा भरोसा हो गया था कि मौका आने पर रूस उसकी सहायता करेगा। अफगानिस्तान अँगरेजो के भारतीय साम्राज्य की सीमा पर पड़ता था। अंगरेज लोग कभी यह सहने को तैयार नहीं थे कि उनके साम्राज्य के सीमावर्ती देश में रूस का प्रभाव-क्षेत्र कायम हो जाय। अतः उन्होने अफगानिस्तान पर 1878 में चढ़ाई कर दी। यह द्वितीय अफगान-युद्ध था। शेर अली को विश्वास था कि रूसो दोस्त उसकी मदद करेंगे। लेकिन, उसे निराश होना पड़ा। यूरोप में वर्लिन की सन्धि हो चुकी थी, जिसके फलस्वरूप रूस तथा ब्रिटेन में समझौता हो चुका था। ऐसी स्थिति में रूस अफगानिस्तान की मदद नहीं कर सकता था। शेरअली अफगानिस्तान के गद्दी से उतार दिया गया और उसकी जगह पर एक ऐसे व्यक्ति को अफगानिस्तान का अमीर वनाया गया जो अँगरेजों के हाथ की कठपुतली था। शेर अली का पतन वर्लिन की सन्धि का एक परोक्ष परिणाम था।*

रूस का जर्मनी से दूर खिंच जाना अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के क्षेत्र में वर्लिन सम्मेलन का एक प्रमुख परिणाम हुआ।† विस्मार्क ने दावा किया कि सम्मेलन में उसने एक 'निष्पक्ष दलाल' का पार्ट अदा किया है। लेकिन, रूसवाले विस्मार्क की इस दलील से सहमत नही थे। उनका ख्याल था कि विस्मार्क ने भीतर-ही-भीतर

* Raichaudharv, Mazumdar & Datta : *An Advanced History of India*, p. 836.

† G P. Gooch : *History of Modern Europe*, p. 22

उनको धोखा दिया है। वास्तव में बिस्मार्क ने आस्ट्रिया को सम्मेलन में काफी मदद की थी। सम्मेलन में उसका बहुत समय आस्ट्रिया के विदेश-मन्त्री काउन्ट एनड्रेसी के साथ बीतता था। इसपर रूसी प्रतिनिधि को सन्देह होता था। पर, बिस्मार्क का अनुमान कुछ दूसरा था। वह एनड्रेसी को अपना व्यक्तिगत मित्र बना लेना चाहता था जिससे जर्मनी और आस्ट्रिया में सन्धि होने का मार्ग सुगम हो जाय। रूसी विदेश-मन्त्री गोरेचकोव को, जो बर्लिन-सम्मेलन में रूस का प्रतिनिधित्व करने आया था, विश्वास हो गया कि बिस्मार्क ने उसको धोखा दिया है। रूस लौटने पर उसने जार एलेकजेण्डर को बिस्मार्क की चालबाजियों से अवगत कराया। इसके बाद जार ने जर्मन-सम्राट् को एक पत्र लिखा जिसमें बिस्मार्क की नीति की कटु आलोचना की गयी थी। "जर्मन सौ वर्षों से चली आनेवाली मैत्री को जारी रखना चाहता है तो उसे अपने तरीके बदलने चाहिए।" यह जार की चेतावनी थी। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि बर्लिन-सम्मेलन में रूस-जर्मनी के खिंचाव तथा आस्ट्रिया-जर्मनी के मेलजोल की नींव पड़ी, जिसके कारण पीछे चलकर यूरोप दो गुटों में बँट गया।

(4) पूर्वीय समस्या की जटिलता में वृद्धि

बर्लिन-सन्धि की अन्त्येष्टि-क्रिया—बर्लिन की सन्धि के बाल्कन-प्रायद्वीप को यूरोपीय राजनीति का गर्म अखाड़ा बना दिया। यहाँ पर एक नहीं दर्जनों राष्ट्र के परस्पर हित टकराते थे और वे हित इतने मर्मस्पर्शी थे कि कोई भी राष्ट्र उनकी उपेक्षा करने को तैयार नहीं था। बर्लिन-सम्मेलन के बाद इस क्षेत्र में नयी-नयी समस्याएँ उत्पन्न होने लगीं जिसका समाधान असम्भव हो गया। तुर्की साम्राज्य के भग्नावशेष पर इस क्षेत्र में अनेक राज्य पैदा हो गये थे। बुल्गेरिया, रूमानिया, मान्टिनिग्रो, सर्बिया और यूनान स्वतन्त्र राज्य थे। रूमेलिया अभी तक एक अर्द्ध स्वतन्त्र राज्य था तथा बोस्निया और हर्जेगोविना आस्ट्रिया के अधीन थे। तुर्की-साम्राज्य के अन्तर्गत अब केवल मेसिडोनिया, रूमेलिया, आर्मेनिया तथा क्रीट के प्रदेश बच रहे थे। लेकिन, बाल्कन के नवस्वतन्त्र राज्य तुर्की के अधीन में इन प्रदेशों को भी नहीं रहने देना चाहते थे। बुल्गेरिया की आँखें रूमेलिया और मेसिडोनिया पर गड़ी हुई थीं। क्रीट और मेसिडोनिया के दक्षिणी भूभाग को यूनानी लोग हड़पना चाहते थे। उधर आर्मेनिया के लोग अपनी स्वतन्त्रता के लिए तड़प रहे थे। इसके अतिरिक्त, बुल्गेरिया, यूनान, सर्बिया तथा मान्टिनिग्रो एक दूसरे के मूल्य पर अपना राज्य-विस्तार करना चाहते थे। सबकी निगाहें मेसिडोनिया पर थीं और तुर्की की निर्बलता से लाभ उठाकर वे इसका आपस में बँटवारा कर लेने का षड्यन्त्र रच रहे थे।

इन सब बातों के अतिरिक्त इस क्षेत्र में यूरोप के महान् राष्ट्रों की आपसी प्रतिद्वन्द्विता समस्या को और जटिल बना रही थी। आस्ट्रिया वैसे मौके की ताक में था कि वह बोस्निया और हर्जेगोविना के प्रदेशों को विधिवत् अपने साम्राज्य में मिला ले। रूस अपने स्वजातीय स्लाव-लोगों को नहीं छोड़ सकता था। वह उनको अपनी संरक्षता में लाने पर कटिबद्ध था। फ्रांस और इटली इस ताक में थे कि उन्हें क्रमशः ट्यूनिस और ट्रिपोली पर आधिपत्य जमाने का मौका मिल जाय। ब्रिटेन 'मरीज तुर्की' को जीवित रखने का प्रयास कर रहा था। स्वयं तुर्की में सरगर्मी थी। तुर्की के देशभक्त अपने साम्राज्य के पतन से चिन्तित थे। सम्पूर्ण तुर्की लोकसत्तावाद की लहर में ओत-प्रोत हो रहा था। इस तरह सारा निकटपूर्व भयंकर रूप से उबल रहा था।

इन सब समस्याओं में बुल्गेरिया की समस्या सब से अधिक प्रचण्ड हो रही थी। बर्लिन की सन्धि द्वारा यह राज्य अभी पूर्ण स्वतंत्र नहीं हुआ था। नाममात्र के लिए तुर्की की प्रभुता अभी भी इसपर कायम था। लेकिन, बुल्गेरिया को अपनी पूर्ण स्वतंत्रता की कोई परवाह नहीं थी। उसको पूर्ण विश्वास था कि समयानुसार अन्ततः उसको पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त होगी ही। यह नवीन राष्ट्र अपनी प्रारम्भिक अवस्था से ही दूसरी चीजों के लिए उछल-कूद करने लगा। बुल्गेरिया की महत्त्वाकांक्षा थी कि वह बाल्कन प्रायद्वीप में फैले हुए समूचे बुलगर लोगों को संगठित करके एक झण्डे के नीचे एक विशाल बुल्गेरिया का संगठन करे। वे अनुभव करते थे कि बर्लिन-सम्मेलन में उनके साथ घोर अन्याय किया गया है। उन्होंने 'बुल्गेरिया बुलगर लोगों के लिए है' का आन्दोलन शुरू किया। वे रूमेलिया और मेसिडोनिया को मिलाकर 'वृहत् बुल्गेरिया' का निर्माण करना चाहते थे।

रूमेलिया की समस्या—बर्लिन-सन्धि के द्वारा रूमेलिया को बुल्गेरिया से अलग कर दिया गया था। लेकिन, रूमेलिया के अधिकांश लोग बुल्गेरिया के साथ सम्मिलित होना चाहते थे। 1885 में रूमेलिया के निवासियों ने विद्रोह कर दिया। और अपने ईसाई-गवर्नर को पदच्युत करके देश से बाहर निकाल दिया। बुल्गेरिया को अच्छा मौका मिल गया। वहाँ के राजा ने एक घोषणा करके रूमेलिया को अपने राज्य में सम्मिलित कर लिया। इस प्रदेश पर सर्बिया भी आँखें गड़ाये हुए था। जब उसने बुल्गेरिया को रूमेलिया को हड़पते देखा तो उसके विरुद्ध लड़ाई की घोषणा कर दी। किन्तु, युद्ध में सर्बिया बुरी तरह परास्त होने लगा। अन्त में आस्ट्रिया ने हस्तक्षेप करके सर्बिया की रक्षा की और किसी तरह युद्ध का अन्त हुआ।

बुल्गेरिया और रूमेलिया के संघ को अन्य यूरोपीय राज्यों ने उचित नहीं समझा। वे बर्लिन-सन्धि की शर्तों को इस तरह भंग होने देना नहीं चाहते थे।

उन्होंने हस्तक्षेप किया। पुनः एक अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन का आयोजन हुआ। सम्मेलन को कोई सफलता नहीं मिली और अन्ततोगत्वा उन्हें इस संघ को मान लेना पड़ा। इसके बाद से बुल्गेरिया का यह नवीन राज्य रूस के प्रभाव में आ गया। रूस की सेना बुल्गेरिया में रहती थी और रूस द्वारा मनोनीत व्यक्ति इस पर शासन करते थे।

आर्मेनिया का हत्याकाण्ड—रूमेलिया की समस्या के बाद निकटपूर्व में आर्मेनिया की समस्या आयी। आर्मेनिया के ईसाइयों को तुर्की-सरकार द्वारा तरह-तरह से सताया जाता था। बर्लिन की संधि द्वारा सुल्तान को वचनबद्ध कराया गया था कि वह आर्मेनिया में सुशासन स्थापित काने का प्रयत्न करे। लेकिन, यूरोप के ईसाई-राष्ट्रों के द्वारा आर्मेनिया के सम्बन्ध में यह नवीन सद्भावना उसके लिए वरदान बनने के बदले एक अभिशाप सिद्ध हुआ। इसका परिणाम हुआ कि तुर्की के सुल्तान का आर्मेनिया के इसाईयों पर विश्वास नहीं रहा। एक तुर्की-मंत्री ने तो बड़ी निर्ममता के साथ यहाँ तक भी कह दिया कि आर्मेनिया के प्रश्न को समाप्त करने के लिए एक ही अच्छा मार्ग है कि आर्मेनिया के लोगों को ही समाप्त कर दिया जाय।

बर्लिन की सन्धि के बाद से आर्मेनिया में राष्ट्रीय आन्दोलन प्रबल रूप धारण कर रहा था। 1880 में जार्जिया की राजधानी टिफलिस में, जहाँ बहुत अधिक संख्या में आर्मेनियन लोग रहते थे, एक आर्मेनियन-समिति बनायी गयी। एक साल के अन्दर इसकी अनेक शाखाएँ यूरोप के कोने-कोने में स्थापित हो गयीं। 1890 में लंदन में एक 'आर्मेनिया-सभा' की स्थापना हुई। आर्मेनियन लोगों में हिंसात्मक आन्दोलन जोर पकड़ने लगा। इस आन्दोलन के साथ कुछ विदेशी सरकारों की सहानुभूति भी थी। सुल्तान इसको देखकर पागल हो रहा था। अभी उसके लिए वे कारनामे भूले नहीं थे, जिनके द्वारा उसका विशाल साम्राज्य सिकुड़कर आधा से भी कम हो गया था। वह आर्मेनिया में पतन के उस इतिहास की पुनरावृति होने देना नहीं चाहता था। वह ऐसे मौके की ताक में था कि आर्मेनिया के इसाईयों को उनकी धृष्टता के लिए सबक सिखाया जाय।

1884 में पहले-पहल इसका ऐसा मौका मिला। ससून जिले के गाँववालों ने कुछ अनियमित कर देने से इन्कार कर दिया। तुर्की अधिकारियों ने कर वसूल करने के लिए सैनिक भेजे। पर किसान कर देने को तैयार नहीं हुए। उनपर राजद्रोह का अभियोग लगाकर नियमित सेना की एक टुकड़ी ससून-क्षेत्र में भेजी गयी और अभागे ग्रामीणों को मौत के घाट उतारने का काम शुरू हुआ। पूरे के पूरे गाँव जला दिये गये तथा पुरुष, स्त्री और बच्चे बड़ी बर्बरता के साथ मार डाले गये। जब इस दुर्घटना का समाचार यूरोप पहुँचा तो वहाँ काफी खलबली मची।

ब्रिटेन ने जोरदार विरोध प्रकट किया और लार्ड रोजबरी ने जाँच की माँग की। सुल्तान ने एक दिखावट जाँच-आयोग की नियुक्ति की। इस आयोग ने हत्याकाण्ड के सभी दोष आर्मेनियनों पर ही जड़ दिया। इस तरह के हत्याकाण्ड साम्राज्य के अन्य भागों में भी हुए। कुल मिलाकर एक साल के अन्दर करीब 50,000 आर्मेनियन मौत के घाट उतार दिये गये।

इन हत्याकाण्डों से आर्मेनिया के देशभक्त डरनेवाले नहीं थे। उन्होंने कान्स्टेन्टिनोप्ल में स्थित दूतावासों को चेतावनी दी कि जब तक हत्याएँ रोक नहीं दी जातीं और सुधारों का आरम्भ नहीं कर दिया जाता, वे उपद्रव करते रहेंगे। 26 अगस्त, 1896 को आर्मेनियन लोगों ने कान्स्टेन्टिनोप्ल में ही विद्रोह कर दिया। उस दिन उनके एक गिरोह ने गलाटा में स्थित एक तुर्की बैंक पर अधिकार कर लिया। इस घटना के सम्बन्ध में सरकार को पहले से ही सूचना पहुँच चुकी थी और वह दमन के लिए तैयार बैठी थी। बैंक पर आक्रमण होते ही तुर्की-सेना ने अपना काम शुरू कर दिया। चौबीस घंटों के अन्दर राजधानी में 6000 आर्मेनियन ईसाई मौत के घाट उतार दिये गये। दो दिनों तक राजधानी में रक्त की नदी बहती रही।

इस भयंकर हत्याकाण्ड से यूरोप उत्तेजित हो उठा। कवि विलियम वाटसन ने ईश्वर से अनन्तकाल के लिए तुर्की-साम्राज्य के विनाश की प्रार्थना की और ग्लैडस्टोन ने लिवरपूल में भाषण देते हुए तुर्की-सुल्तान को 'महान् हत्यारा' कहा। 87 वर्ष के इस बूढ़े ब्रिटिश-नेता ने जोर दिया कि कान्स्टेन्टिनोप्ल से ब्रिटिश राजदूत को वापस बुला लिया जाय और लन्दन से तुर्की-राजदूत को निकाल दिया जाय। जब यह सारा काण्ड हो चुका था कान्स्टेन्टिनोप्ल में स्थित छह देशों के राजदूतों ने सुल्तान के सामने एक संयुक्त पत्र पेश किया जिसमें हत्याकाण्ड की जाँच-पड़ताल और अपराधियों को सजा देने की मांग की गयी थी। लेकिन, यूरोप के राज्य इस प्रश्न पर एक विचार के नहीं थे। रूस इस समय अपनी सम्पूर्ण कूटनीति को सुदूरपूर्व एशिया में केन्द्रित कर रहा था। उसको आर्मेनिया के ईसाइयों के लिए कोई फिक्र न थी। इस समय तक जर्मनी की नीति में भी परिवर्तन हो चुका था। जर्मनी की नीति निर्धारण का काम कैसर के हाथों में आ गया था और कैसर तुर्की के सुल्तान की मित्रता का इच्छुक था। वह कोई वैसा कदम नहीं उठाना चाहता था जिससे सुल्तान नाराज हो जाय। आस्ट्रिया ने जर्मनी की नीति का ही अनुसरण किया। फ्रांस ने भी इस प्रश्न पर ब्रिटेन का साथ नहीं दिया; क्योंकि उस समय मिस्र के प्रश्न को लेकर दोनों देशों का परस्पर सम्बन्ध अच्छा नहीं था। अकेले ब्रिटेन कुछ नहीं कर सकता था। सौल्सबरी तुर्की के अत्याचारों को ग्लैस्टोन से कम घृणा की दृष्टि से नहीं देखता था। परन्तु इस भय से कि कहीं उसके हस्तक्षेप से

यूरोपीय युद्ध छिड़ जाय वह आर्मेनिया का पक्ष लेकर कोई सैनिक हस्तक्षेप नहीं करना चाहता था।

इस तरह अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिस्पर्धा की वेदी पर आर्मेनिया के ईसाइयों का बलिदान कर दिया गया। लेकिन, इसके साथ ही ब्रिटेन के शासकों को यह पता भी लग गया कि रूस के विरुद्ध तुर्की का साथ देने में ब्रिटेन ने "एक गलत दाव लगाया था।"* ब्रिटेन ने तुर्की को इस आधार पर सहारा दिया कि वह अपने को सुधार लेगा। लेकिन, यह धारणा गलत सिद्ध हुई। ब्रिटेन के विरोध से सुल्तान काफी क्रोधित हुआ और इसके फलस्वरूप कान्स्टेन्टिनोप्ल से उसका रहा-सहा प्रभाव जाता रहा। ब्रिटेन न तो आर्मेनिया के ईसाइयों को ही बचा सका और न सुल्तान पर अपना प्रभाव ही कायम रख सका। सुल्तान को ब्रिटेन की सहानुभूति गँवाने की परवाह भी नहीं थी; क्योंकि कैसर के नेतृत्व में शक्तिशाली जर्मनी उसका अब मित्र था। यूरोपीय राज्यों के बीच प्रतिस्पर्धा से सुल्तान को यह भी पता लग गया कि वह अपने घर में जो चाहे कर सकता है। अतः जब 1904 और 1905 में अर्मेनियन लोगों ने फिर विद्रोह किया तो तुर्की सरकार ने उसको पुनः उसी पाशविकता के साथ कुचल दिया।

वृहत-यूनान-आन्दोलन—1829 में यूनान ने एक स्वतन्त्र राष्ट्र के रूप में यूरोप के इतिहास में प्रवेश किया था। इसके पहले वह तुर्की साम्राज्य का एक अंग था। लेकिन, यूनानी लोग अपने राष्ट्र के निर्माण हो जाने से ही सन्तुष्ट नहीं थे। विशाल तुर्की-साम्राज्य में अभी 50 लाख से अधिक यूनानी निवास करते थे। वे क्रीट, थेसली, मेसिडोनिया और एपिरस में फैले हुए थे। यूनान की अभिलाषा थी कि वह अपने स्वजातीय लोगों द्वारा आवाद इन प्रदेशों को तुर्की की अधीनता से मुक्त कराके अपने साथ सम्मिलित कर ले। इसके लिए यूनान में प्रबल आन्दोलन चल रहा था। यूनान ने इन प्रदेशों को जीतने के लिए अनेक प्रयास किये लेकिन, वे सब-के-सब बेकार साबित हुए। बर्लिन-सम्मेलन में यूनान ने थेसली और एपिरस पर दावा किया। पर डिजरेली ने यह कहकर कि यूनान एक महान् देश है और अपनी अभिलाषाओं को पूर्ण करने के लिए ठहर सकता है, उसके दावे टाल दिये। अन्त में 1881 में ग्लैडस्टोन की कृपा से यूनान को थेसली और एपिरस के प्रदेश मिल गये। यूनान इससे भी सन्तुष्ट नहीं हुआ। क्रीट में बसे हुए यूनानी बन्धु-बान्धव उसे पुकार रहे थे। उस प्रदेश को तुर्की के चंगुल से मुक्त करना यूनान अपना पुनीत कर्तव्य मानता था।

क्रीट के निवासी भी यूनान के साथ मिलने के लिए जी-तोड़ परिश्रम कर रहे थे। 1830 से 1910 तक उन्होंने तुर्की के विरुद्ध कम से कम चौदह विद्रोह किये।

* G. P. Gooch : *History of Modern Europe*, p. 142.

1896 में क्रीट में एक बहुत बड़ा विद्रोह हुआ। विद्रोहियों ने क्रीट को स्वतन्त्र घोषित कर दिया और यूनान के साथ सम्मिलित हो गये। यूनानी सरकार ने इस संघ का मान लिया और क्रीट-निवासियों की मदद के लिए एक विशाल सेना क्रीट के लिए रवाना कर दी। इसपर तुर्की ने 1897 में यूनान पर युद्ध की घोषणा कर दी। यूनान और तुर्की में करीब एक महीने तक युद्ध चलता रहा। लेकिन, इस युद्ध में यूनान हार गया। उसका सर्वनाश होने ही वाला था। पर महान् राष्ट्रों ने हस्तक्षेप करके यूनान को बचा लिया।

क्रीट के भविष्य का निर्णय करने के लिए यूरोपीय राष्ट्रों का एक सम्मेलन बैठा। इन लोगों का निर्णय हुआ कि क्रीट को ब्रिटेन, रूस, इटली और फ्रांस के एक संयुक्त आयोग की देखरेख में रख दिया जाय। यूनान के राजा इसका राज्य-प्रधान नियुक्त किया गया। यह भी तय किया गया कि तुर्की और यूनान दोनों अपनी-अपनी सेनाएँ क्रीट से वापस बुला लें। क्रीट अब स्वतन्त्र था, यद्यपि अभी नाममात्र के लिए वह तुर्की-साम्राज्य के अन्तर्गत ही रहा।

क्रीट के निवासी इस व्यवस्था से पूर्णतया सन्तुष्ट नहीं थे। वे यूनान के साथ मिलना चाहते थे। तुर्की का नाममात्र का आधिपत्य भी उन्हें सह्य नहीं था। इसलिए क्रीटवासियों ने 1905-1906 में फिर विद्रोह कर दिया। क्रीट स्वाधीनता संग्राम का प्रधान नेता वेनिजेलोस था। 1908 में उसके नेतृत्व में जो विद्रोह हुआ उसके फलस्वरूप क्रीट का स्वाधीनता-संग्राम एक कदम और आगे बढ़ गया। लेकिन यूरोपीय राज्यों के हस्तक्षेप से अभी क्रीट पर तुर्की की छाया कायम रही। 1912 में प्रथम बाल्कन-युद्ध छिड़ा। इस युद्ध से लाभ उठाकर 1913 में क्रीट सदा के लिए यूनान के साथ सम्मिलित हो गया। केवल क्रीट के हाथ में आ जाने से यूनान की महत्त्वाकांक्षा पूरी नहीं हुई। अभी मैसिडोनिया में उसके स्वजातीय निवास करते थे जो तुर्की के अन्दर था। उनको मुक्त करना भी यूनान अपना कर्तव्य मानता था।

तरुण-तुर्क क्रान्ति*— तुर्की साम्राज्य को पतन से बचाना बर्लिन-सन्धि का एक प्रमुख उद्देश्य था। सन स्टीफानो की सन्धि के फलस्वरूप तुर्की-साम्राज्य का विनाश निश्चित हो गया था। बर्लिन की सन्धि ने इस क्रम को कुछ देर के लिए रोक दिया। फिर भी तुर्की-साम्राज्य की हालत दिनोदिन खराब होती गयी। तुर्की लोग अपने राज्य की दुर्गति देखकर चिन्तित हो रहे थे। उन्नीसवी शताब्दी में यूरोप में उदार लोकसत्तावाद की जो लहर चल रही थी उसका प्रभाव धीरे-धीरे तुर्की पर भी पड़ रहा था। वे समझने लगे कि जब तक तुर्की की व्यवस्था में आमूल परिवर्तन नहीं कर दिया जाता तब तक उसका कल्याण होना असम्भव है।

---

* Young Turks Revolution.

तुर्की को भी अन्य यूरोपीय राज्यों के समान बदलना चाहिए। यह भाव वहाँ निरन्तर
प्रबल होती जा रही थी। इन भावनाओं से प्रेरित होकर तुर्की में राजनीतिक दलों
का संगठन होने लगा। 1876 में तुर्की में दो राजनीतिक क्रान्तियाँ हुईं। एक
वर्ष के भीतर दो सुल्तानों को सिंहासनच्युत किया गया। इस वर्ष अब्दुल हमीद
तुर्की का सुल्तान बना। क्रान्तिकारियों के नेता मिधत पाशा ने उसको वैधानिक
शासन-विधान निर्माण करने पर बाध्य किया और संसद् की सहायता से तुर्की की
शासन-व्यवस्था चलने लगी।

अब्दुल हमीद निरंकुश शासन की परम्परा में पला था। वह शासन में
किसी प्रकार के नियन्त्रण से सन्तुष्ट नहीं था। वह 1876 के विधान को नष्ट करने
का प्रयत्न करने लगा और अवसर प्राप्त करके पुनः उसने अपना निरंकुश शासन
आरम्भ किया। तरुण-तुर्की-दल के क्रान्तिकारियों को देश छोड़ कर भाग जाना
पड़ा। लेकिन अब्दुल हमीद क्रान्ति के वेग को नहीं रोक सकता था। 1891 में तुर्की
के निर्वासित देशभक्तों ने पेरिस में 'संगठन और प्रगति' नामक एक राजनीतिक दल
का संगठन किया। इसके अधिकांश सदस्य 'तरुण-तुर्क' दल के लोग थे। 1906 में
समिति का प्रधान कार्यालय सेलोनिका चला गया। 1908 में इन लोगों ने अब्दुल
हमीद के निरंकुश शासन के खिलाफ विद्रोह कर दिया। यह क्रान्ति 'तरुण-तुर्क-
क्रान्ति' के नाम से प्रसिद्ध है। अब्दुल हमीद इस क्रान्ति का मुकाबला करने में
असमर्थ था; क्योंकि सेना भी क्रान्तिकारियों से मिल गयी थी। अतः उसने
क्रान्तिकारियों की सभी शर्तों को मान ली। 1876 के शासन-विधान को पुनः
प्रतिष्ठित किया गया। तरुण-तुर्क-क्रान्ति पूर्णतया सफल रही।

जिस प्रकार 1876 में अब्दुल हमीद को वैध राजसत्तावाद में विश्वास नहीं था
उसी प्रकार 1908 में भी वह नयी परिस्थिति को मानने के लिए तैयार नहीं था।
अवसर प्राप्त होते ही उसने पुनः अपनी स्वेच्छाचारिता का प्रदर्शन आरम्भ किया।
लेकिन, इस बार उसकी एक न चल सकी। उसे सिंहासनच्युत कर दिया गया
और पंचम मुहम्मद तुर्की को नया सुल्तान बनाया गया। 'तरुण-तुर्क-दल' के हाथ
में शासन की बागडोर आ गयी। तुर्क-लोग समझने लगे कि उनके साम्राज्य में
एक नये युग का उदय हुआ है। नयी सरकार से उन्हें बड़ी-बड़ी आशाएँ थीं।
साम्राज्य की गैर-तुर्की प्रजाओं में भी एक नयी आशा का संचार हुआ। तुर्की के नये
कर्णधार उदार विचार के व्यक्ति थे। क्या वे उनकी राष्ट्रीय भावनाओं का आदर
करते हुए उन्हें स्वाधीन नहीं कर देंगे? लेकिन, उनकी यह आशा पूरी नहीं हो सकी।
'तरुण तुर्क दल' के लोग यूरोप के अन्य साम्राज्यवादी देशों की उदार विचारधारा
के व्यक्तियों की तरह संकुचित राष्ट्रीयता में विश्वास करते थे। उनकी राष्ट्रीयता
में गैर-तुर्की जातियों के उत्कर्ष का कोई स्थान नहीं था। वे अपने राज्य को पुनर्स'-

गठित करके साम्राज्य को पतन से बचाना चाहते थे। इसके लिए उन्होंने अनेक प्रयास किये। शासन-व्यवस्था, सेना, आर्थिक व्यवस्था, कानूनी-पद्धति इत्यादि में तरह-तरह के सुधार किये गये। तुर्की की स्थिति कुछ सुधरने लगी। रोगी कुछ चंगा होने लगा। लेकिन, रोगी को चंगा करने का यह प्रयास विफल रहा। तुर्की की अवनति इतनी हो चुकी थी कि 'तरुण-तुर्क' के लोग चाहते हुए भी उसको पूर्ण रूप से नहीं सुधार सकते थे। तुर्की के रोग की कोई चिकित्सा नहीं थी। उधर 'तरुण-तुर्क-दल' की संकीर्ण राष्ट्रीयता से तंग आकर साम्राज्य की गैर-तुर्की प्रजा विद्रोह करने लगी। सबसे पहले मेसिडोनिया में विद्रोह शुरू हुआ। अवसर पाकर बुल्गेरिया ने अपनी पूर्ण स्वाधीनता की घोषणा कर दी। 1910 में अल्बेनिया तथा आर्मेनिया में भयंकर रूप से विद्रोहाग्नि प्रचण्ड हो उठी। इस विद्रोहाग्नि को शान्त करने के लिए 'तरुण तुर्क' दल के नेताओं ने अब्दुल हमीद के दमनकारी उपायों का उपयोग किया। विद्रोहियों को कुचलने के लिए भयंकर अत्याचार किये गये। उधर आस्ट्रिया में तुर्की को चंगा करने के प्रयास को देखकर बेचैनी फैल गयी। अगर तुर्की सुधारों के फलस्वरूप एक शक्तिशाली राज्य बन जाता है तो आस्ट्रिया के लिए बोस्निया-हर्जेगोविना पर आधिपत्य स्थापित करना असम्भव हो जायेगा। अतः आस्ट्रिया ने शीघ्र इन प्रदेशों को आस्ट्रिया साम्राज्य में सम्मिलित कर लेने का निर्णय किया। अक्टूबर, 1908 में इन प्रदेशों को आस्ट्रिया साम्राज्य में मिला लिया गया। बोस्निया-हर्जेगोविना का अनुबन्धन 'तरुण तुर्क' क्रान्ति का एक प्रमुख परिणाम था।

तुर्की और जर्मनी की मित्रता :—तुर्की तथा जर्मनी के बीच मित्रता की शुरुआत बर्लिन-सन्धि का एकमात्र ऐसा परिणाम था जो प्रथम विश्व-युद्ध के अन्त-अन्त तक कायम रहा। अभी तक तुर्की का रक्षक और सहायक ब्रिटेन था। लेकिन, बर्लिन-सन्धि के समय से यह रक्षक भक्षक हो गया। साइप्रस के छीने जाने से तुर्की के शासक ब्रिटेन से काफी असन्तुष्ट थे। 1882 में ब्रिटेन ने मिस्र पर भी कब्जा कर लिया। अर्मेनिया के हत्याकांड का विरोध जितना ब्रिटेन में हुआ था उतना किसी अन्य देश में नहीं। इस सब कारणों से तुर्की ब्रिटेन से काफी क्षुब्ध था। ब्रिटेन का प्रभाव तुर्की से उठ गया। कान्स्टेन्टिनोपुल में एक महत्त्वपूर्ण स्थान खाली पड़ गया और जर्मनी इस रिक्त स्थान को भरने के लिए दौड़ पड़ा। कैसर इस स्वर्ण अवसर को छोड़नेवाला नहीं था। बर्लिन-सम्मेलन में जर्मनी ने तुर्की के किसी भू-भाग पर दावा नहीं किया था। इसके लिए तुर्की जर्मनी का आभारी था। 1889 में कैसर सर्वप्रथम तुर्की में एक राजकीय यात्रा पर गया। वहाँ उसका अपूर्व स्वागत हुआ। कैसर ने तुर्की को हर तरह से मदद करने का वादा किया। तुर्की की सबसे बड़ी आवश्यकता सेना का पुनर्संगठन करना था। जर्मनी के सैनिक अफसर तुर्की आये और उसके सैन्य संगठन को आधुनिक यूरोपीय ढंग पर संगठित करने

लगे। तुर्की में जर्मनी के प्रभाव का विस्तार होने लगा। सेना-सुधार के बाद आर्थिक व्यवस्था की बारी आयी। आर्थिक क्षेत्र में जर्मनी तुर्की के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित करना चाहता था। तुर्की को आर्थिक सहायता की आवश्यकता थी। जर्मनी के पास पूँजी की कोई कमी नहीं थी। जर्मनी के पूँजीपति तुर्की में पूँजी लगाने के लिए तैयार थे। बर्लिन बैंक की एक शाखा कान्स्टेन्टिनोप्ल में स्थापित की गयी। आर्थिक सहायता के बाद रेल की लाइन बनाने का काम शुरू हुआ। जर्मन के इन्जीनियर तुर्की में काम करने को उद्यत थे। तुर्की में पहले से ब्रिटेन और फ्रांस के पूँजीपति रेलवे-निर्माण का काम कर रहे थे। जमनी उनका एक नया प्रतिद्वन्द्वी खड़ा हुआ। जमनी के पूँजीपति भी तुर्की में रेल की लाइनों का निर्माण करने लगे।

रेलवे-लाइनों के निर्माण में बर्लिन-बगदाद-रेलवे की योजना सबसे महत्त्वपूर्ण थी। 1903 में तुर्की-सुल्तान ने जर्मन-पूँजीपतियों को यह लाइन बनाने की अनुमति दे दी। जर्मन-सरकार के सम्मुख यह कल्पना थी कि यदि कान्स्टेन्टिनोप्ल और बगदाद के बीच रेलवे लाइन का निर्माण जर्मन-पूँजी के द्वारा हो जाय तो बर्लिन से बगदाद तक का रेल-मार्ग जर्मनी के प्रभाव में आ जायेगा। इससे एशिया पहुँचने के लिए जर्मनी को एक ऐसा मार्ग प्राप्त हो जायेगा जो पूर्णतया जर्मन-अधिकार में होगा। वास्तव में यह एक विशाल योजना थी और इसके कार्यान्वित होने से विश्व-राजनीति में एक क्रान्ति का हो जाना अवश्यम्भावी था। पर यह बात ब्रिटेन को किसी भी दशा में सह्य नहीं थी। जमनी व्यावसायिक और सैनिक दृष्टि से उन्नति कर रहा था। अब वह एशिया पहुँचने के लिए अपना एक पृथक् सुरक्षित मार्ग का निर्माण करनेवाला था। ब्रिटेन के लिए इसका विरोध करना आवश्यक हो गया। उसके भारतीय साम्राज्य के लिए एक बहुत बड़े खतरे की बात थी। बर्लिन-बगदाद-रेलवे के द्वारा जर्मनी सीधे भारत के दरवाजे पर पहुँच रहा था। अतः ब्रिटेन ने इस योजना का जबर्दस्त विरोध किया। फलतः बर्लिन-बगदाद-रेलवे की योजना कार्यान्वित नहीं हो सकी। लेकिन, जर्मनी के लोग इस बात को भूले नहीं। ब्रिटेन ने एकबार फिर जर्मनी की महत्त्वाकांक्षा पर रोक लगा दिया। उधर नाविक प्रतिस्पर्धा के कारण दोनों देशों का सम्बन्ध खराब हो रहा था। इस विरोध ने आग में घी का काम किया। आंग्ल जर्मन सम्बन्ध धीरे धीरे खराब होने लगा। जर्मनी पहले ही एक बहुत बड़े त्रिगुट की स्थापना कर चुका था। ब्रिटेन के लोग जर्मनी की महत्त्वाकांक्षा से काफी भयभीत हो गये। बर्लिन-बगदाद-रेलवे की योजना ने ब्रिटेन को पृथकता की नीति परित्याग करने को बाध्य किया। ब्रिटेन ने भी एक दूसरे विरोधी गुट का निर्माण किया और यूरोप दो शक्तिशाली गुटों में विभक्त हो गया।

———

अध्याय चौदह

बोस्निया का संकट

(The Bosnian Crisis)

'यह घृणित निकटपूर्व की समस्या,' एक रूसी राजनेता ने कहा था 'गठिया के रोग की तरह है। यह कभी घुटने को कष्ट पहुँचाता है तो कभी हाथों को पीड़ा देता है। यह सौभाग्य है कि वह उसके उदर को नहीं पकड़ता।' निकटपूर्व की समस्या की जटिलता को देखकर रूसी राजनेता का यह कथन अक्षरशः सत्य है। बर्लिन-सन्धि के बाद शायद ही कोई ऐसा वर्ष रहा हो जब इस क्षेत्र में कोई भयानक घटना नहीं घटी हो। रूमेलिया की समस्या, आर्मेनिया का हत्याकाण्ड, 'विशाल यूनान' आन्दोलन, अखिल स्लाव-आन्दोलन, आस्ट्रिया की 'पूर्व की ओर धक्का दो' की उग्र नीति इत्यादि घटनाएँ इस क्षेत्र को अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का गर्म अखाड़ा बना रही थीं। कहा नहीं जा सकता था कि कब इन घटनाओं के फलस्वरूप यूरोप में भयानक तूफान उठ खड़ा होगा। लेकिन, अभी तक जो कुछ इस क्षेत्र में हुए थे वे भविष्य में होनेवाली घटनाओं से बहुत कम विकराल और भयानक थे। वास्तव में तुर्की साम्राज्य और बाल्कन प्रायद्वीप की राजनीति एक तुरत प्रज्ज्वलित हो उठनेवाली ज्वालामुखी के शिखर पर स्थित थी। इस ज्वालामुखी का कब धड़ाके के साथ विस्फोट हो जायगा, यह कहना कुछ कठिन था।

आस्ट्रिया और सर्बिया का संबध : ऊपर कहा जा चुका है कि बोस्निया-हर्जेगोविना का अनुबधन 'तरुण तुर्क' क्रांति का एक मुख्य परिणाम था। 7 अक्टूबर, 1908 के दिन आस्ट्रिया ने विधिवत् इन दो प्रदेशों को अपने साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया। आस्ट्रिया के शासकों ने अनुभव किया कि यदि सुधारों के फलस्वरूप तुर्की एक शक्तिशाली राज्य बन गया तो उनकी महत्त्वाकांक्षा की पूर्ति नहीं हो सकेगी। अतः रोगी के चंगा होने के पूर्व ही काम तमाम कर दिया जाय।* लेकिन, तुर्की के चंगा होने से बढ़कर एक दूसरा कारण भी था जिसने आस्ट्रिया को ऐसा कदम उठाने के लिए बाध्य किया। वह था आस्ट्रिया और सर्बिया के बीच वैर-विरोध जो बीसवीं शताब्दी की प्रथम दशाब्दी में अपनी चरम सीमा पर पहुँच चुका था।

पूर्व में साम्राज्यवादी विस्तार आस्ट्रिया की विदेश-नीति का मुख्य आधार था। इसके अनेक कारण थे। आर्थिक दृष्टिकोण से आस्ट्रिया के लिए आवश्यक

---

* Branderdurg : *From Bismarck to the Great War*, p 235.

था कि उसके साम्राज्य के भूभाग समुद्र-तट के साथ मिले-जुले हों। लेकिन, एड्रियाटिक सागर का तट अत्यन्त छोटा था और इसपर इटली और सर्विया की आँखें गड़ी हुई थीं। ये दोनों देश एड्रियाटिक सागर के तट पर अपना-अपना अधिकार जमाना चाहते थे। आस्ट्रिया को इस बात की बड़ी चिन्ता थी। छोटा-सा सर्विया इसके लिए काफी उछल-कूद मचा रहा था। आस्ट्रिया इस बात को सहने के लिए तैयार नहीं था।

सर्विया और आस्ट्रिया के बीच में कई और कारणों को लेकर मनमुटाव बढ़ रहा था। पन्द्रहवीं शताब्दी में सर्विया एक विशाल साम्राज्य था। पर कुछ दिनों बाद उसको बुरे दिन भी देखने पड़े। प्राचीन सर्विया-साम्राज्य पीछे चलकर टुकड़े-टुकड़े में विभक्त हो गया। 1689 में इसी प्राचीन साम्राज्य के भग्नावशेष पर विशाल तुर्की-साम्राज्य का महल खड़ा हुआ। उसके बाद लगभग चार शताब्दियों तक सर्व लोग तुर्की के गुलाम बने रहे। बाल्कन-प्रायद्वीप के भिन्न-भिन्न भागों में वे फैले हुए थे और तुर्की का अत्याचार उनपर बड़ी बेरहमी के साथ होता था। सर्व-लोग बड़ी बुरी हालत में रहते थे। उनको इस हालत से पहले-पहल आस्ट्रिया ने ही छुटकारा दिलायी। 1717 में आस्ट्रिया ने तुर्की पर चढ़ाई करके बेलग्रेड को मुक्ति दिलायी थी। इसके बाद जब आस्ट्रिया की सेना बेलग्रेड से लौटने लगी तो बहुत से सर्व तुर्की की यातनाओं से त्राण पाने के लिए उसी सेना के पीछे-पीछे भाग खड़े हुए और आस्ट्रिया साम्राज्य के अन्दर आकर बस गये। लेकिन, इससे उनके दुःखों का अन्त नहीं हुआ। यह घटना एक आपत्ति से बचकर दूसरी आपत्ति में पड़ने की कहानी साबित हुई। आस्ट्रिया के शासक और सामन्त भी उन्हें सताने लगे। उनके शोषण से तंग आकर वे आस्ट्रिया से भी भाग खड़े हुए।*

फ्रांस की क्रांति से प्रभावित होकर सर्व-लोग अपनी राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के लिए आन्दोलन करने लगे। लेकिन, यह उनका दुर्भाग्य था कि सर्विया के देशभक्तों में मतैक्य नहीं था। उनमें आपसी मतभेद थे और वे दो दलों में बँटे हुए थे। उन्नीसवीं शताब्दी में आस्ट्रिया और सर्विया का परस्पर सम्बन्ध कोई बुरा नहीं था। क्रीमिया-युद्ध के बाद सर्विया नाममात्र के लिए स्वतन्त्र हो गया था और उस समय दोनों देशों के बीच मित्रता की प्रबल भावना थी। बर्लिन-सन्धि द्वारा आस्ट्रिया को बोस्निया और हर्जेगोविना के प्रदेश प्राप्त हुए। इन प्रदेशों के अधिकांश निवासी सर्व-जाति के लोग थे। सर्विया नहीं चाहता था कि ये दोनों प्रदेश आस्ट्रिया को प्राप्त हों। पर, आस्ट्रिया की मदद से सर्विया

* Fay : *Origins of the World War*, p. 355.

को भी बर्लिन-सम्मेलन द्वारा कुछ प्रान्त मिल गये। अतः सर्विया ने कोई विशेष विरोध नहीं किया। 1881 में आस्ट्रिया और सर्विया के बीच एक सन्धि हुई। इस सन्धि द्वारा दोनों देशों के बीच एक व्यापारिक समझौता हुआ। इसके अनुसार एक ने दूसरे को अपने-अपने देश में व्यापारिक सुविधाएँ प्रदान कीं। सर्विया से आस्ट्रिया में सुअर के निर्यात की विशेष सुविधा दी गयी। 1885 में जब बुल्गेरिया की सेना सर्विया का सर्वनाश करने पर तुली हुई थी तो आस्ट्रिया ने हस्तक्षेप करके सर्विया को बचाया था। इसके अतिरिक्त सर्विया का राजा अलेक-जेंडर आस्ट्रिया के सम्राट् फ्रांसिस जोसेफ का परम मित्र था। सर्विया के देश-भक्तों की भावनाओं की जरा भी परवाह न कर वह पूर्णतया आस्ट्रिया का पक्ष-पाती था।*

1903 में सर्विया की सेना के कुछ अफसरों ने बड़ी क्रूरता से अलेकजेंडर की हत्या कर दी। सर्विया में उग्र राष्ट्रीयता का प्रभाव बढ़ रहा था। सर्वियन देशभक्त समझते थे कि आस्ट्रिया उनके विकास का सबसे बड़ा विरोधी है। अतः वे आस्ट्रिया से ताकत अजमा कर फैसला कर लेना चाहते थे। अलेक्जेंडर की हत्या के बाद पीटर प्रथम सर्विया का राजा हुआ। इसके शासन-काल के प्रारम्भ से आस्ट्रिया और सर्विया का परस्पर सम्बन्ध बिगड़ने लगा।

पीटर के शासन-काल में सर्विया के राष्ट्रीय जीवन में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन आने लगे। पीटर सर्व-लोगों की राष्ट्रीय भावनाओं के साथ सहानुभूति रखता था और इसलिए उसका झुकाव आस्ट्रिया की ओर न होकर रूस की ओर था। सर्व-जाति द्वारा आबाद अनेक प्रदेश उस समय आस्ट्रिया के अधीन थे। अतः सर्व-लोगों में यह आन्दोलन चल रहा था कि उन प्रदेशों को आस्ट्रिया की अधीनता से मुक्त कर एक विशाल एवं शक्तिशाली सर्व-राज्य की स्थापना की जाय। उनको इस बात की पूरी आशा थी कि उनका नया राजा उनके लिए इस दिशा में पथ-प्रदर्शक का काम करेगा। पीटर पहले भी सर्व-जाति की स्वतंत्रता के लिए लड़ चुका था। इसके लिए वह देश से निकाल दिया गया था। रूस ने उसको शरण दी थी। अतः स्वाभाविक रूप से पीटर रूस का कृतज्ञ था और समझता था कि स्वजातीय होने के नाते रूस सर्व-लोगों की हर तरह से मदद करेगा।

इस तरह सर्विया में राष्ट्रीयता का विकास तथा रूस की तरफ झुकाव होते देख आस्ट्रिया के शासक काफी चिंतित थे। वे अनुभव करने लगे कि यदि इस बाढ़ को समय पर रोक नहीं दिया जाता तो आस्ट्रिया-साम्राज्य की अखण्डता खतरे में पड़ जायगी। आस्ट्रिया-साम्राज्य के अंतर्गत असंख्य सर्व-लोग निवास करते थे। 'विशाल सर्विया' का आन्दोलन जोर पकड़ रहा था। इसका परिणाम यह हो

* Fay : *Origins of the World War*, p. 357.

सकता था कि सर्बिया के नेतृत्व में सर्ब-लाग आस्ट्रिया-साम्राज्य से निकल जायँ। यह हाप्सबुर्ग साम्राज्य के लिए एक बहुत बड़े खतरे की बात थी। इस साम्राज्य में भिन्न-भिन्न जातियाँ—रूमानिया, चेक, स्लोवाक, इत्यादि, निवास करती थीं। 'विशाल सर्बिया' स्थापित हो जाने से वे लोग भी अपनी स्वतंत्रता की माँग करते और अन्ततोगत्वा इसका अर्थ होता आस्ट्रिया-साम्राज्य की समाप्ति। अतः आस्ट्रिया के शासकों ने 'विशाल सर्बिया' आन्दोलन को प्रारम्भिक अवस्था में ही दबा देने का निश्चय किया। सर्बिया को सीधे किसी समुद्र से सम्पर्क नहीं था। उसका व्यापार बहुत हद तक आस्ट्रिया की मर्जी पर निर्भर था। 1881 में आस्ट्रिया और सर्बिया के बीच एक व्यापारिक समझौता हुआ था। 'विशाल सर्बिया' आंदोलन को ध्यान में रखकर सर्ब-नेता आस्ट्रिया पर अपने आर्थिक जीवन को आश्रित नहीं रखना चहते थे। वे बुल्गेरिया से एक व्यापारिक सममौता करने के लिए बातचीत करने लगे। आस्ट्रिया यह नही सह सकता था कि सर्बिया इस तरह आर्थिक दृष्टिकोण से स्वतंत्र हो जाय। उसने हस्तक्षेप किया। सर्वप्रथम आस्ट्रिया ने सर्बिया के सूअर निर्यात पर प्रतिबंध लगा दिया जिससे सर्बिया की आर्थिक कमर टूट जाय। फलस्वरूप आस्ट्रिया और सर्बिया के बीच तथाकथित 'सूअर-युद्ध' (pig war) शुरू हुआ। लेकिन, आस्ट्रिया सर्बिया को दबा नहीं सका। बाध्य होकर सर्बिया दूसरे-दूसरे देशों में बाजार की खोज करने लगा और कुछ दिनो के भीतर आर्थिक दृष्टिकोण से वह आस्ट्रिया से एकदम स्वतन्त्र हो गया। आर्थिक नाकेबन्दी के कारण सर्ब-नेता और अधिक आस्ट्रिया-विरोधी तथा रूस-प्रेमी हो गये। इस प्रयत्न में रूस उनको हमेशा प्रोत्साहित करता रहा।

बोस्निया-काण्ड

ऐसी स्थिति में आस्ट्रिया ने सर्बिया के सर्ब-आन्दोलन को एकदम कुचल देने का निश्चय किया। 1905 में रूस जापान से बुरी तरह परास्त हुआ था। आन्त-रिक क्रांति के कारण रूस वैसे भी बहुत कमजोर हो रहा था। इस समय उसके लिए यह सम्भव नहीं था कि वह सर्बिया की सहायता कर सके। अतः 'विशाल सर्बिया' आन्दोलन को कुचल देने का यह अत्यन्त उत्तम अवसर था। आस्ट्रिया चाहता था कि सर्वप्रथम बोस्निया-हर्जेगोविना को विधिवत् हाप्सबुर्ग-साम्राज्य में मिला लिया जाय। इन दोनों प्रदेशों के अधिकांश निवासी सर्ब-जाति के थे और विशाल सर्बिया आन्दोलन में वे उत्साह के साथ भाग ले रहे थे। यह आस्ट्रिया-साम्राज्य की सत्ता के लिए बड़े खतरे की बात थी। पर बिना किसी पूर्व सममौता के बोस्निया पर अधिकार करना कठिन काम था। इसमें कोई शक नही कि रूस सैनिक दृष्टि से बहुत कमजोर हो गया। वह वैसी हालत में नहीं था की सर्बिया को कोई

सहायता कर सके। लेकिन, इसका अर्थ यह नहीं था कि रूस की शक्ति एकदम नष्ट हो चुकी थी। वह अभी भी यूरोप का एक महान् देश था और ब्रिटेन तथा फ्रांस के साथ उसकी सन्धि थी। बोस्निया-हर्जगोविना का मिलाया जाना बर्लिन-सन्धि की शर्तों का उल्लंघन होता था। इसके विरोध में रूस जैसा महान् राष्ट्र मदद करने के लिए उद्यत था।

इस समय रूस का विदेश-मंत्री इस्वोल्स्की था। वह महत्त्वाकांक्षी व्यक्ति था। रूस-जापान-युद्ध के बाद रूस की खोयी हुई शक्ति को पुनः वापस लाना उसका मुख्य ध्येय था। इसलिए 1907 में उसने ब्रिटेन के साथ समझौता कर लिया। इस्वोल्स्की की यह एक दूसरी बड़ी अभिलाषा भी थी। कालासागर और भूमध्यसागर को मिलानेवाले डार्डेनल्स तथा बोस्फोरस नामक जलडमरूमध्यों तथा उसके समीपवर्ती प्रदेशों पर अपना प्रभाव कायम करने के लिए वह विशेष रूप से इच्छुक था। बर्लिन-सन्धि के द्वारा इन जलडमरूमध्यों को विदेशी जंगी जहाजों के लिए बन्द कर दिया गया था। यह रूस की सुरक्षा के लिए एक अच्छी बात थी। लेकिन, इसी सन्धि के अनुसार रूसी जंगी जहाजों के आवागमन पर भी प्रतिबन्ध था। रूस अपने पर ऐसा कोई प्रतिबन्ध नहीं चाहता था। उसकी इच्छा थी कि कालासागर के इन दो जलडमरूमध्यों पर उसका एकाधिपत्य हो जाय। रूस के जंगी जहाज इस मार्ग से आयें-जायें; लेकिन अन्य देशों के जहाजों पर प्रतिबन्ध लगा दिया जाय। जलडमरूमध्यों को रूस के लिए खोलना इस्वोल्स्की की विदेश-नीति का मुख्य आधार था।*

इस्वोल्स्की बाल्कन-प्रायद्वीप में आस्ट्रिया की नीति का कट्टर विरोधी था। सजक के प्रश्न पर जो विवाद चला था उसके कारण इस्वोल्स्की बहुत बिगड़ा हुआ था। लेकिन कालासागर के जलडमरूमध्यों पर एकाधिपत्य करना उसकी सबसे बड़ी आकांक्षा थी। यह काम बिना आस्ट्रिया की सदिच्छा प्राप्त किये नहीं हो सकता था। अभी तक रूस की इस योजना का प्रबल विरोधी ब्रिटेन था। पर 1907 में ब्रिटेन और रूस के बीच सन्धि हो चुकी थी और वह इस क्षेत्र में ब्रिटेन की तरफ से निश्चिन्त हो गया था। बाल्कन-प्रायद्वीप में आस्ट्रिया रूस का प्रतिद्वन्द्वी था। अतः इस्वोल्स्की जलडमरूमध्यों पर आधिपत्य कायम करने के पूर्व आस्ट्रिया की सहमति ले लेना चाहता था। उधर आस्ट्रिया बोस्निया-हर्जगोविना को अपने साम्राज्य में सम्मिलित करना चाहता था। इन प्रदेशों के अधिकांश निवासी सर्ब थे और रूस 'विशाल सर्बिया'-आन्दोलन को प्रोत्साहित करता था। अतः आस्ट्रिया भी इन प्रदेशों पर आधिपत्य कायम करने के पूर्व रूस की स्वीकृति प्राप्त कर लेना चाहता था।†

---

* N. Mansergh : *The Coming of the First World War*, pp. 123-24.

† Brandenburg : *From Bismarck to the Great War*, p. 235,

वुशलौ की वातचीत :—7 जनवरी, 1908 को ऐरेनथाल आस्ट्रिया का प्रधानमंत्री नियुक्त हुआ। वह महान् कूटनीतिज्ञ तथा 'विशाल सर्विया'-आन्दोलन का एक प्रवल विरोधी था। इस आग को फैलने के पहले ही वह दवा देना चाहता था। प्रधानमंत्री के पद पर आते ही उसने वोस्निया-हर्जेगविना को हाप्सबुर्ग-साम्राज्य में मिला लेने का निश्चय किया। इसके लिए रूस की स्वीकृति प्राप्त कर लेना आवश्यक था और वह इस दिशा में प्रयास करने लगा।

आंग्ल-रूसी सन्धि होने के कुछ ही दिनों के वाद इस्वोल्स्की वियना गया। वहाँ वहुत देर तक ऐरेनथाल के साथ उसकी वातचीत हुई। इस वातचीत के दौरान में इस्वोल्स्की ने ऐरेनथाल को वतलाया कि वह कालासागर के जलडमरूमध्यों पर रूस का एकाधिपत्य स्थापित करने का निश्चय कर चुका है। ऐरेनथाल ने भी इस वाव को स्पष्ट कर दिया किया कि विना मुआवजा दिये रूस वर्लिन सन्धि के इस महत्वपूर्ण समझौते को भंग नहीं कर सकता है। डार्डेनिलस और वोस्फोरस के वदले म ऐरेनथाल आस्ट्रिया के लिए वोस्निया और हर्जेगोविना का प्रदेश चाहता था। इस वातचीत के सिलसिले में दोनो राजनीतिज्ञ किसी विशेष निष्कर्ष पर नहीं पहुँच सके। केवल एक दूसरे ने अपनी-अपनी आगामी योजना स्पष्ट कर दी।

2 जुलाई, 1908 को इस्वोल्स्की ने ऐरेनथाल के पास एक स्मरण-पत्र (aide memoir) भेजा। इस स्मरण-पत्र में परोक्ष रूप से यह सुझाव दिया गया था कि 'तरुण तुर्की'-क्रान्ति को ध्यान में रखकर रूस के लिए यह आवश्यक हो गया है कि वह डार्डेनलस और वोस्फोरस पर अपना अधिकार स्थापित कर ले। इसके वदले में इस्वोल्स्को वोस्निया-हर्जेगोविना पर आस्ट्रिया का आधिपत्य मानने को तैयार थी। ऐरेनथाल इस स्मरण-पत्र के वास्तविक भाव को समझकर काफी प्रसन्न हुआ। वह स्वयं इस तरह को व्यवस्था का पक्षपाती था; अतः उसने इस्वोल्स्की को इस विषय पर स्पष्ट रूप से वातचीत करने के लिए वुशलौ में आमंत्रित किया।

आस्ट्रिया और रूस के दो मन्त्रियों के वीच वुशलौ की मंत्रणा वर्लिन-सन्धि को भंग करने के लिए एक वहुत वड़ा षड्यंत्र था।† यह मंत्रणा अत्यंत गुप्त रूप से हुई थी और इस अवसर पर कोई अन्य व्यक्ति मौजूद नहीं था। इसके सम्बन्ध में कागज पर भी कुछ नहीं लिखा गया था और पीछे चलकर जव वुशलौ-समझौते का निर्णय निर्धारित तरीके से कार्यान्वित नहीं हुआ तो एक मंत्री दूसरे पर तरह-तरह के आरोप लगाने लगे। जनता के सामने जो वातें रखी गयीं वे एक दूसरे से विल्कुल विपरीत थीं। हमारे लिए यह निश्चय कर लेना सम्भव नहीं है कि

† Gooch : *History of Modern Europe*, p. 272.

इन दोनों में वास्तव में क्या बातें हुईं। लेकिन, दोनों मन्त्रियों के वक्तव्यों के फलस्वरूप यह स्पष्ट हो जाता है कि इस्वोल्स्की ने आस्ट्रिया को बोस्निया और हर्जेगोविना मिला लेने की और ऐरेनथाल ने रूस को डार्डेनल्स तथा बोस्फोरस पर आधिपत्य जमाने की अनुमति प्रदान कर दी थी। इसके अतिरिक्त ऐरेनथाल ने यह वादा भी किया कि वह संजक-रेलवे की योजना का परित्याग कर देगा। बुशलौ-समझौता बर्लिन-सन्धि पर एक घोर अतिक्रमण था। इसलिए ऐरेनथाल ने इस्वोल्स्की की इस योजना को मान लिया कि प्रस्तावित परिवर्तनों को आधिकारिक रूप देने के लिए यूरोपीय देशों का एक सम्मेलन बुलाया जाय। यह तय था कि यह षड्यन्त्र तभी सफल होता जब दोनों देश एक ही साथ अपना-अपना काम शुरू करते।* लेकिन, बुशलौ-सम्मेलन में बोस्निया-हर्जेगोविना तथा डार्डेनल्स-बोस्फोरस पर आधिपत्य जमाने की कोई निश्चित तिथि नहीं ठीक की गयी। ऐरेनथाल का कहना था कि उसने इस्वोल्स्की को स्पष्ट रूप से बतला दिया था कि 8 अक्टूबर को आस्ट्रिया की सेना बोस्निया-हर्जेगोविना को पूर्णतया अपने कब्जे में कर लेगी। इस्वोल्स्की ने इस बात को खण्डित किया और आधिपत्य कर लिये जाने के बाद उसने खुले रूप में शिकायत की कि उसको धोखा दिया गया है। परन्तु जब आस्ट्रिया के पेट्रोग्राड स्थित राजदूत काउन्ट बर्शटोल्ड ने उस बुशलौ की बातचीत का स्मरण दिलाया तो वह स्तब्ध रह गया। वास्तव में, जैसा प्रोफेसर गूच कहते हैं— "अपनी परेशानी का उत्तरदायित्व स्वयं उसी (इस्वोल्स्की) पर था," क्योंकि उसने वादा किया था कि वह बुशलौ में निश्चित की गयी बातों का सही विवरण वियना भेज देगा। परन्तु उसने वादा को पूरा नहीं किया।

बोस्निया-हर्जेगोविना के अनुबंधन की तैयारी- इस्वोल्स्की को कदापि यह विश्वास नहीं था कि बुशलौ-सम्मेलन के शीघ्र बाद आस्ट्रिया अपना काम शुरू कर देगा। वह बुशलौ से सीधे रूस नहीं लौटा, बल्कि यूरोप के भिन्न-भिन्न राजधानियों में कूटनीतिक अभियान पर निकल पड़ा। जलडमरूमध्यों के खोले जाने के पूर्व वह ब्रिटेन, फ्रांस तथा इटली से बातचीत कर लेना चाहता था। दूसरी ओर ऐरेनथाल बुशलौ से इस दृढ़ निश्चय के साथ वियना लौटा कि वह जल्द ही कोई कदम उठायेगा। उसको पूर्ण विश्वास था कि 'रूसी रीछ गुर्राएगा अवश्य, परन्तु काटेगा नहीं।' ऐरेनथाल बुल्गेरिया को अपने पक्ष में कर लेना चाहता था। बुल्गेरिया को यह आश्वासन दे दिया गया कि यदि वह अपनी पूर्ण स्वाधीनता की घोषणा कर देगा तो आस्ट्रिया की ओर से कोई आपत्ति नहीं उठायी जायेगी। 1 अक्टूबर को फ्रांस, इटली, ब्रिटेन और जर्मनी में स्थित आस्ट्रिया के राजदूतों के पास सम्राट् फ्रांसीसी जोसेफ की अपनी हाथ से लिखी हुई चिट्ठीयाँ भेजी गयीं। उन्हें आदेश दिया गया था कि 5 अक्टूबर को वे विभिन्न सरकारों के सामने इस पत्र को

प्रस्तुत कर दें। इस्वोल्स्की इस समय अपने कूटनीतिक अभियान पर पेरिस पहुँचा हुआ था। अक्टूबर को उसने ऐरेनथाल द्वारा लिखित एक पत्र प्राप्त हुआ जिसमें कहा गया था कि 7 अक्टूबर को बोस्निया पर आस्ट्रिया का पूर्ण आधिपत्य कायम कर लिया जायेगा। 7 अक्टूबर के बदले 6 अक्टूबर को ही सम्राट् फ्रांसिस जोसेफ ने बोस्निया पर आस्ट्रिया के आधिपत्य की घोषणा कर दी।*

फ्रांसिस जोसेफ की इस घोषणा से सारे यूरोप में खलबली मच गयी। रूस और सर्बिया के लोगों को बुशलौ-समझौते के सम्बन्ध में कुछ जानकारी नहीं थी। सारे सर्बिया में रोष और क्रोध छा गया। सर्बिया के समाचारपत्रों ने आस्ट्रिया पर बर्लिन-सन्धि के उल्लघन का आरोप लगाया। उन्होंने आस्ट्रिया के विरुद्ध युद्ध की माँग की। सर्बिया की सरकार भी युद्ध की तैयारी करने लगी। बोस्निया में उनके सजातीय रहते थे। आस्ट्रिया उन्हें अपने साम्राज्य में सम्मिलित कर रहा था। यह बात उनके लिए असह्य थी। अतः वे युद्ध की तैयारी करने लगी। सर्बिया के राजनीतिज्ञ रूस गये और वहाँ उन्होंने मदद की याचना की। आस्ट्रिया ने भी विविध तरीकों से सर्बिया को समझाने-बुझाने का प्रयत्न किया। आस्ट्रिया का कहना था कि बोस्निया पर आस्ट्रिया के आधिपत्य से सर्बिया को कोई घाटा नहीं है। आस्ट्रिया संजक का इलाका छोड़ने को तैयार था। इससे सर्बिया को पर्याप्त मुआवजा मिल रहा था। सर्बिया उस पर अपना आधिपत्य स्थापित कर सकता था।†

इस्वोल्स्की की नीति—

6 अक्टूबर की घटना के बाद इस्वोल्स्की की हालत अत्यन्त ही शोचनीय थी। उसने 'अखिल-स्लाव' आन्दोलन को एक बहुत बड़ा धोखा दिया था। रूस इस आन्दोलन का नेता था और उसका विदेश-मन्त्री जलडमरूमध्यों के लिए स्लाव लोगों की स्वतन्त्रता बेच रहा था। अतः सार्वजनिक रूप से इस्वोल्स्की ने एक दूसरा दृष्टिकोण अपनाया। उसने कहा कि ऐरेनथाल ने जो कुछ किया है उसके सम्बन्ध में उसको कोई जानकारी नहीं थी। उसने सर्बिया के पेरिस-स्थित राजदूत को बतलाया कि सर्बिया को उत्तेजित होने का कोई कारण नहीं है। वास्तव में इस्वोल्स्की अभी अपनी हिम्मत नहीं हारा था। वह सर्बिया को तब तक के लिए शान्त रखना चाहता था जब तक जलडमरूमध्यों पर रूस का अधिकार नहीं हो जाता। उसने निश्चय किया कि वह आस्ट्रिया को यूरोप के महान् राष्ट्रों के एक सम्मेलन के सामने उपस्थित होने के लिए विवश करेगा। इस सम्मेलन से उसे यह

* Brandenburg : *From Bismarck to the Great War*, p. 238.
† Fay : *Origins of the World War*, p. 379.

आशा थी कि यह आस्ट्रिया द्वारा किये गये काम को मान्यता देते हुए रूस के मुआवजे के दावा को भी मान लेगा। अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन के अतिरिक्त इस्वोल्स्की के पास कोई भी दूसरा उपाय नहीं था। जब तक यह समस्या महान् राष्ट्रों के सम्मुख उपस्थित नहीं कर दिया जाता तबतक रूस को मुआवजा मिलना एक कठिन काम था। अतः अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन के लिए इस्वोल्स्की यूरोपीय देशों की राजधानियों में दौड़ लगाने लगा। इस्वोल्स्की की इसी मांग में बोस्निया-काण्ड अपना प्रचण्ड रूप धारण किये रहा। वह सभी बातों को निश्चित करने के लिए एक सम्मेलन की मांग करता और ऐरेनथाल अपनी सम्पूर्ण शक्ति के साथ इस तरह से सम्मेलन का विरोध करता। अब यह इस्वोल्स्की पर निर्भर करता था कि किस तरह वह उस अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन का आयोजन करता है, जिसकी मांग वह इतने जोर-शोर से कर रहा था।

सबसे पहले उसने फ्रांस का समर्थन प्राप्त करने की कोशिश की। फ्रांस वर्षों से रूस का मित्र था और इस्वोल्स्की आशा किये हुए था कि यह पुराना मित्र अवश्य ही उसका साथ देगा। लेकिन, फ्रांस को बाल्कन-प्रायद्वीप की राजनीति में कोई विशेष दिलचस्पी नहीं थी। वह नहीं चाहता था कि अपने मित्र की उग्र नीति के कारण वह बाल्कन-प्रायद्वीप की झंझटों में व्यर्थ फँसे। अतः जब इस्वोल्स्की ने फाँसीसी सरकार से एक अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन के प्रस्ताव को समर्थन करने की याचना की तो प्रधान मंत्री पीशों ने टालमटोल कर दिया। उसने इस्वोल्स्की को सबसे पहले ब्रिटेन का समर्थन प्राप्त करने की सलाह दी।*

इस्वोल्स्की की कठिनाई — 9 अक्टूबर को इस्वोल्स्की पेरिस से लन्दन के लिए रवाना हुआ। परन्तु निराशा यहाँ भी उसकी प्रतीक्षा कर रही थी। लन्दन में विदेश-सचिव सर एडवर्ड ग्रे से इस्वोल्स्की की मुलाकात हुई। सर ग्रे ने उसको स्पष्ट रूप में बतला दिया कि बोस्निया के प्रश्न पर वे उसके साथ बिल्कुल सहमत हैं। ग्रे के अनुसार यह आवश्यक था कि बर्लिन-सन्धि में किये जानेवाले किसी भी संशोधन की स्वीकृति एक दूसरे यूरोपीय सम्मेलन से प्राप्त कर ली जाय। 'कोई भी महान् राष्ट्र उन सभी देशों की स्वीकृति के बिना जिन्होंने मिलकर कोई समझौता किया है, उसके उत्तरदायित्वों से अपने को मुक्त नहीं कर सकता और न उसकी शर्तों में कोई परिवर्तन कर सकता है।' ब्रिटिश-सरकार का यही रूख था। सर ग्रे ने वियना स्थित ब्रिटिश राजदूत को इसी आशय का आदेश दिया कि वह ऐरेनथाल से साफ-साफ शब्दों में स्पष्ट कर दे कि ब्रिटिश सरकार बोस्निया को सम्मिलित करने के तरीके को नापसन्द करती है। इसके अतिरिक्त सर ग्रे ने इस्वोल्स्की को भी बतला दिया कि जिस तरह वह आस्ट्रिया के कार्य को पसन्द नहीं करता उसी तरह

* N. Mansergh : *The Coming of the First World War*, p. 128.

वह बर्लिन-सन्धि के दूसरी शर्त, जिसके द्वारा काला सागर के जलडमरूमध्यों का तटस्थीकरण कर दिया गया था, में भी किसी हेरफेर को पसन्द नहीं करेगा। इस्वोल्स्की को ब्रिटेन के इस रुख से बड़ी निराश हुई।* लेकिन, ब्रिटेन-से कम एक बात पर उसका समर्थन कर रहा था। अतः वह अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन की मांग जोर-शोर से करने लगा। ऐरेनथाल उसी तीव्रता के साथ सम्मेलन का विरोध करता रहा। 22 अक्टूबर को उसने स्पष्ट कर दिया कि आस्ट्रिया को सम्मेलन के बुलाये जाने में इस शर्त पर कोई आपत्ति नहीं होगी कि उसका कार्यक्रम पहले से उसके विचारों के अनुसार निर्धारित कर लिया जाय और उसके सम्बन्ध में बिना किसी चर्चा के बोस्निया पर आधिपत्य की स्वीकृति दे दी जाय। स्पष्ट है कि इस शर्त पर सम्मेलन बुलाने का कोई अर्थ ही नहीं रह जाता।

इस स्थिति में इस्वोल्स्की का जीना मुश्किल हो रहा था। ब्रिटिश और फ्रांसीसी सहायता के बिना जलडमरूमध्यों को खोलना तो असम्भव था ही; पर उसकी इच्छा थी कि बुशलौ-समझौता से अगर रूस को लाभ नहीं हुआ तो आस्ट्रिया को भी कोई लाभ नहीं हो। आस्ट्रिया के लाभ को समाप्त करने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन का होना आवश्यक था। इसके अतिरिक्त कुछ और कारण भी थे जो इस्वोल्स्की को अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन बुलाने के लिए प्रेरित कर रहे थे। सम्मेलन का न होना इस्वोल्स्की के लिए एक ऐसी कूटनीतिक पराजय होती जो उसकी सारी प्रतिष्ठा धूल में मिल जा सकती थी। 'अखिल-स्लाव'-आन्दोलन के रूसी कर्णधार इस्वोल्स्की को कोस रहे थे कि उसने अपनी नीति से स्लाव बधुओं का बलिदान कर दिया है। वे इस्वोल्स्की इस्तीफा की मांग कर रहे थे। बेचारा इस्वोल्स्की बहुत बड़े जाल में फँसा हुआ था। पेट्रोग्राड में शासक उससे नाखुश थे। ब्रिटेन और फ्रांस जैसे मित्रराष्ट्र दिल खोलकर मदद देने से इन्कार कर रहे थे। किसी के सामने वह मुँह दिखाने की स्थिति में नहीं था। वह बहाना करता रहा कि आस्ट्रिया की कार्रवाई में उसका कोई हाथ नहीं है। उसने उन्हें आश्वासन देना शुरू किया कि वह सर्बिया को हर हालत में मदद देने को तैयार है और सर्बिया को बोस्निया के बदले में मुआवजा मिलेगा। बोस्निया तथा हर्जेगोविना के भाग्य का फैसला अन्तिम रुप से नहीं हो गया है।†

इस्वोल्स्की के आश्वासन का सर्बिया पर क्या प्रभाव पड़ा यह कहना कुछ कठिन है। लेकिन, सर्व लोग स्वयं उतावले हो रहे थे। आस्ट्रिया की कार्रवाई सर्बिया के ऊपर एक प्रबल आघात था और वे तुरत ही सैनिक तैयारियों में व्यस्त

* Fay : *Origins of the World War*, pp. 380-81.
† Gooch : *History of Modern Europe*, p. 276.

हो गये। बोस्निया और हर्जेगोविना के स्लाव लोगों में काफी हलचल थी। शायद ही कोई दिन ऐसा होता जिस दिन आस्ट्रिया के विरुद्ध इन प्रदेशों में प्रदर्शन नहीं हुआ हो। इन लोगों ने बड़े जोरशोर के साथ अपना आन्दोलन प्रारम्भ किया। आस्ट्रिया ने इस आन्दोलन का क्रूरतापूर्ण दमन करना शुरू किया। इस दमन की प्रतिक्रिया सर्विया में हुई। 'बोस्निया हर्जेगोविना के प्रश्न को युद्ध के द्वारा ही तय किया जा सकता है।' सर्विया के देशभक्त इस निष्कर्ष पर पहुँच चुके थे। अपने उद्देश्य की प्राप्ति के लिए सर्विया के नेता रूस गये और जार से मदद के लिए प्रार्थना की। इस समय रूस युद्ध छेड़ने की स्थिति में नहीं था। रूस-जापान-युद्ध से उसकी कमर टूट चुकी थी। अतः जार ने उन्हें शान्ति के मार्ग पर चलने की सलाह दी। इन सलाहों के बावजूद सर्विया का जनमत युद्धोन्मुख ही बना रहा।

बोस्निया और सर्विया में प्रतिदिन युद्ध का वातावरण तैयार हो रहा था। अतः आस्ट्रिया ने इसका मुकाबला करने का निश्चय किया। आस्ट्रिया का प्रधान-सैनिक-अधिपति (Chief-of-Staff) कौनराड ने सर्विया की सीमा पर सैनिकों को तैनात करने का काम शुरू कर दिया। आस्ट्रिया और सर्विया में अब युद्ध की पूरी सम्भावना हो गयी। यह स्थानीय युद्ध विश्व-व्यापी युद्ध में परिणत हो सकता था। लेकिन, रूस ने सर्विया पर काफी दवाव डाला कि ऐसी स्थिति में वह कोई ऐसा काम न कर बैठे जिससे युद्ध छिड़ जाय। रूस ने सर्विया को अनेक आश्वासन दिये। एक रूसी राजनेता ने सर्विया के राजदूत को समझाया कि 'उनको अभी उतावला नहीं होना चाहिए। रूस अभी सैनिक दृष्टि से कमजोर है। इस हालत में यदि आपलोग युद्ध शुरू कर देते हैं तो वह आत्महत्या करने के तुल्य होगा। अभी युद्ध के लिए तैयारी कीजिए। समय आयेगा तो आस्ट्रिया के साथ निवट लिया जायेगा।' इस तरह की वातें करके रूस सर्विया पर अंकुश लगाये रहा लेकिन, सर्व-लोग माननेवाले नहीं थे। उनके समाचारपत्र आस्ट्रिया पर जहर उगल रहे थे। ऐसा प्रतीत होता था कि युद्ध होकर रहेगा।

जर्मनी द्वारा संकट का समाधान—कभी-कभी यह कहा जाता है कि जर्मनी ने आस्ट्रिया को बोस्निया पर आधिपत्य जमाने के लिए उसकाया था। पर यह एक सर्वथा गलत बात है। जब बुशलौ-समझौता के बारे में वूलो को पता लगा तो वह काफी दुःखी हुआ और उसे विश्वास हो गया कि यदि इस समझौते को कार्यान्वित किया गया तो बाल्कन की समस्या और जटिल हो जायेगी। यद्यपि आस्ट्रिया और जर्मनी एक दूसरे के परम मित्र थे, तो भी जर्मनी को बोस्निया को मिलाने की सूचना पहले नहीं मिली थी। जब आस्ट्रिया ने उस प्रदेश पर अपना

अधिकार जमा लिया तो कैसर ने इसको 'दिन दहाड़े डकैती' की संज्ञा दी।* कैसर इस समय तुर्की को अपना मित्र बनाना चाहता था। ऐसी स्थिति में जर्मनी का मित्र आस्ट्रिया तुर्की के खिलाफ इस तरह का काम करे, कैसर को सह्य नहीं था। वह आस्ट्रिया के कार्य को किसी भी मूल्य पर अनुमोदित करने के लिए तैयार नहीं था।

इस समस्या पर चान्सलर बूलो का कुछ दूसरा ही विचार था। सारे संसार में केवल आस्ट्रिया जर्मनी का एकमात्र मित्र और सहायक था। अगर विपत्ति में उसने आस्ट्रिया का साथ नहीं दिया तो आस्ट्रिया किसी दूसरी स्थिति में जर्मनी का साथ कैसे देगा? बूलो आस्ट्रिया को 'ब्लैंक चेक' देने का समर्थक था। लन्दन में इस्वोल्स्की तथा सर एडवर्ड के बीच जो बातचीत हुई थी और जिसके आधार पर सर ग्रे ने इस्वोल्स्की के अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन की मांग का समर्थन किया था उसको बूलो एक चुनौती के रूप में मानता था। बूलो का कहना था कि ब्रिटेन अपने नये मित्र रूस की मदद कर रहा है। ऐसी स्थिति में जर्मनी अपने एकमात्र मित्र की मदद क्यों नहीं करे? वह हर हालत में आस्ट्रिया की मदद करना चाहता था। लेकिन, बूलो युद्ध करने के पक्ष में नहीं था। वह शान्तिमय उपायों से इस संकट का समाधान करना चहता था। ऐरेनथाल की तरह वह भी अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन के प्रस्ताव का घोर विरोधी था। जर्मन संसद् में बोलते हुए उसने कहा—"किसी भी अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन की आवश्यकता नही है और इस तरह का कोई सम्मेलन निकट भविष्य में नहीं होगा।"†

इस समय तक आस्ट्रिया और सर्विया के बीच युद्ध छिड़ने की पूरी तैयारी हो चुकी थी। कौनराड ने पहले ही सर्विया की सीमा पर आस्ट्रिया की सेना को तैनात कर दिया था। रूस के मना करने पर भी सर्विया अपनी सेना सीमा पर भेज चुका था। दोनों देशों की सेनाएँ आमने-सामने खड़ी थीं। रूस का विदेश-मंत्री "अखिल स्लाव"—आन्दोलन को धोखा दे चुका था। पर इस बार रूस अपने अनुयायी को खतरे की स्थिति में अकेले छोड़ने के लिए तैयार नहीं था। सैनिक दृष्टिकोण से रूस अभी कमजोर था। परन्तु सर्विया को वह अकेले नही छोड़ सकता था। अतः सीमा पर रूसी सेना भी एकत्र की जाने लगी। उधर युद्ध के विषय पर आस्ट्रिया में दो दल थे। कौनराड के नेतृत्व में एक दल ऐसा था जो इसी समय सर्विया पर आक्रमण करके उसकी कमर तोड़ देने के पक्ष में था। उनका विचार था सर्विया पर आक्रमण करने का यही स्वर्ण अवसर है। रूस अभी युद्ध के लिए तैयार नहीं था। फ्रांस और ब्रिटेन इस समय रूस की मदद करने में हिचकिचा रहे

---

* Fay : *Origins of the World War*, p. 386

† N. Mansergh : *The Coming of the First World War*, p. 131

थे। सर्विया अभी पूर्णतया तैयार नहीं हुआ था। अतः भावी युद्ध को रोकने के लिए सर्विया पर आक्रमण कर देना आवश्यक समझता था। ऐरेनथाल भी कौनराड के विचारों से सहमत था। पर उस समय आस्ट्रिया की आन्तरिक स्थिति अच्छी नहीं थी। आस्ट्रिया-साम्राज्य में सर्वत्र गड़बड़ी फैली हुई थी और ऐसे समय में युद्ध को आमन्त्रित करना ठीक नहीं था। अतः ऐरेनथाल ने कौनराड के प्रस्ताव को ठुकरा दिया। फिर भी तीन देशों की सेना अपनी-अपनी सीमा पर एकत्र हो रही थी और इस परिस्थिति में किसी भी बात पर युद्ध छिड़ सकता है।

ऐसे स्थिति में बूलो ने एक ऐसा कदम उठाया जिसके फलस्वरूप यूरोप की शांति भंग होने से बच गयी। 23 मार्च, 1909 को उसने रूस की सरकार के पास निम्नलिखित आशय का एक पत्र भेजा— "जर्मनी की सरकार यह देखकर अत्यन्त प्रसन्न है कि रूस की सरकार जर्मनी की कार्यवाही को मित्रतापूर्ण भावना के रूप में स्वीकार करती है। हम आस्ट्रिया की सरकार को यह सुझाव भेज रहे हैं कि वह बर्लिन-संधि की 25 वीं धारा को रद्द करने के लिए बड़े राष्ट्रों को आमन्त्रित करे। परन्तु, ऐसा करने के पहले हम इस बात को जानना चाहते हैं कि रूस की सरकार आस्ट्रिया के प्रस्ताव को मानने के लिए तैयार है। इस बात पर हम एक निश्चित उत्तर 'हाँ' या 'ना' में चाहते हैं। किसी भी अस्पष्ट उत्तर को हम अस्वीकृति के रूप में मानेंगे। वैसी स्थिति में हमलोग मजबूर हैं। उनके जो भी परिणाम होंगे उन सब का उत्तरदायित्व केवल इस्वोल्स्की पर होगा।"*

कहना न होगा कि जर्मनी का यह पत्र युद्ध की चुनौती से मिलती-जुलती कार्यवाही थी। स्थानापन्न विदेशी-मंत्री किडरलेन ने कहा भी था कि "चुनौती का मसविदा" उसने अकेले ही तैयार किया। "मैं जानता था कि रूस युद्ध के लिए कभी तैयार नहीं होगा।" इसी विश्वास के आधार पर रूस को "चुनौती" भेजी गयी थी। पर, वास्तव में यह युद्ध की चुनौती नहीं थी। यह कड़े शब्दों में मध्यस्थता का एक प्रस्ताव था, जिसका इस्वोल्स्की एक अवांछित परिस्थिति से बच निकलने के मार्ग के रूप में स्वागत करने को तैयार था। इस पत्र को पढ़ने के बाद इस्वोल्स्की को दो परिणाम नजर आये। बोस्निया का प्रश्न बिना किसी अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन के कूटनीतिक पत्र-व्यवहार द्वारा हल होने जा रहा है। अगर रूस इसका विरोध करता है तो सर्विया पर आक्रमण हो जायगा। कहना न होगा कि इस्वोल्स्की को दूसरा नतीजा स्वीकार नहीं था। उसने जार से मुलाकात की और इसके बाद जर्मनी के प्रस्तावों को स्पष्ट रूप में स्वीकार करते हुए उसका उत्तर भेज दिया। जब रूस ने जर्मनी के प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया तो बूलो ने अपने

---

* G. P. Gooch : *History of Modern Europe*, p. 278

रोम, पेरिस तथा लन्दन स्थित राजदूतों को आदेश दिया कि वे उसी तरह का प्रस्ताव इन तीनों सरकारों के सामने प्रस्तुत करें। इटली ने सबसे पहले अपनी स्वीकृति दे दी। फ्रांस की सरकार भी जर्मन-प्रस्ताव को स्वीकार करने के लिए तैयार हो गयी। ब्रिटेन ने जर्मनी के पत्र का उत्तर देने में कुछ देर की। इसी बीच सर्विया की सीमा पर स्थिति डांवाडोल होने लगी। कौनराड के तर्कों से प्रभावित होकर ऐरेनथाल ने सर्विया पर हमला करने की स्वीकृति दे दी। युद्ध की तैयारी होने लगी। ऐसी नाजुक स्थिति में ब्रिटेन ने भी अपनी स्वीकृति दे दी। अव यूरोप के महान् राष्ट्र सम्मिलित रूप से सर्विया पर दवाव डालने लगे कि वह अपनी सेना को वापस बुला ले और वोस्निया-हर्जेगोविना पर आस्ट्रिया के अधिकार को स्वीकार कर ले। सर्विया के सामने अब कोई दूसरा चारा नहीं था। उसने स्वीकार कर लिया कि बोस्निया तथा हर्जेगोविना पर आधिपत्य कर लिये जाने से उसके अपने अधिकारों पर किसी प्रकार का अतिक्रमण नहीं हुआ है।* बड़े राष्ट्रों की सलाह पर उसने यह भी वादा किया कि वह आस्ट्रिया-विरोधी नीति का परित्याग कर देगा और आस्ट्रिया के साथ एक अच्छे पड़ोसी की तरह वर्ताव करेगा। ब्रिटेन, फ्रांस और रूस ने वर्लिन-संधि की 25 वीं धारा के रद्द किये जाने की प्रार्थना को स्वीकार कर लिया। वोस्निया का संकट धीरे-धीरे अव समाप्त हो रहा था।

वोस्निया काण्ड का महत्त्व

आस्ट्रिया की पराजय—

प्रोफेसर गूच के अनुसार वोस्निया का संकट यूरोपीय राष्ट्रों के विदेश मंत्रालयों के वीच एक "रक्तहीन युद्ध" था।† इस "युद्ध" ने यूरोप की राजधानी पर एक ऐसा गहरा जख्म कर दिया जो कभी भरनेवाला नहीं था और जो प्रथम विश्व-युद्ध का एक प्रमुख कारण सावित हुआ। सम्पूर्ण वोस्निया-कांड ऐरेनथाल की व्यक्तिगत कूटनीतिक विजय थी। वोस्निया में उसने बहुत बड़ा दाव लगाया था और रूस को अपमानित करते हुए वह इस दाव में जीत गया था। उसने बड़ी कुशलता के साथ वर्लिन-संधि को भंग कर दिया और दुनिया के कूटनीतिज्ञ ताकते रह गये। उसकी इस कूटनीति विजय से हाप्सबुर्ग साम्राज्य में एक नये बल का संचार हुआ और उसमें आत्म-विश्वास की नयी भावना पैदा हुई। सम्राट फ्राँसिस जोसेफ से खुश होकर उसको काउन्ट की उपाधि से विभूषित किया और जब 1912 में उसकी मृत्यु हुई तो पीशों ने मेटरनिक के साथ उसकी तुलना की। लेकिन, आस्ट्रिया की

* Fay : *Origins of the World War*, pp. 391-92
† Gooch : *History of Modern Europe*, p. 279.

यह कूटनीतिक विजय कोई विजय नहीं थी। प्रोफेसर फे के शब्दों में यह एक क्षणिक विजय थी जो पीछे चलकर पराजय से भी बुरी सिद्ध हुई। इसमें कोई शक नहीं कि बोस्निया पर औपचारिक रूप से आस्ट्रिया का अधिकार स्वीकृत हो गया। उसने संसार को यह भी बतला दिया कि हाप्सबुर्ग साम्राज्य अभी काफी शक्तिशाली है और उससे लोहा लेना खेल नहीं है। लेकिन, इसके साथ-साथ आस्ट्रिया ने यूरोप के महान् राष्ट्रों का अविश्वास भी मोल लिया। आस्ट्रिया ने जिस प्रकार एक संधि की शर्तों का उल्लंघन किया था वह एक महान् राष्ट्र के लिए शोभा नहीं दे रहा था और यूरोप के कूटनीतिज्ञों को आस्ट्रिया पर विश्वास नही रह गया।*

सर्बिया का विरोध :—आस्ट्रिया ने सर्बिया को भी कुछ शर्तें मानने पर बाध्य किया। सर्बिया, जो काफी उछल-कूद मचा रहा था, आस्ट्रिया की धमकी से डर कर बोस्निया में किये गये परिवर्तन को मान लिया था और एक अच्छे पड़ोसी-सा वर्ताव करने का वादा भी किया था। ऐरेनथाल को विश्वास हो गया कि अब 'विशाल-सर्बिया'-आन्दोलन समाप्त हो जायेगा। यह उसकी एक बहुत बड़ी भूल थी। उसने सर्बिया को अपमानित करके इन कठोर शर्तों को मानने के लिए बाध्य किया। अपमान करके किसी देश को अपने पक्ष में नही किया जा सकता है। आस्ट्रिया और सर्बिया के बीच भी यही बात हुई। सर्बिया कुछ दिनों के लिए तो चुप रहा, लेकिन वह अधिक दिनों तक अपने वादे पर टिका नहीं रहा। कुछ ही दिनों के बाद सर्बिया की भूमि पर आस्ट्रिया के विरुद्ध षड्यंत्र रचे जाने लगे। सर्बिया आस्ट्रिया विरोधी षड्यंत्रों का अड्डा बन गया। इस प्रकार बोस्निया-काण्ड के परिणामों को देखकर यही कहा जाता है कि इसके फलस्वरूप आस्ट्रिया को जो सफलताएँ मिली वे केवल नाममात्र की थीं।†

जर्मनी पर प्रभाव :—

जिस प्रकार आस्ट्रिया पर से कुछ राष्ट्रों का विश्वास जाता रहा उसी प्रकार जर्मनी को भी लोग शंका की दृष्टि से देखने लगे। इसमें कोई शक नहीं कि जर्मनी को आस्ट्रिया की योजना के बारे में कोई पूर्व-सूचना नहीं थी। पर किसी ने जर्मनी की बातों पर विश्वास नहीं किया। जर्मनी ने जब आस्ट्रिया के प्रति विरोध को बढ़ते देखा तो उसने बिना हिचकिचाहट के अपने साथी देश का पक्ष लेना शुरू किया। जब संकट समाप्त हो गया तो बूलो ने संतोष की एक गहरी साँस ली। पीछे चलकर उसने अपने विचार को और स्पष्ट किया। 'आस्ट्रिया और जर्मनी की एकता ने पहली बार एक संघर्ष में अपनी शक्ति प्रमाणित की। फ्रांस,

* Fay : *Origins of the World War*, p. 394

† Mansergh : *The Coming of the First World War*, p. 135

रूस और ब्रिटेन का वह सहयोग, जिसके बारे में अलजिसरास-सम्मेलन के बाद बहुत चर्चा की गयी थी, यूरोपीय महाद्वीप की राजनीति की कठोर समस्याओं के सामने टुकड़े-टुकड़े होकर बिखर गया। बूलो के इस वक्तव्य में सत्य का अंश अवश्य है; परन्तु वह पूर्ण सत्य नहीं है। मध्य यूरोपीय राष्ट्रों को बोस्निया-काण्ड में विजय अवश्य प्राप्त हुई परन्तु इस काण्ड के दूरगामी परिणाम उनके विरुद्ध हुए। जर्मनी से आस्ट्रिया को पूर्ण सहायता मिली थी। एक मित्रराष्ट्र के प्रति असीम वफादारी यह जर्मन-नीति यूरोपीय शांति के लिए खतरनाक थी। इसका अर्थ यह था कि बाल्कन-प्रायद्वीप का कोई भी कूटनीतिक संकट विश्वव्यापी युद्ध का कारण बन सकता है। रूस को बूलो ने जो पत्र भेजा था उसकी भाषा काफी कड़ी थी और ब्रिटेन, फ्रांस इत्यादि देशों में इसको 'चुनौती' समझा गया था। ब्रिटेन ने इसका यह अर्थ लगाया कि जर्मनी धमकी देकर रूस और ब्रिटेन के बीच मतभेद पैदा कराना चाहता है। यह धारणा पीछे चलकर और मजबूत हो गयी, जब कैजर ने वियना में एक भाषण के सिलसिले में कहा कि संकट के समय जर्मनी ने अपने मित्र-देश को 'चमकते हुए कवच' धारण करके सहायता की थी। इसका यह अर्थ था कि जर्मनी आस्ट्रिया के साथ युद्ध के मैदान में भी जाने के लिए तैयार था। इन सब बातों को लेकर बोस्निया-काण्ड के परिणामस्वरूप ब्रिटेन, फ्रांस और रूस में घोर निराशा की भावना फैल गयी। यह भावना अधिक दिनों तक स्थिर नहीं रही। इस तरह के दूसरों खतरों का मुकाबला करने के लिए मिलीजुली तैयारी करने लगे। अतएव ब्रिटेन, फ्रांस और रूस के परस्पर सम्बन्ध का सुदृढ़ होना बोस्निया-काण्ड का एक मुख्य परिणाम साबित हुआ।

एक दूसरे वजह से भी बोस्निया-काण्ड का परिणाम आस्ट्रिया और जर्मनी के हित में अच्छा नहीं हुआ। इटली त्रिगुट का एक सदस्य था; पर उसके मित्र-राष्ट्रों ने उससे कोई महत्त्वपूर्ण विचार-विमर्श नहीं किया। उसके मित्र-राष्ट्र उनकी अवहेलना कर रहे थे। इसके अतिरिक्त इटली आस्ट्रिया की सफलता पर काफी दुःखी था। एड्रियाटिक सागर की तरफ आस्ट्रिया का प्रभाव बढ़ना इटली के हक में अच्छा नहीं था। अतः इटली भीतर ही भीतर आस्ट्रिया से जल रहा था। अधिक दिनों तक इटली अपनी इस भावना को छिपा नहीं सका। 1911 में इटली के एक प्रमुख नेता ने कहा—'यूरोप में एक ही ऐसा देश है जिसके साथ इटली को संघर्ष की सम्भावना है। वह है आस्ट्रिया।' आस्ट्रिया की सफलता का विरोध करने के लिए इटली ने रूस के साथ एक संधि कर ली। बोस्निया-काण्ड के फलस्वरूप त्रिगुट की स्थिति और भी अधिक कमजोर हो गयी।

रूस पर प्रभाव :—बोस्निया-काण्ड का सबसे महत्त्वपूर्ण प्रभाव रूस पर पड़ा। 'अखिल-स्लाव'-आन्दोलन के रूसी कर्णधार, क्रोध से आग बबूला हो रहे थे। उन लोगों

का कहना था कि स्लाव और ट्यूटोनिक जातियों के बीच संघर्ष अवश्यम्भावी है और रूस को इस संघर्ष के लिए तैयारी करनी चाहिए। रूस की राजनीति पर 'अखिल-स्लाव'-आन्दोलन के नेताओं का पर्याप्त प्रभाव था और उनके दवाव से रूसी सरकार अपनी सैन्य शक्ति वढ़ाने लगी। इस्वोल्स्की के लिए वोस्निया की घटना उसके जीवन का सवसे कटु अनुभव था। वह अपने को कूटनीति के अखाड़े में एक पेशेवर पहलवान समझता था। लेकिन, उसके प्रतिद्वन्द्वी ने पैतरेवाजी के द्वारा उसे वुरी तरह पछाड़ दिया था। इस्वोल्स्की के लिए यह व्यक्तिगत अपमान था और किसी भी हालत में वह इसको नहीं भूल सकता था। उसने अपने प्रतिस्पर्धी को वाल्कन-प्रायद्वीप में शक्ति वढ़ाते हुए देखा था। उसको वह मुआवजा नहीं मिल सका जिसके वदले में उसने वोस्निया पर आधिपत्य की स्वीकृति दी थी। अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन के वुलाये जाने का उसका प्रस्ताव ठुकरा दिया गया था। इसके अतिरिक्त सवसे वड़ी वात यह थी कि उसको सर्विया और वाल्कन-क्षेत्र में समस्त स्लाव-जाति के सामने स्वीकार करना पड़ा था कि वह उसके हितों की रक्षा करने में सर्वथा असमर्थ रहा है। ऐरेनथाल की दगावाजी के कारण इस्वोल्स्की को ये सारे अपमान सहने पड़े थे और वह इनको आसानी से नहीं भूल सकता था। वह जव तक जीवित रहा, आस्ट्रिया से वदला लेने के मौके के ताक में लगा रहा। असफलता के कारण सितम्वर 1910 में उसे विदेशमंत्री के पद से हट जाना पड़ा। उसके वाद वह फ्रांस में रूस का राजदूत नियुक्त किया गया। पेरिस में रहकर उसने जी-जान से यह कोशिश की आंग्ल-फ्रांस-रूसी मित्रता काफी दृढ़ हो जाय, जिसके वल पर आस्ट्रिया से वदला लिया जा सके। उसका सारा प्रयास यूरोपीय युद्ध को निकट लाने के लिए होता रहा और 1914 में जव युद्ध छिड़ गया तो वह पेरिस से चिल्ला उठा कि "यह मेरा युद्ध है, मेरा युद्ध।" इस्वोल्स्की का यह दावा गलत था। पर इससे उसकी युद्धोन्मुख दशा का पता लगता है।*

जार की मानसिक दशा की भी यही स्थिति थी। उसने विलियम द्वितीय को क्षमा कर दिया, लेकिन फ्रांसिस जोसेफ को नहीं। जिस घोर अपमान को उसे सहना पड़ा था वह हमेशा उसके हृदय को मथता रहा। अक्टूवर, 1909 में वह एक राजकीय यात्रा पर इटली जा रहा था। आस्ट्रिया से उसकी घृणा इतनी तीव्र हो गयी थी कि उसने खुले तौर पर आस्ट्रिया के प्रदेश होकर गुजरने से इन्कार कर दिया।

वोस्निया-कण्ड के परिणामस्वरूप रूस और सर्विया एक दूसरे के अत्यधिक निकट सम्पर्क में आ गये। इस्वोल्स्की सर्विया के नेताओं को आस्ट्रिया के विरुद्ध

* Fay : *Origins of the World War*, p. .397

हमेशा उसकाता रहा। उसने उनको बतलाया कि बोस्निया और हर्जेगोविना सर्विया के एलसस-लोरेन हैं। जिस तरह फ्रांस में एलसस-लोरेन की मुक्ति के लिए प्रयास हो रहे थे उसी तरह सर्विया को भी बोस्निया-हर्जेगोविना की मुक्ति के लिए तैयारी करनी है। आस्ट्रिया से बदला लेने के उद्देश्य से इस्वोल्स्की ने इटली और बुल्गेरिया से गुप्त वार्तालाप प्रारम्भ किया, जिसके फलस्वरूप 1912 में 'बाल्कन-संघ' की स्थापना हुई। रूस से इस तरह प्रोत्साहन मिलने का परिणाम यह हुआ कि सर्विया अपने वादे को भूल गया और बोस्निया-काण्ड के तुरत बाद पुनः 'विशाल-सर्विया'-आन्दोलन शुरू कर दिया। बाल्कन की समस्या और जटिल होने लगी और सर्विया तथा आस्ट्रिया के बीच एक निर्णायक युद्ध अवश्यम्भावी होने लगा।

विश्व-युद्ध का पूर्वाभिनय :—बोस्निया-काण्ड को प्रथम महायुद्ध के विध्वंस-कारी नाटक का पूर्वाभिनय (dress rehearsal) कहा जाता है। इस काण्ड की समाप्ति पर इस्वोल्स्की ने जर्मन-राजदूत से कहा था—"यह बात आप अच्छी तरह समझ लीजिए कि बिना संघर्ष किये इस निकट-पूर्व-समस्या का समाधान नहीं होने को है।" 1909 में रूस एक कमजोर देश था और आस्ट्रिया तथा जर्मनी के सामूहिक चुनौती को स्वीकार करने की स्थिति में नहीं था। रूस को बाध्य होकर झुकना पड़ा था। फिर भी सम्पूर्ण देश प्रतिशोध की भावना से पागल हो रहा था। यह बात ठीक है कि परिस्थिति के विपरीत होने के कारण रूस एक बार झुक गया; पर भविष्य में वह झुकने के लिए तैयार नहीं था। अब वह किसी भी मूल्य पर मध्य-यूरोपीय राष्ट्रों की चुनौती स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं था। अतः बोस्निया-काण्ड का महत्वपूर्ण परिणाम पाँच वर्ष बाद देखने को मिला। स्लाव-आन्दोलन के कारण जून, 1914 को बोस्निया में आस्ट्रिया के राजकुमार की हत्या हो गयी। आस्ट्रिया ने सर्विया को युद्ध के लिए चुनौती दी। इस कार्य में जर्मनी ने जी-जान से आस्ट्रिया का साथ दिया। लेकिन, इस बार रूस अपने अनुयायी को खतरा की स्थिति में छोड़नेवाला नहीं था। उसकी सैन्य-शक्ति काफी बढ़ चुकी थी। वह सर्विया की मदद देने के लिए रणक्षेत्र में कूद पड़ा। बोस्निया-काण्ड के समय में ही यह स्थिति स्पष्ट हो गयी थी कि युद्ध के नाटक में किस कलाकार को कौन-सा पार्ट अदा करना है। इन्हीं सब बातों को देखकर बोस्निया-काण्ड को प्रथम महायुद्ध के नाटक का 'पूर्वाभिनय' कहा जाता है।

* * *

बालकन-युद्ध

बालकन की स्थिति—बर्लिन-सन्धि के बाद बालकन-प्रायद्वीप की राजनीति में अभूतपूर्व सरगर्मी पैदा हो गयी थी। तुर्की-साम्राज्य के ईसाई लोग राष्ट्रीयता की भावना से प्रभावित होकर उबल रहे थे। उनका उद्देश्य राष्ट्रीय स्वतन्त्रता प्राप्त करना था। सर्विया, यूनान, बुल्गेरिया तथा रूमानिया स्वतन्त्र राष्ट्र हो चुके थे। पर बालकन-प्रायद्वीप में अभी असंख्य ऐसे यूनानी, सर्व, बुल्गर, रूमानियन, मैसीडोनियन, अल्वेनियन इत्यादि लोग थे जो परतन्त्रता की बेड़ी में जकड़े हुए थे। बालकन के एक बहुत बड़े भूभाग पर अभी भी आस्ट्रिया और तुर्की का साम्राज्य छाया हुआ था। बालकन-प्रायद्वीप के नवनिर्मित राज्य अपने स्वजातीय बन्धुओं को तुर्की और आस्ट्रिया की गुलामी से मुक्ति दिलाना चाहते थे। 'तरुण तुर्क'-क्रान्ति और बोस्निया-काण्ड के कारण उनके इस मनसूबे को एक बहुत-बड़ा धक्का लगा। बालकन-प्रायद्वीप के स्वतन्त्र राष्ट्र समझने लगे कि अब तुर्की चंगा हो रहा है। इसके फलस्वरूप यदि वह शक्तिशाली बन गया तो उनको अपने बन्धु-बान्धवों को मुक्ति दिलाना काफी कठिन हो जायगा। उधर आस्ट्रिया भी नये जोश के साथ इस क्षेत्र की राजनीति में उलझा हुआ था और स्लाव-नस्ल के लोगों के मूल्य पर अपना साम्राज्य फैलाने का प्रयत्न कर रहा था। आस्ट्रिया एक शक्तिशाली राज्य था और उससे लोहा लेना कोई आसान काम नहीं था।

1911 में इटली में ट्रिपोली पर हमला कर दिया। ट्रिपोली तुर्की-साम्राज्य का एक प्रदेश था। ट्रिपोली-युद्ध में तुर्की बुरी तरह परास्त हुआ। एक वर्ष के युद्ध के बाद ट्रिपोली इटली के अधीन आ गया। ट्रिपोली युद्ध के परिणामों से तुर्की की कमजोरी विश्व के सामने एक बार फिर प्रकट हो गयी। लोगों ने समझा था कि 'तरुण तुर्कों' के हाथ में शासन की बागडोर जाने से तुर्की की हालत कुछ सुधरेगी। लेकिन, यह एक भ्रम था। तुर्की की स्थिति ज्यों-की-त्यों बनी रही। इससे बालकन-राज्यों को बहुत बल मिला। वे समझ गये कि उनका शत्रु अभी उसी कमजोर स्थिति में है जिस स्थिति में वह अब्दुल हमीद के युग में था। बोस्निया-काण्ड के कारण सर्व-लोग काफी क्षुब्ध थे। सारा स्लाव-जगत भयंकर

क्रोध से भरा हुआ था। वाल्कन-राज्यों के सामने केवल एक ही समस्या थी। वे अपनी स्वजातियों को मुक्त करना चाहते थे। लेकिन, उनके दुश्मन काफी शक्तिशाली थे। तुर्की और आस्ट्रिया के सामने यूनान, सर्विया, बुल्गेरिया, रूमानिया इत्यादि की शक्ति फीकी पड़ जाती थी। ये राज्य अलग-अलग चलकर अपने सामान्य शत्रुओं का मुकावला नहीं कर सकते थे। अगर वाल्कन के स्वतन्त्र राष्ट्र आपस में मिलकर अपना एक संगठन कायम कर लें तो उनकी स्थिति काफी मजबूत हो जाती और वे शक्तिशाली शत्रु का मुकावला भी आसानी से कर सकते थे। 'वाल्कन संघ' का निर्माण इसी संगठन और एकता की भावना का परिणाम था।*

ऐरेनथाल की चालाकी से वोस्निया काण्ड के अवसर पर रूस की एक जवर्दस्त कूटनीतिक पराजय हुई थी। रूस इस वात को भूला नहीं। आस्ट्रिया से इस अपमान का वदला लेने की भावना उसमें वलवती होती रही। वाल्कन-प्रायद्वीप के राज्यों के प्रति रूस की स्वाभाविक सहानुभूति थी। रूस कुछ अपने स्वार्थ के कारण और कुछ स्लाव लोगों को मुक्त करने की भावना से प्रेरित होकर वाल्कन-प्रायद्वीप के ईसाई-राज्यों को हर हालत में मदद देने को तैयार रहता था। रूस को पूरा विश्वास था कि स्वतन्त्र होने के वाद वाल्कन के ये राज्य उसके हाथों की कठपुतली हो जायेंगे और वह उन्हें जैसा चाहेगा नचायेगा। वाल्कन-राज्यों की सवसे वड़ी कमजोरी थी संगठन का अभाव। ये आपस में ही लड़ा करते थे। शत्रु का मुकावला करने का यह तरीक नहीं होता है। रूस की इच्छा थी कि वाल्कन के राज्य आपस में मिलकर एक संगठन कायम करें और संयुक्त मोर्चा तैयार करके उसके नेतृत्व में अपने शत्रुओं का सामना करें। वाल्कन-प्रायद्वीप के पराधीन स्लावों के उद्धार का यही एकमात्र उपाय था।

वाल्कन संघ की स्थापना रूस की सरकार में इस नीति के प्रवल समर्थक वेलग्रेड स्थित रूसी राजदूत हार्टविग तथा सोफिया स्थित रूसी राजदूत नैक्लूडा थे। इन दोनों राजदूतों की सक्रिय मदद से सर्विया और बुल्गेरिया के बीच मार्च, 1912 में एक सन्धि हुई। सन्धि के अनुसार यह तय किया गया कि अगर किसी महान् राष्ट्र के द्वारा वाल्कन-प्रायद्वीप के किसी भाग पर आधिपत्य स्थापित करने का प्रयत्न किया गया तो वैसी स्थिति में दोनों हस्ताक्षरकारी एक दूसरे को सहायता देंगे और उस प्रयत्न का विरोध करेंगे। स्पष्ट है कि सन्धि का स्वरूप विल्कुल रक्षात्मक था; लेकिन इस समझौते में एक गुप्त धारा भी जोड़ दी गयी थी। इस धारा के अनुसार यह तय किया गया था कि अगर तुर्की-साम्राज्य में अव्यवस्था फैल जाय और तुर्की किसी युद्ध में फँस जाय, जिससे वाल्कन की स्थिति में परिवर्तन

*Mansergh : *The Coming of the First World War*, p, 185.

होने की कोई सम्भावना हो जाय तो वैसी स्थिति में, रूस की स्वीकृति मिल जाने की शर्त पर दोनों हस्ताक्षरकारी मिली-जुली कार्यवाही करेंगे। यह कार्यवाही सैनिक कार्यवाही भी हो सकती थी।

इसी तरह की मिलती-जुलती एक सन्धि 29 मई, 1912 को बुल्गेरिया और यूनान में हुई। सर्विया और बुल्गेरिया के बीच सन्धि मुख्यतः आस्ट्रिया के विरुद्ध थी। लेकिन यूनान और बुल्गेरिया के बीच यह सन्धि तुर्की के खिलाफ की गयी। 'बाल्कन संघ' का निर्माण इन्हीं दो सन्धियों के आधार पर हुआ। अगस्त के महीने में मान्टिनिग्रो को भी मौखिक रूप से इस संघ में शामिल कर लिया गया। इस तरह बाल्कन-प्रायद्वीप के चार राज्यों—यूनान, सर्विया, बुल्गेरिया और मान्टिनिग्रो को मिलाकर 'बाल्कन-संघ' की स्थापना की गयी, जिससे अगले दो वर्षों के लिए यूरोपीय शान्ति खतरे में पड़ी रही।

युद्ध की तैयारी—बाल्कन-संघ की स्थापना केवल एक ही उद्देश्य से की गयी थी। तुर्की की निर्बलता और आन्तरिक झगड़ों से लाभ उठाकर संघ के सदस्य तुर्की पर हमला करना चाहते थे और तुर्की को परास्त करके विजित प्रदेशों को आपस में बाँट लेना चाहते थे। मैसिडोनिया के प्रदेशों को किस ढंग से आपस में बाँटा जायेगा, यह भी स्पष्ट रूप से तय कर लिया गया। इस गुप्त समझौते में रूस बाल्कन-राज्यों की पीठ पर था। पर यह कहना गलत होगा कि रूस इन बाल्कन राज्यों को तुरत ही तुर्की पर हमला कर देने को प्रोत्साहित कर रहा था। इस्वोल्स्की के पदत्याग के बाद सेजोनाव रूस का विदेश-मन्त्री बना था। 'बाल्कन-संघ' कायम होने के बाद उसने इसके सदस्यों को धैर्य रखने की राय दी; क्योंकि जिन संधियों के आधार पर इस संघ का निर्माण हुआ था उनका स्वरूप रक्षात्मक नहीं था और उनको कार्यान्वित करने से यूरोप की राजनीति में और विषम समस्या उपस्थित होने की सम्भावना थी। इस समय पोअन्कारे रूस गया हुआ था। सेजोनाव ने जब उसको इन सन्धियों की शर्तों से अवगत कराया तो वह बोल उठा—"इसमें केवल तुर्की के विरुद्ध ही नहीं; पर आस्ट्रिया के विरूद्ध भी युद्ध के बीज हैं।" पोअन्कारे ने सेजोनाव को राय दी कि वह बाल्कन-संघ पर दबाव डाले कि वह कोई ऐसा कार्य नहीं कर बैठे जिसमें यूरोप की शान्ति भंग हो जाय। पर बाल्कन के राज्य किसी की बात सुनने को तैयार नहीं थे। वे युद्ध की तैयारी करने लगे।*

प्रथम बाल्कन युद्ध—झगड़ा मैसिडोनिया की समस्या को लेकर शुरू हुआ। बर्लिन-सन्धि के अनुसार मैसिडोनिया तुर्की-साम्राज्य का एक अंग बना रहा। इस प्रदेश में मुख्यतः तीन जातियों—बुल्गर, सर्ब और यूनानी—का निवास था। इस

* Gooch : *History of Modern Europe*, p. 332

कारण सर्विया, बुल्गेरिया और यूनान तीनों मेसिडोनिया की स्थिति में दिलचस्पी रखते थे। तीनों की आँखें इस प्रदेश पर गड़ी हुई थीं और तीनों इसके भूभागों को अपने राज्य में मिलाने का प्रयास कर रहे थे। इस काम में बुल्गेरिया सर्वप्रथम अग्रसर हुआ। उसने मेसिडोनिया में क्रान्तिकारी पार्टियों का संगठन किया। क्रांतिकारी लोग मेसिडोनिया में काफी उत्पात मचाते थे। इन उत्पातों को दबाने के लिए तुर्की सरकार उन पर भीषण अत्याचार करती थी। जब तुर्की का अत्याचार असह्य हो गया तो यूरोप के महान् राष्ट्रों ने 1903 में मेसिडोनिया के मामले में हस्तक्षेप कर उसकी शासन-व्यवस्था में कुछ परिवर्तन कर दिये। इस परिवर्तन के फलस्वरूप मेसिडोनिया में कुछ दिनों के लिए शान्ति स्थापित हुई। पर, 1908 में इस योजना का परित्याग कर दिया गया। परिणाम यह हुआ कि वहाँ फिर अव्यवस्था हो गयी और बुल्गेरिया, सर्विया तथा यूनान यथापूर्व मेसिडोनिया में उत्पात मचाने लगे। तीनों ही मेसिडोनिया के अधिक से अधिक भाग पर आधिपत्य कायम करना चाहते थे। इसी उद्देश्य से 'बाल्कन-संघ' की स्थापना की गयी थी। मेसिडोनिया में इन तीनों राज्यों के सम्मिलित उत्पात के फलस्वरूप वहाँ पुनः अराजकता फैल गयी। इस समय तक 'तरुण तुर्क-दल' के हाथों में तुर्की के शासन की बागडोर आ चुकी थी। इन लोगों ने बड़ी क्रूरता के साथ मेसिडोनिया के आन्दोलन को दबाना शुरू किया। तुर्की का दमन असह्य हो गया। 'बाल्कन-संघ' ने इसका विरोध किया। संघ की माँग थी कि तुर्की अविलम्ब 1903 के सुधारों को पुनः कार्यान्वित करे। तुर्की ने इन मांगों को मानने से इन्कार कर दिया। इसके बाद 'बाल्कन-संघ के मित्रराष्ट्रों ने मिलकर चारों तरफ से अक्टूबर, 1929 में तुर्की पर आक्रमण कर दिया। यह प्रथम बाल्कन-युद्ध था।

यूरोप के महान् राष्ट्रों ने भरसक कोशिश की कि बाल्कन-प्रायद्वीप में किसी प्रकार का युद्ध नहीं छिड़े और यथास्थिति बनी रहे। युद्ध के आरम्भ होने के कुछ ही दिन पहले सेजोनाव पेरिस पहुँचा था। फ्रांसीसी सरकार की आग्रह पर वहाँ से उसने यह घोषणा की कि वह यूरोप के सभी महान् राष्ट्रों की ओर से बाल्कन-राज्यों को यह सूचना देता है कि वे कभी भी युद्ध नहीं होने देंगे और यथासम्भव यथा-स्थिति को बनाये रखने के निश्चय पर दृढ़ता से बने रहेंगे। कुछ दिनों के बाद यूरोप के अन्य राष्ट्रों के आग्रह पर आस्ट्रिया और रूस के द्वारा बाल्कन-राज्यों को यह सूचना दे दी गयी कि वर्त्तमान स्थिति में युद्ध के उत्पन्न होनेवाले किसी परिवर्तन को वे कभी मान्यता नहीं देंगे।* लेकिन बाल्कन-राज्य महान् राष्ट्रों की धमकियों की परवाह नहीं करनेवाले थे। रूस के बहकाने पर ही इन राष्ट्रों ने ऐसा उग्र रूप धारण कर लिया था। अब इनको रोकना रूस के हाथ के बाहर की बात थी;

*Brandenburg : *From Bismarck to the Great War*, p. 318

जैसा कि युद्ध छिड़ने पर पोअन्कारे ने कहा था—"रूस ने गाड़ी को चला दिया। अब वह उसको रोकना चाहता है। लेकिन यह गाड़ी अब रुकनेवाली नहीं है।"* अतः यूरोप के महान् राष्ट्रों के मना करने पर भी बाल्कन-राज्यों ने तुर्की पर आक्रमण कर दिया।

चारों ओर से तुर्की पर चढ़ाई हुई। बाल्कन के चार राज्यों की सम्मिलित सेना का मुकाबला करने में तुर्की असमर्थ था। हर जगह उसकी पराजय हुई। बुल्गेरिया की सेना कान्स्टेन्टिनोप्ल तक पहुँच गयी। यूनान ने सेलोनिका पर अपना अधिकार जमाया। मान्टिनिग्रो अल्बेनिया पर जा धमका। सबसे अधिक सफलता सर्विया को मिली। वह अल्बेनिया को जीतते हुए एड्रियाटिक के तट तक जा पहुँचा।

सर्विया की असाधारण विजय देखकर आस्ट्रिया जलने लगा। उसका कट्टर दुश्मन ऐड्रियाटिक के तट पर पहुँच गया था। आस्ट्रिया अब सर्विया की और सफलता देखने को तैयार नहीं था। सर्विया को डराने के लिए उसने यह धमकी दी कि यदि वह और आगे बढ़ा तो आस्ट्रिया बाल्कन-युद्ध में हस्तक्षेप कर देगा। आस्ट्रिया अपनी सेना को सर्विया की सीमा पर एकत्र करने लगा। उधर रूस भी सैनिक तैयारी करने लगा। बाल्कन-समस्या पर एक बार पुन यूरोपीय युद्ध की पूर्ण सम्भावना हो गयी। लेकिन शान्ति के मित्र इस समय अपना काम कर रहे थे। उनका विचार था कि बाल्कन-युद्ध को यूरोपीय युद्ध में परिणत होने से रोका जाय। इस दिशा में जर्मनी और फ्रांस दोनों के कार्य प्रशंसनीय हैं। केसर ने फ्रांसिस जोसेफ को साफ-साफ शब्दों में बतला दिया कि "वह अल्बेनिया के लिए पेरिस अथवा मास्को पर चढ़ाई नहीं करेगा।" उसने बेथमान-हौलवेग को बतलाया कि "युद्ध को रोकने के लिए यह आवश्यक है कि वियना पर जोरदार दबाव डाला जाय; परन्तु हम यह भी स्पष्ट कर दें कि यदि हमारे साथी पर हमला किया गया तो हम उसकी सहायता करेंगे।" फ्रांस भी शान्ति के लिए उतना ही इच्छुक था; फिर भी पोअन्कारे ने इस्वोल्स्की को यह आश्वासन दे दिया कि यदि आस्ट्रिया ने रूस के विरूद्ध युद्ध की घोषणा कर दी और उसमें उसको जर्मनी का समर्थन प्राप्त हुआ, तो फ्रांस अपने उत्तरदायित्वों को पूरा करेगा। इसी बीच स्थिति को सुधारने के लिए फ्रांस एक सम्मेलन बुलाने का प्रयास भी करने लगा।

राजदूतों का लन्दन सम्मेलन—उधर युद्ध के मैदान में तुर्की की बुरी हालत हो रही थी। उसने शान्ति की याचना की। विजयी राष्ट्र तुर्की से बड़ी-बड़ी माँगे करने लगे। इस पर तुर्की ने वार्तालाप को भंग कर दिया और युद्ध पुनः शुरू हो गया। इस युद्ध में भी तुर्की की वही हालत हुई जो पहले हुई थी। तुर्की को पुनः

* Mansergh : *The Coming of the First World War*, p. 187

शान्ति की याचना करनी पड़ी। इस बीच पोअन्कारे युद्ध को बन्द कराने के लिए काफी प्रयत्न कर रहा था। अन्त में उसको अपने प्रयत्नों में सफलता मिली। यूरोप के महान् राष्ट्रों के द्वारा प्रथम बाल्कन-युद्ध से उत्पन्न स्थिति पर विचार करने के लिए लन्दन में एक अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन का आयोजन किया गया। दिसम्बर, 1912 में सर एडवर्ड ग्रे के सभापतित्व में लन्दन में राजदूतों का एक सम्मेलन बाल्कन की नयी समस्या पर विचार करने के लिए प्रारम्भ हुआ। सम्मेलन ने बाल्कन-प्रायद्वीप के राजनीतिक नक्शे को पुनः नये सिरे से तैयार किया। इसका एकमात्र परिणाम यह हुआ कि यूरोप से तुर्की का प्रभुत्व सदा के लिए उठ गया और बाल्कन-प्रायद्वीप तुर्की के शासन से प्रायः स्वाधीन हो गया। प्रत्येक बात पर सम्मेलन में भाग लेनेवाले प्रायः एकमत थे। केवल एक ही बात पर झगड़ा था और इसका रूप इतना भयानक हो गया कि यूरोपीय युद्ध की सम्भावना फिर बढ़ गयी। एड्रियाटिक सागर के उत्तरी तट और इसके इर्द-गिर्द अल्बेनिया के कुछ भू-भाग को लेकर एक बवंडर उठ खड़ा हुआ। सर्बिया ने इन प्रदेशों को जीता था; अतः वह इन पर अपना दावा करता था। पर आस्ट्रिया इसका घोर विरोध करता था। सर्बिया की बढ़ती हुई शक्ति को रोकने के उद्देश्य से आस्ट्रिया एक स्वतन्त्र अल्बेनिया के सृजन के पक्ष में था। सर्बिया और आस्ट्रिया दोनों अपनी जिद्द पर अड़े हुए थे। ब्रिटेन, फ्रांस और रूस सर्बिया का पक्ष ले रहे थे और जर्मनी अपने मित्र आस्ट्रिया को मदद दे रहा था। तीन महीनों तक इस समस्या पर विचार-विमर्श होता रहा, लेकिन कठिनाई ज्यों-की त्यों बनी रही। अन्त में सर एडवर्ड ग्रे के एक सुझाव से इस प्रश्न का एक समाधान हो गया। स्वतन्त्र अल्बेनिया के सृजन को सिद्धान्त के रूप में मान लिया गया; लेकिन इसकी सीमा-निर्धारण का काम भविष्य के लिए छोड़ दिया गया।

लन्दन-सम्मेलन को सफल बनाने के लिए सभी राष्ट्रों ने प्रयत्न किये थे। जब आस्ट्रिया अल्बेनिया के प्रश्न पर डटा हुआ था तो कैसर ने झुँझलाकर कहा था—"मुझे ऐसी कोई बात दिखलायी नहीं पड़ती जिसके कारण आस्ट्रिया की मानहानि हो रही है। आस्ट्रिया की जिद्द बेकार है।"* वास्तव में ब्रिटेन और जर्मनी सम्मेलन के शुरू से अन्त तक पूर्ण सहयोग की भावना से काम करते रहे। सर एडवर्ड ग्रे ने शान्ति बनाये रखने में महत्त्वपूर्ण योग दिया। जर्मनी में सर एडवर्ड ग्रे के इस कार्य के लिए कृतज्ञता प्रकट की गयी। इस बार जर्मनी ने भी आस्ट्रिया को 'ब्लैंक चेक' नहीं प्रदान किया। ऐसा लगने लगा कि जर्मनी की विदेश-नीति आस्ट्रिया के प्रभाव से मुक्त हो रही है। रूस भी इस बार अपने ऊपर काफी नियन्त्रण किये रहा और शान्ति के समर्थकों के साथ सहयोग किया। रूस को बुल्गेरिया की प्रगति से काफी

* Fay : *Origins of the World War*, pp. 450-51

भय हो रहा था। इधर हाल से बुल्गेरिया कान्स्टेन्टिनोप्ल पर अपना झण्डा फहराने का स्वप्न देख रहा था। इसलिए रूस नहीं चाहता था कि वाल्कन के इन छोटे राज्यों की शक्ति इतनी बढ़ जाय कि वे अपने नेता को ही अवहेलना की दृष्टि से देखने लगें।

द्वितीय वाल्कन-युद्ध—राजदूतों का लन्दन-सम्मेलन वाल्कन-समस्या का कोई सन्तोषजनक समाधान नहीं निकाल सका। खासकर मैसिडोनिया का प्रश्न स्थगित कर दिया गया था। सम्मेलन ने यद्यपि इस वात को निश्चित कर दिया था कि मैसिडोनिया अव तुर्की के अधीन रहेगा; पर उसके भावी रूप की व्याख्या नहीं की गयी थी। इस वात का निर्णय वाल्कन-प्रायद्वीप के विविध राज्यों के हाथ में छोड़ दिया गया। मैसिडोनिया में तरह-तरह की जातियां निवास करती थीं। उसकी अधिकांश जनसंख्या बुल्गर थी। बुल्गर लोगों के वाद सर्बों का स्थान था। बुल्गेरिया और सर्विया मैसिडोनिया के अधिक से अधिक भाग पर अपना अधिकार जमाना चाहते थे। यूनान भी अपना कुछ हिस्सा चाहता था; क्योंकि इस प्रदेश में यूनानी लोग भी निवास करते थे। ऐसी स्थिति में मैसिडोनिया को परस्पर वाँट सकना वाल्कन-राज्यों के लिए सुगम कार्य न था। उनमें परस्पर वैर-विरोध बढ़ने लगा। बुल्गेरिया और सर्विया किसी भी प्रकार एक दूसरे से सहमत नहीं हो सके। आस्ट्रिया इस ताक में था कि वाल्कन-संघ के सदस्य आपस में इतना लड़े कि उनकी एकता भंग हो जाय। अतः, वह अपनी कूटनीति से उनमें फूट डालने लगा। मैसिडोनिया के प्रश्न पर उनके वीच घोर मतभेद था। जव वार्तालाप के द्वारा इस प्रश्न का फैसला नहीं हो सका तो दोनों पक्षों ने ताकत आजमाने का निश्चय किया। जून, 1913 में बुल्गेरिया ने अपने पुराने दोस्त सर्विया के विरूद्ध युद्ध घोषित कर दिया।* यह द्वितीय वाल्कन-युद्ध था।

बुखारेस्ट की संधि—इस युद्ध में सर्विया अकेला नहीं रहा। यूनान, रूमानिया तथा मान्टिनिग्रो की सेनाएँ उसकी मदद के लिए आ गयीं। अतः एक ही महीने में इस युद्ध का अन्त हो गया। बुल्गेरिया चारों तरफ से मित्र राष्ट्रों के द्वारा घेर लिया गया। वह परास्त होकर सन्धि करने के लिए तैयार हो गया। बुल्गेरिया अपनी शक्ति की परीक्षा कर असफल हो चुका था। इसलिए अव परस्पर समझौता करना सुगम हो गया। दोनों पक्षों के प्रतिनिधि रूमानिया की राजधानी बुखारेस्ट में संधि की वातचीत के लिए एकत्र हुए। सम्मेलन के सामने केवल मैसिडोनिया के वँट-वारे का प्रश्न था। बुल्गेरिया पराजित होकर सम्मेलन में सम्मिलित हुआ था। अतः सम्मेलन में उसकी एक भी नहीं चली। सर्विया और मान्टिनिग्रो को सवसे अधिक हिस्सा प्राप्त हुआ। इसके राज्य अव करीव-करीव दुगुने हो गये। यूनान को मैसि-डोनिया का सैलोनिक प्रदेश प्राप्त हुआ। शेष मैसिडोनिया बुल्गेरिया को प्राप्त हुआ।

* Gooch : *History of Modern Europe*, pp. 336-37.

बाल्कन-युद्ध के परिणाम

दो वाल्कन-युद्धों के फलस्वरूप वाल्कन-प्रायद्वीप का रूप-रंग पहले से बिल्कुल बदल गया। यूरोप में तुर्की का साम्राज्य एकदम समाप्त हो गया। अब उसका आधिपत्य केवल कान्स्टेन्टिनोप्ल, एड्रिआनोप्ल तथा डार्डेनल्स और वोस्फोरस पर ही रह गया। रूमानिया, सर्विया, बुल्गेरिया, यूनान इन सभी देशों के क्षेत्रफल और आवादी दोनों काफी बढ़ गये। वाल्कन-राज्यों की राष्ट्रीय आकाँक्षा बहुत हद तक पूरी हो गयी। इनके कुछ और भी परिणाम हुए, जो यूरोपीय शांति के लिए शुभ नहीं थे। सम्पूर्ण बुल्गेरिया क्रोध में आग बबूला हो रहा था। बुखारेस्ट की सन्धि से उसको बहुत नीचा देखना पड़ा था। यद्यपि इससे वाल्कन राज्यों के बीच शान्ति स्थापित हो गयी थी, तथापि विविध राज्यों के पारस्परिक द्वेष तथा ईर्ष्या का अन्त नहीं हुआ था। विशेषकर बुल्गेरिया अपने अपमान का बदला लेने के लिए बहुत बेचैन था। वह भलीभांति अनुभव करता था कि सर्विया, यूनान और रूमानिया ने उसे नीचा दिखाया है। बुल्गेरिया उन राज्यों से अपने राष्ट्रीय अपमान का प्रतिशोध लेने के अवसर की ताक में रहता था।

वाल्कन-युद्धों के फलस्वरूप यूरोप के देशों की स्थिति में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए। बुल्गेरिया अभी तक रूस को अपना नेता मानता आ रहा था। रूस की सद्भावना भी बुल्गेरिया को प्राप्त थी; पर द्वितीय वाल्कन-युद्ध में रूस ने दिल खोलकर बुल्गेरिया के विरूद्ध सर्विया की मदद की। इससे वह रूस से दूर हटने लगा और आस्ट्रिया की मित्रता का इच्छुक बन गया। तुर्की को भी वाल्कन-युद्ध से बड़ी निराशा हुई। जर्मनी को छोड़कर यूरोप का कोई भी महान् देश उसकी रक्षा करने के लिए तैयार नहीं था। अतः, तुर्की जर्मनी पर पूरी तरह से आश्रित हो गया।

वाल्कन-युद्ध से सबसे अधिक लाभ सर्विया को हुआ था।* आवादी और क्षेत्रफल की दृष्टि से सर्विया अब एक बहुत बड़ा देश हो चुका था। उसकी अधिकांश महत्त्वाकांक्षाएँ पूरी हो चुकी थीं। अब उसकी केवल एक ही इच्छा थी। किसी तरह अपने घृणित दुश्मन आस्ट्रिया के साथ वह निवट लेना चाहता था। बुखारेस्ट-सन्धि के अवसर पर सर्विया के प्रतिनिधि ने कहा भी था – "एक बाजी तो हमलोग जीत गये। अब दूसरी बाजी की तैयारी करनी है और वह आस्ट्रिया के साथ होगी।"† आस्ट्रिया के लिए ये शब्द चेतावनी के थे। अगर सर्विया केवल अपने बल पर इस तरह की बातें करता तो आस्ट्रिया को कोई परवाह नहीं थी। किन्तु वियना के नीति-निर्धारक इस बात को अच्छी तरह जानते थे कि सर्विया की पीठ

* Fay : *Origins of the First World War*, p. 445.

† N. Mansergh : *The Coming of the First World War*, p. 391.

पर विशाल रूस का वरदहस्त है। रूस का उद्देश्य भी किसी से छुपा हुआ नहीं था। बाल्कन-युद्ध के बाद बेलग्रेड स्थित रूसी राजदूत ने कहा था—'तुर्की का काम तमाम हो गया। अब आस्ट्रिया की बारी है।' तुर्की की तरह आस्ट्रिया को भी खत्म करने के लिए रूस तैयार बैठा था।

बाल्कन-युद्धों के फलस्वरूप आस्ट्रिया के साथ-साथ जर्मनी भी सर्बिया का विरोधी बन गया। केवल आस्ट्रिया ही सर्बिया का नाश नहीं चाहता था, जर्मनी भी उसका शत्रु बन गया था। जिस प्रकार वह सेलोनिका के मार्ग में आस्ट्रिया के लिये बाधक था उसी प्रकार वह कान्स्टेन्टीनोप्ल के मार्ग में जर्मनी के लिये भी बाधक था। इस प्रकार द्वितीय बाल्कन-युद्ध के परिणाम आस्ट्रिया और जर्मनी के लिये अत्यन्त अरुचिकर एवं निराशाजनक हुए। बुखारेस्ट की सन्धि को भंग करने के लिये स्वयं उनका हस्तक्षेप अनिवार्य हो गया। सन्धि होने के बाद से ही निस्सन्देह वे युद्ध के लिये कटिबद्ध हो गये और केवल अवसर तथा बहाने की प्रतीक्षा करने लगे।* आस्ट्रिया ने तो सन्धि के तीसरे दिन ही इटली को सर्बिया के विरुद्ध कार्यवाही करने के अपने इरादे की सूचना दी थी और सन्धि के अनुसार सहयोग की माँग की थी परन्तु इटली के इन्कार करने पर युद्ध रुक गया था। जर्मनी ने भी उसे रोक दिया था। परन्तु इससे उसके विचार में कोई परिवर्तन नहीं हुआ था। कान्स्टेन्टीनोप्ल तथा सेलोनिका के मार्ग की मुख्य बाधा—सर्बिया—को नष्ट करना प्रमुख चिन्ता का विषय बनी रही।

इस प्रकार, 1912-13 के बाल्कन-युद्धों तथा उनके प्रभाव पर जो सबसे अच्छी राय प्रकट की जा सकती है वह यही है कि युद्ध में शामिल किसी भी राष्ट्र को, चाहे वह विजयी रहा हो या पराजित हुआ हो, विश्वास नहीं था कि उनके प्रदेश-वितरण सम्बन्धी निर्णय स्थायी होंगे। सभी इन सन्धियों को व्यर्थ समझते थे और सभी को आशा थी कि शीघ्र ही दूसरा युद्ध छिड़ेगा।†

प्रथम और द्वितीय बाल्कन-युद्ध का एक और महत्त्व है। उन्हें 1914 के यूरोपीय-युद्ध की भूमिका कहा जाता है। कभी-कभी तो प्रथम विश्व-युद्ध को ही "तृतीय बाल्कन-युद्ध" कहा जाता है। आगे के पृष्ठों के पढ़ने से यह तथ्य स्पष्ट हो जायगा कि किस तरह इसी बाल्कन समस्या से उत्पन्न परिस्थितियों से प्रथम विश्व-युद्ध का आरम्भ हुआ।

---

* Hearnshaw : *Main Currents of European History*. p. 29.

† Grant and Temperley : *Europe in the Nineteenth and Twentieth Centuries*, pp. 380-83

सेराजवो की हत्या

बाल्कन की स्थिति—

एक समय विस्मार्क ने हरबालिन नामक एक व्यक्ति से कहा था– 'मैं विश्व-युद्ध को अपनी आँखों से नहीं देख सकूँगा; लेकिन आप देखेंगे और यह निकटपूर्व (Near East) से शुरू होगा।" कुछ अन्य भविष्यवाणियों की तरह विस्मार्क की यह भविष्यवाणी भी अक्षरशः सत्य निकली। नेपोलियन के पतन के बाद से बाल्कन-प्रायद्वीप में राजनीतिक बेचैनी शुरू हुई थी और बीसवीं शताब्दी के आते-आते उसने इतना भीषण रूप धारण कर लिया कि बाल्कन-प्रायद्वीप यूरोप का ज्वालामुखी कहा जाने लगा। यूरोप के विविध राज्यों द्वारा पैतराबाजी करने तथा ताकत आजमाने के लिए यह क्षेत्र एक अखाड़ा बन गया। जहाँ एक ओर बाल्कन-राज्य एक दूसरे के साथ संघर्ष कर यूरोप की शान्ति को सदा खतरे में रखते थे, वहाँ दूसरी ओर शक्तिशाली यूरोपीय राज्यों की महत्त्वाकांक्षाएँ इस प्रायद्वीप में एक दूसरे से टकराती थीं। इन कारणों से बीसवीं सदी के प्रारम्भिक भाग में यह खतरा हमेशा बना रहता था कि बाल्कन-समस्या न जाने कब गम्भीर रूप धारण कर ले। बाल्कन-युद्ध के समय आस्ट्रिया और रूस दोनों पैतरे बदलते हुए अनेक बार एक दूसरे के समीप आ गये थे। इस युद्ध के अवसर पर यूरोपीय राज्यों के दोनों गुटों को अपनी शक्ति आजमाने के लिए अनेक अवसर प्राप्त हुए, जिसके फलस्वरूप युद्ध की काली घटाएँ यूरोपीय नभमंडल में मँडराने लगीं। यह यूरोपीय-शान्ति का सौभाग्य था कि उनकी तलवारें टकराने से बाल-बाल बच गयीं।

बाल्कन-युद्ध समाप्त हो गया; पर अपने पीछे विरोध और विद्वेष का एक कटु वातावरण छोड़ता गया। एक तरफ बुल्गेरिया गुस्सा से काँप रहा था तो दूसरी तरफ बोस्निया-हर्जेगोविना के स्लाव लोगों को आस्ट्रिया के चंगुल से मुक्ति दिलाने के लिए सर्बिया का हौसला बढ़ रहा था। सभी देश उपयुक्त अवसर की ताक में थे। अपने संस्मरण में सर ग्रे ने लिखा है—"सन् 1912-13 में यूरोपीय राजनीति का प्रवाह युद्ध की दिशा में बहा चला जा रहा था। आस्ट्रिया और रूस अन्य यूरोपीय राज्यों को भी इसी प्राणनाशक दिशा में घसीटकर अपने साथ लिये जा रहे थे। तूफान से बचने के लिए हमलोग बीच धारा में कभी-कभी लंगर डाल दिया करते थे। लेकिन बाल्कन का तूफान प्रचण्ड रूप धारण कर रहा था।"* सर

* Sir Edward Grey : *Twenty Five years, p. 110*

ग्रे का यह शोकयुक्त और विषादपूर्ण विचार बाल्कन-प्रायद्वीप के घटनाओं से शत प्रतिशत ठीक सिद्ध हुआ। 1914-18 का यूरोपीय महायुद्ध पहले एक सामान्य बाल्कन-युद्ध के रूप में प्रकट हुआ था। पर विविध साम्राज्यवादी राज्यों के हस्तक्षेप के फलस्वरूप यह युद्ध शीघ्र ही यूरोपीय और फिर विश्वव्यापी युद्ध के रूप में परिवर्तित हो गया। अगर यह युद्ध 1912-13 में छिड़ गया रहता तो कोई आश्चर्यजनक घटना नहीं होती। यूरोप के दोनों गुट युद्ध के लिए पूर्ण रूप से तैयार थे। बारूद बिल्कुल सूखी हुई थी। उसे केवल एक चिनगारी की आवश्यकता थी। प्रिन्सिप की पिस्तौल से जून, 1914 में यह चिनगारी भी पैदा हो गयी।

'वृहत् सर्बिया' का आन्दोलन—बाल्कन-युद्धों के बाद सर्बिया का राष्ट्रीय आन्दोलन बाल्कन-प्रायद्वीप की राजनीति को सुलगाये रहा। 1908 में आस्ट्रिया ने बोस्निया और हर्जेगोविना के प्रदेशों पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया था। इन प्रदेशों के अधिकांश निवासी सर्व जाति के थे। वे आस्ट्रिया के अधीन नहीं रहना चाहते थे। उनकी इच्छा भी सर्बिया के साथ मिल जाने की थी। बोस्निया और हर्जेगोविना के राष्ट्रवादी सर्व हमेशा इसी प्रयत्न में लगे रहते थे कि बाल्कन-प्रायद्वीप के विभिन्न प्रदेशों में निवास करनेवाले सर्व-लोग सर्बिया को केन्द्र बनाकर अपने शक्तिशाली एवं विशाल सर्व-राष्ट्र का निर्माण करें। सरकारी तौर पर सर्बिया की सरकार द्वारा भी ऐसा ही प्रयत्न होता था। सर्बिया के शासक बोस्निया-हर्जेगोविना को अपना एल्सस-लोरेन मानते थे। आस्ट्रिया के चंगुल से इन प्रदेशों को मुक्त करना सर्बिया का वैसा ही कर्त्तव्य था जैसे जर्मनी के चंगुल से एल्सस-लोरेन को मुक्ति दिलाना फ्रांस अपना कर्त्तव्य समझता था। इसके अतिरिक्त सर्बिया अपने को सर्व-जगत का पिडमौण्ट समझता था। जिस प्रकार पिडमौण्ट ने नेतृत्व करके सारे इटली का एकीकरण किया था उसी प्रकार सर्बिया भी अपने को केन्द्र बनाकर समूचे सर्व—जगत को एक सूत्र में बाँधने की अभिलाषा रखता था। आस्ट्रिया इस बात को भली—भाँति जानता था। अतः वह किसी भी विपत्ति का सामना करने के लिए तैयार था। आस्ट्रिया के लिए बोस्निया और हर्जेगोविना जीवन—मरण का प्रश्न था। बोस्निया-हर्जेगोविना की स्वतंत्रता राष्ट्रीयता के सिद्धांत पर माँगी जा रही थी; लेकिन राष्ट्रीयता का सिद्धांत आस्ट्रिया—साम्राज्य के लिए जहर था। विशाल आस्ट्रिया—साम्राज्य में विविध जातियाँ निवास करती थीं। अगर सर्व-राष्ट्रीयता के आधार पर बोस्निया—हर्जेगोविना को मुक्त कर दिया गया तो साम्राज्य की दूसरी जातियाँ भी इसी सिद्धांत के आधार पर अपनी स्वतंत्रता माँग सकती थीं। इसका अर्थ होता है सम्पूर्ण आस्ट्रिया—साम्राज्य का विनाश। यह एक ऐसा

रूस को वह हर हालत में मदद करने को तैयार रहे। इस प्रयास में इस्वोल्स्की को बहुत अंश तक सफलता भी प्राप्त हुई। समय के साथ-साथ द्विगुट दृढ़ होने लगा। यूरोपीय शान्ति के लिए यह कोई शुभ लक्षण नहीं था। फ्रांस के मन्त्रालय में पोअन्कारे के आने से यह गुट और भी सुदृढ़ होने लगा। पोअन्कारे लॉरेन में पैदा हुआ था और जब उसकी उम्र केवल दस वर्ष की थी उसी समय जर्मनी ने लॉरेन पर हमला करके उसे अपना अधिकृत क्षेत्र बना लिया था। पोअन्कारे के दिमाग में इस बात की याद ताजी थी। प्रतिशोध की भावना से ग्रसित फ्रांस के राजनेताओं का वह प्रतिनिधि था। वह रूस की मित्रता का बहुत बड़ा इच्छुक था और उसको सुदृढ़ बनाने में उसने कोई कसर उठा नहीं रखी। जिस समय फ्रांस की सत्ता उसके हाथों में आयी उस समय से फ्रांस बाल्कन की राजनीति में आवश्यकता से अधिक दिलचस्पी लेने लगा। रूस अब इस क्षेत्र में भी फ्रांस की सहायता पर निर्भर हो सकता था। इसका परिणाम यह हुआ कि रूस भी आस्ट्रिया की तरह बाल्कन-प्रायद्वीप में उग्र नीति का अवलम्बन करने लगा और अन्ततः बाल्कन की स्थिति नाजुक होने लगी।

ब्रिटेन भी किसी-न-किसी रूप में फ्रांस और रूस के गुट का सदस्य हो चुका था। मारक्को-काण्ड और उसके पश्चात् अगादीर-काण्ड के बाद आंग्ल-फ्रांसीसी समझौता भी नयी रूप धारण कर रहा था। इस समझौते के बाद फ्रांस और ब्रिटेन के सैनिक विशेषज्ञों में सैनिक विषयों पर बातचीत चल रही थी। प्रारम्भ में यह वार्त्तालाप बिल्कुल अनौपचारिक रूप से शुरू हुआ था। लेकिन जैसे-जैसे समय बीतता गया, यूरोपीय रंगमंच पर संकट आने-जाने लगे, वैसे-वैसे इस सैनिक वार्त्तालाप का रूप-रंग भी बदलने लगा। यह वार्त्तालाप पीछे चलकर इस आधार पर होने लगा कि जर्मनी के साथ युद्ध की सम्भावना है और इसका मुकाबला करने के लिए उन्हें तैयार रहना चाहिए। ब्रिटेन का कहना था कि इन वार्त्तालापों से वह किसी तरह वचनबद्ध नहीं है कि मौका पड़ने पर फ्रांस की मदद को जाय। लेकिन फ्रांस में इसका दूसरा ही अर्थ लगाया जाता था। फ्रांसीसियों की दृष्टि में ये वार्त्तालाप ब्रिटेन को वचनबद्ध कर रहे थे। अगस्त, 1914 के प्रारम्भिक दिनों में जब युद्ध के काले बादल यूरोप में मंडराने लगे और जब ब्रिटेन अपने साथियों की मदद करने में कुछ हिचकिचाने लगा तो फ्रांसीसी राजदूत कैम्बो ने कहा—'ब्रिटेन वचनबद्ध है। अगर वह इसको इन्कार करता है तो मैं यही कहूँगा कि अँगरेजी शब्दकोष से 'वचन निभाना' शब्द को हटा दिया जाय।"*

फ्रांस और रूस के साथ ब्रिटेन के गठबन्धन को मजबूत होने का एक और कारण भी था। जर्मनी की शक्ति और प्रभाव दिनोंदिन बढ़ रहा था। इसमें

* Harold Nicolson : *A Study of the Old Diplomacy* p. 330

जर्मनी का उद्देश्य युद्ध प्रारम्भ करना नहीं था। प्रोफेसर ब्रेन्डेनवर्ग ने ठीक ही कहा है कि अगर जर्मनी की अभिलाषा युद्ध छेड़ने को रहती तो वह 1905 में ही ऐसा कर सकता था, क्योंकि उस समय तक फ्रांस पूरी तरह तैयार नहीं हुआ था, आंग्ल-फ्रांसीसी समझौता अभी सुदृढ़ नहीं हुआ था और रूस जापान से हार कर पस्त पड़ा हुआ था। जर्मनी केवल डरा धमकाकर अपना काम निकालना चाहता था। यह प्रवृत्ति ब्रिटेन में काफी खतरनाक मानी जाती थी। जर्मनी की नीति कुछ ऐसी थी जिसका मतलव ब्रिटेन में यह लगाया जाता था कि वह सम्पूर्ण विश्व पर अपना आधिपत्य जमाने पर तुला हुआ है। अंतर्राष्ट्रीय संकटों के समय अगर जर्मनी अपना रुख बदलता था तो वह इसी वजह से कि ब्रिटेन दिल-जान से अपने साथियों की मदद करता था। अगर ब्रिटेन संकटापन्न स्थिति में अपने साथियों को छोड़ दे तो उसका नतीजा क्या होता—उसका यूरोपीय राजनीति पर क्या प्रभाव पड़ता। निश्चय ही जर्मनी को छूट प्राप्त हो जाती और वह अपनी शक्ति एवं प्रभाव को और अधिक बढ़ा लेता। ब्रिटेन शक्ति-संतुलन के सिद्धांत में इस तरह का परिवर्तन देखने के लिए तैयार नहीं था। जर्मनी की शक्ति के प्रसार को रोकने के लिए ब्रिटेन के लिए यह आवश्यक हो गया कि वह पूरी तरह से अपने दोस्तों की मदद करे। इस दशा में सफलता पाने के लिए यह भी आवश्यक था कि ब्रिटेन, फ्रांस तथा रूस के गुट को काफी शक्तिशाली बनाया जाय, जिससे समय आने पर जर्मनी का मुकावला किया जा सके।*

गुटों के स्वरूप में परिवर्त्तन– इस तरह यूरोप के दोनों विरोधी गुट अपने मूल उद्देश्य से दूर हटने लगे। इन गुटों का निर्माण और पीछे चलकर उनके स्वरूपों में परिवर्तन यूरोपीय शान्ति में लिए बड़े खतरे की बात थी। इसका अर्थ था कि किसी अंतर्राष्ट्रीय संकट से उत्पन्न युद्ध सीमित नहीं रह सकता है, वल्कि वह युरोपीय युद्ध का रूप धारण कर सकता दे, जिसमें ब्रिटेन फ्रांस तथा रूस एक तरफ होंगे और जर्मनी तथा आस्ट्रिया दूसरी तरफ। 1907 तक इस तरह की स्थिति स्पष्ट नहीं हुई थी। लेकिन जैसे-जैसे संकट आते गये वैसे-वैसे स्थिति भी स्पष्ट होने लगी। प्रोफेसर स्मिट के शब्दों में यह कहा जा सकता है कि 1907 में दोनों गुट एक-दूसरे के अगल-वगल में खड़े थे; लेकिन 1911 आते-आते वे मैदान में आमने-सामने खड़े थे और एक दूसरे को यूद्ध के लिए ललकार रहे थे। सिर्फ एक वहाना मिलने की देर थी। दोनों दलों में मनमुटाव इतना वढ़ गया था और तनातनी इतनी गहरी हो चुकी थी कि उनको रोक रखना असम्भव था।†

* Gooch : *Before the war*, pp. 356-59

† Schmitt - *The Coming of the war*, (Vol. I) p. 243

गुटबन्दियों के स्वरूप में परिवर्तन हो जाने के परिणामस्वरूप यूरोपीय शक्ति-संतुलन में काफी हेरफेर हो गया। बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में जर्मनी यूरोप का सबसे शक्तिशाली राष्ट्र था। वास्तव में जैसा प्रोफेसर मेंगसर कहते हैं—1878 में यूरोप में कोई शक्ति-संतुलन नहीं था। यूरोप में जर्मनी की प्रभुता और प्रबलता स्थापित हो चुकी थी और आस्ट्रिया तथा रूस के साथ सन्धि होने के कारण उसकी महत्ता और भी बढ़ती चली जा रही थी। यद्यपि 1893 में रूस जर्मनी से अलग हो गया और इसके कुछ दिनों के बाद इटली के शत्रुओं के साथ 'प्रणय-लीला' में संलग्न हो गया, तौभी जर्मनी की स्थिति काफी मजबूत बनी रही। आंग्ल फ्रांसीसी और आँग्ल-रूसी समझौता होने के बाद स्थिति में काफी परिवर्तन आने लगा। धीरे-धीरे जर्मनी के इस विरोधी गुट का पलड़ा भारी होने लगा और पाँच-छह वर्षों के भीतर यह इतना भारी हो गया कि मार्च, 1914 में कैसर को यह कहना पड़ा कि "आज हम अपने को असहाय पाते हैं।" रूस में युद्ध की जोरदार तैयारी हो रही थी और फ्रांसीसी सेना आधुनिकतम अस्त्र-शस्त्रों से लैस की जा रही थी। रूस के एक प्रमुख पदाधिकारी को यह कहते हुए सुना गया था कि "रूस तैयार है और अब फ्रांस को भी तैयार हो जाना चाहिए।" दोनों देशों में सैनिकवाद प्रचंड रूप धारण कर रहा था। बाल्कन-प्रायद्वीप में युद्ध के काले बादल मँडरा रहे थे। सर्विया और उसका संरक्षक रूस इस क्षेत्र में अपनी-अपनी महत्त्वाकांक्षा पूरा करने के लिए छटपटा रहे थे। जर्मनी के मित्र आस्ट्रिया की स्थिति खतरे से खाली नहीं थी। उसका और रूस का संबंध बाल्कन-प्रायद्वीप को लेकर दिनोंदिन बिगड़ रहा था। कब ये ताल ठोककर अखाड़े में कूद पड़ेंगे, कहना मुश्किल था। मार्च, 1914 में यह स्पष्ट हो चुका था कि युद्ध को अब अधिक दिनों तक नहीं रोका जा सकता है। ऐसी दशा में क्या जर्मनी और आस्ट्रिया चुप बैठे रहते? ऐसा करने का अर्थ अपनी जान को जोखिम में डालना था। अतः जर्मनी और आस्ट्रिया अपनी सैनिक योजना को संतुलित करने लगे। यूरोपीय शक्ति-संतुलन दिनोंदिन आस्ट्रिया तथा जर्मनी के हक में हल्का पड़ रहा था। इनको यह भय था कि पलड़ा भविष्य में और भी हल्का न पड़ जाय। इस तरह की दुर्दशा होने के पूर्व ही अंतिम फैसला करना जर्मनी की समझ में अच्छा था। कॉनराइड का कहना था—"त्रिगुट के सामने दो मार्ग हैं। शत्रुओं पर या तो शीघ्र ही हमला बोल दिया जाय अथवा सैन्यशक्ति को और अधिक बढ़ाया जाय। सैनिक दृष्टिकोण से मेरे विचार में पहला मार्ग ही उपयुक्त है।" कॉनराइड के इस विचार से जर्मनी का प्रधान सैनिक अधिपति मोलटके भी पूर्ण रूप से सहमत था।*

---

* Brandenburg : *From Bismarck to the Great War*, p. 361

कोनोपिस्ट की संधि :— जिस समय यूरोप इस परिस्थिति से गुजर रहा था उस समय यूरोप के शासकगण अपने मित्रराज्यों में राजकीय यात्रा पर आवागमन कर रहे थे। उनको पूर्ण विश्वास हो गया था कि युद्ध अवश्यम्भावी है और इसके लिए वे व्यक्तिगत सम्पर्क करके पहले से ही सामरिक योजना का प्रबंध कर लेना चाहते थे। जून, 1914 में ब्रिटिश-सम्राट् पंचम जार्ज पेरिस गये और उसी महीने में फ्रांसीसी राष्ट्रपति पोअन्कारे ने रूस की यात्रा की। रूस में उनका शाही स्वागत हुआ। लेकिन यह स्वागत उतना महत्त्वपूर्ण नहीं था जितना फ्रांसीसी राष्ट्रपति का रूस का आश्वासन था। पोअन्कारे ने रूसी शासकों को फ्रांस की मित्रता और सहायता का फिर से भरोसा दिलाया और इस बात का वचन दिया कि अगर आस्ट्रिया द्वारा सर्विया पर आक्रमण करने के कारण रूस ने इस मामले में हस्तक्षेप की आवश्यकता अनुभव की, तो फ्रांस अपने मित्र की सहायता करने में संकोच नहीं करेगा। पोअन्कारे की यात्रा से रूस के उन नेताओं का हाथ काफी मजबूत हो गया, जो युद्ध के लिए उत्सुक थे और जो युद्ध को ही रूस की महत्त्वाकाँक्षाओं की पूर्ति का एकमात्र साधन मानते थे।

पर इन सभी यात्राओं से केसर की कोनोपिस्ट की यात्रा सबसे महत्त्वपूर्ण थी। कोनोपिस्ट में आस्ट्रियन युवराज फ्रांसिस फार्डिनेन्ड का विशाल महल स्थित था और गुलाब के फूलों के लिए यह जगतप्रसिद्ध था। सरकारी तौर पर यह घोषणा की गयी कि केसर इन्हीं फूलों की शोभा देखने के लिए जा रहा है। लेकिन दुनिया को इस पर विश्वास नहीं हुआ। केसर अपने साथ एडमिरल टिरपिट्ज को भी लेता गया था। उधर युवराज फार्डिनेन्ड भी कई तरह से आस्ट्रिया के सैनिक संगठन से ताल्लुक रखता था। अतः यह स्पष्ट था कि केसर की यह यात्रा कोनोपिस्ट का दृश्य देखने के लिए ही नहीं हुई है। लोगों ने समझा कि दाल में कुछ काला अवश्य है।

कोनोपिस्ट में युवराज से सम्राट् की मुलाकात अनेक बार हुई। उनलोगों ने किन-किन समस्याओं पर विचार-विमर्श किया, यह कहना कुछ कठिन है। 'लन्दन-टाइम्स' के संवाददाता विकहम स्टिड ने इस मुलाकात पर तरह-तरह के संवाद अपने पत्र को भेजे थे। संवाददाता स्टिड के अनुसार दोनों राजनीतिज्ञों ने सभी सम्भावनाओं पर विचार-विमर्श किया और अन्त में एक निष्कर्ष पर पहुँचे जिसको अफवाह फैलानेवाले संवाददाता ने 'कोनोपिस्ट की सन्धि' की संज्ञा दी। युवराज और सम्राट् ने फैसला किया कि जर्मनी और आस्ट्रिया को शीघ्र ही प्रतिकारात्मक युद्ध (preventive war) प्रारम्भ कर देना चाहिए। हाल में कुछ ऐसे कागजात प्राप्त हुए हैं, जिनके आधार पर विकहम स्टिड की इस मनगढ़न्त कहानी का

आस्ट्रिया का अन्तिमेत्थम्— प्रिन्सिप की गोली की आवाज वह संकेत था जिसको सुनकर पर्दा खींचनेवाला रंगमंच पर से पर्दा उठा लेता है और नाटक प्रारम्भ हो जाता है। युवराज फर्डिनेण्ड की हत्या के बाद यूरोपीय रंगमंच पर ताण्डव-नृत्य की तैयारी होने लगी। आस्ट्रिया ने सर्विया की सरकार को इसके लिए दोषी ठहराया और लगभग एक महीने के पैतरेबाजी के बाद सर्विया से इसका जवाब माँगा। इसके अतिरिक्त आस्ट्रिया ने यह माँग की कि 48 घंटे के अन्दर-अन्दर सर्विया उन सब कार्रवाइयों को रोक दे जो आस्ट्रिया के विरुद्ध में उसकी भूमि पर हो रही है। सर्विया की सरकार सार्वजनिक तौर पर आस्ट्रिया-विरोधी आन्दोलन की निन्दा करे। वैसे स्कूल, सभा-समितियाँ और समाचारपत्र जो आस्ट्रिया के विरुद्ध प्रचार करने में लगे हुए थे उनके विरुद्ध सर्विया की सरकार कड़ी कार्रवाई करे। सरकार और सेना में ऐसे पदाधिकारी जो आस्ट्रिया के विरुद्ध हैं, उनको बर्खास्त कर दिया जाय। सर्विया के दो उच्च पदाधिकारियों के नाम भी भेजे गये थे जो सेराजवो हत्याकाण्ड में सम्मिलित समझे जाते थे। आस्ट्रिया-सरकार ने उनको कैद करके उन पर हत्या का मुकदमा चलाने की माँग की। आस्ट्रिया की अन्तिम माँग थी कि सर्विया के न्यायालयों में आस्ट्रिया के अफसरों को बैठने की अनुमति मिले, जिससे आस्ट्रिया के विरुद्ध कार्य करनेवालों को यथोचित दण्ड दिया जा सके।

सर्विया का जवाब और युद्ध का प्रारम्भ—किसी भी देश के लिए इन माँगों का स्वीकार करना सम्भव नहीं था; लेकिन सर्विया ने अन्तिम माँग को छोड़कर आस्ट्रिया की सभी माँगों को स्वीकार कर लिया। अन्तिम माँग को वह अपने राज्य की प्रभुसत्ता को ध्यान में रखकर नहीं मान सकता था। सर्विया ने अन्तिम शर्त में यह संशोधन किया कि इसको हेग के अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के सम्मुख पेश किया जाय। शनिवार के दिन भर मन्त्रिमण्डल की बैठक के बाद यह उत्तर तैयार किया गया और सन्ध्या को छह बजने के कुछ मिनट पूर्व प्रधानमंत्री निकोला पाशिष स्वयं उत्तर की एक प्रति लेकर आस्ट्रिया के दूतावास में जा पहुँचे। उसने आस्ट्रियन राजदूत गिश्ल को सर्विया का उत्तर सौंप दिया। पाशिष अभी अपने मन्त्रालय में पहुँचा भी नहीं था कि आस्ट्रियन दूतावास से एक सन्देशवाहक गिश्ल का एक पत्र लेकर आ धमका। इस पत्र के द्वारा गिश्ल ने सर्विया की सरकार को सूचित कर दिया कि सर्विया का जवाब सन्तोषजनक नहीं है और इसलिए दोनों देशों का कूटनीतिक सम्बन्ध विच्छेद होता है। गिश्ल अपने दूतावास के कर्मचारियों के साथ साढ़े छह बजे की गाड़ी पकड़कर बेलग्रेड से वियना के लिए रवाना हो गया। दोनों तरफ से युद्ध की भेरी बज उठी। यूरोप में अन्धकार छा गया। यह प्रथम विश्व-युद्ध का प्रारम्भ था।

———

खण्डन किया जा सकता है।* लेकिन उस समय दुष्ट संवाददाता का जहरीला प्रचार अपना काम कर गया। यूरोप में तरह-तरह की आशंकाएँ व्यक्त की जाने लगीं। खासकर सर्ब-जगत में सनसनी फैल गयी। ऊपर कहा जा चुका है कि राष्ट्र-वादी सर्ब-लोग युवराज फार्डिनेन्ड को अपना कट्टर दुश्मन समझते थे। सर्ब-लोगों यह अफवाह फैली कि युवराज ने निर्णय ले लिया है और उस निर्णय से वियना के शासकगण सहमत हैं कि सर्ब-आन्दोलन को सदा के लिए कुचल दिया जाय अफवाह में नमक-मिर्च लगते देर नहीं होती। एक अफवाह के बाद दूसरी अफवाह फैलती है। एक दूसरी अफवाह यह फैली कि 1914 के ग्रीष्म में आस्ट्रिया सर्बिया पर चढ़ाई कर देगा। सम्पूर्ण सर्ब-जगत में तहलका मच गया।

सेराजवो की हत्या—इसी समय वियना से यह घोषणा की गई कि युवराज फार्डिनेन्ड 28 जून 1914 को बोस्निया की राजधानी सेराजवो में एक राजकीय यात्रा पर जायँगे। क्रान्तिकारी सर्ब-लोगों को इससे बढ़कर अच्छा मौका मिलनेवाला नहीं था। 'काला हाथ' संस्था सक्रिय हो गयी। सर्ब-क्रान्तिकारी युवराज की हत्या की योजना बनाने लगे और अन्त में अपने काम में सफल हुए। 28 जून को सेराजवो में युवराज की हत्या कर दी गयी। प्रथम विश्व-युद्ध का वह तात्कालिक कारण था। युद्ध के मौलिक कारण पहले से मौजूद थे। यूरोप दो गुटों में बँट चुका था। हथियार बन्दी की होड़ जारी थी। साम्राज्यवाद का भूत सवार था। अन्तर्राष्ट्रीय संकट और दुर्घटनाएँ होती रहती थीं। लेकिन, इन सब बातों के होते हुए भी विश्व-युद्ध का छिड़ जाना सन्देहात्मक था, अगर युवराज की हत्या न हुई होती। बारूद बिल्कुल सूखी हुई थी। उसे केवल एक चिनगारी की आवश्यकता थी। युवराज की हत्या से यह चिनगारी मिल गयी और विश्व-युद्ध अवश्यम्भावी हो गया।

जुलाई के तूफानी दिन—सेराजवो-हत्या से यूरोप का राजनीतिक वातावरण एक अभूतपूर्व उत्तेजना से भर गया। अपने युवराज की हत्या को निमित्त बनाकर आस्ट्रिया ऐसे उपायों का अवलम्बन करने के लिए उत्सुक था, जिनसे सर्ब-राष्ट्रीय आन्दोलन को पूर्ण रूप से कुचल दिया जाय। बर्शटोल्ड सर्बिया के साथ अन्तिम निर्णय करने के अवसर की प्रतीक्षा कर रहा था। अब उसे अवसर मिल गया था और इसका उपयोग करने के लिए वह कृतसंकल्प था प्रधान सैनिक-अधिपति कॉनराड ने तुरत ही युद्ध करने की आज्ञा माँगी। बेलग्रेड में स्थित आस्ट्रिया के राजदूत ने भी अपने प्रधानमंत्री को सर्बिया के विरुद्ध कड़ी कार्रवाई करने की सलाह दी।† आस्ट्रिया-साम्राज्य में केवल एक ही व्यक्ति था, जो किसी प्रकार की जल्दी-बाजी के विरुद्ध था। आस्ट्रिया-साम्राज्य के हंगरीवाले हिस्से का प्रधानमंत्री

* S. B. Fay : *Origins of the First World War (vol ii)* pp.32-43.
† Gooch : *History of Modern Europe*, p. 356.

कूटनीतिक स्थिति का सिंहावलोकन

क्या युद्ध अवश्यम्भावी था ? :—अलौकिक परिस्थिति में बीती घटना पर दृष्टिपात करने की प्रवृत्ति मनुष्य में नैसर्गिक रूप से विद्यमान रहती है। पिछले चालिस वर्ष की घटनाओं के फलस्वरूप 1914 में यूरोप में महासमर छिड़ गया और इसके बाद समस्त संसार हथियारों की झंकार से गूँज उठा। यूरोप में बहुतेरे ऐसे राष्ट्र थे, जो एक यूरोपीय युद्ध से लाभ उठाकर अपनी राष्ट्रिय महत्त्वाकांक्षाओं को पूरा करना चाहते थे। सर्बिया अपने राष्ट्रिय एकीकरण के लिए प्रयास कर रहा था। आस्ट्रिया अपनी रुग्णता से छुटकारा पाना चाहता था और राष्ट्रीय भावनाओं को कुचलकर अपने साम्राज्य का अस्तित्व कायम रखना चाहता था। रूस कान्स्टेन्टिनोप्ल पर जारशाही का झण्डा फहराना चाहता था और जर्मनी के सामने फ्रांसीसी प्रतिशोध से बचने की समस्या थी। फ्रांस एल्सस-लोरेन को लौटने के लिए तड़प रहा था और ब्रिटेन जर्मनी की शक्ति को रोकने के लिए उद्यत था। ये सभी आकांक्षाएँ युद्ध के द्वारा ही पूरी हो सकती थीं। पर कोई भी यूरोपीय देश दिल से नहीं चाहता था कि एक विश्व-युद्ध छिड़ जाय। एक दो को छोड़कर यूरोपीय राज्यों का कोई भी नीति-निर्धारक विश्व-युद्ध नहीं चाहता था। वास्तव में जब युद्ध के काले बादल यूरोपीय आकाश में घिरने लगे तो उनमें से बहुतों ने यह प्रयास किया कि युद्ध किसी तरह से रुक जाय। पर घटना-चक्र के सामने मनुष्य असहाय होता है और अनेक प्रयत्न के बावजूद यूरोप में एक विध्वंसकारी संग्राम छिड़ गया।

यूरोप के शक्तिशाली राज्य किस प्रकार दो जबर्दस्त गुटों में विभक्त हो गये थे, इसको हमलोग देख चुके हैं। संघर्ष का उद्‌गम यूरोप के दो सशस्त्र गुटों में बँट जाने से हुआ था, जिसका आरम्भ 1871 से हो गया था। दोनों गुट एक-दूसरे से जलते थे और दोनों ओर शक्ति-संचय का प्रयत्न जारी था। गुटबन्दी तीव्र रूप धारण करती जाती थी। सेना में बड़ी तेजी के साथ वृद्धि की जा रही थी। साम्राज्य का भूत सबके सिर पर सवार था। विकृत और उग्र राष्ट्रीयता यूरोपीय राज्यों के जीवन का अभिन्न अंग हो गयी थी। सभी राज्यों की अपनी-अपनी महत्वाकाँक्षाएँ थीं और राज्य–विस्तार की मदिरा पीकर यूरोप के विविध

काउन्ट स्टिफन टिस्ज़ा ने सम्राट् फ्रांसिस जोसेफ को एक स्मरण-पत्र द्वारा चेतावनी दी कि इस बात का कोई यथेष्ट प्रमाण नहीं है कि बेलग्रेड पर अपराध का आरोप लगाया जा सके और यदि ऐसा किया गया तो सभी देश यह समझने लगेंगे कि शांति-भंग करने की जिम्मेवारी आस्ट्रिया पर है। लेकिन, वियना के शासकगण सर्बिया के साथ अंतिम फैसला करने के लिए तैयार बैठे थे। ऐसी स्थिति में जर्मनी ही आस्ट्रिया के शासकों पर कोई रोक लगा सकता था। पर जर्मनी इस तरह की कोई कारवाई करने को तैयार नहीं था। जब कैसर ने युवराज की हत्या की खबर सुनी तो उसके होश उड़ गये। 5 जुलाई को उसको सम्राट् फ्रांसिस जोसेफ के हाथों लिखी एक चिट्ठी प्राप्त हुई। इस पत्र में सम्राट् ने निराशापूर्ण विचार व्यक्त किये थे और त्रिगुट की शर्तों के अनुसार जर्मनी से हर हालत में सहायता का आश्वासन मांगा गया था।

कैसर और जर्मनी के अन्य शासकों के सामने स्थिति स्पष्ट थी। उसने आस्ट्रिया के राजदूत को आश्वासन दिया कि अन्य सभी मामलों के समान इस मामले में भी आस्ट्रिया जर्मनी के पूर्ण समर्थन पर निर्भर रह सकता है। सर्बिया के विरूद्ध कार्यवाही करने में देर नहीं लगानी चाहिए। इसमें संदेह नहीं कि रूस इसका विरोध करेगा। परन्तु वे इस सम्भावना के लिए पहले से तैयार थे। अगर आस्ट्रिया और रूस के बीच युद्ध अनिवार्य हो जाता है तो जर्मनी निस्संकोच अपने साथी की ओर से लड़ेगा। रूस अभी युद्ध के लिए पूरी तरह तैयार नहीं था। यदि आस्ट्रिया वास्तव में इस निष्कर्ष पर पहुँच गया है कि सर्बिया के विरूद्ध कार्यवाही करनी आवश्यक है तो उसके लिए अनुकूल अवसर यही है और यदि उसका उपयोग नहीं किया गया तो कैसर को बहुत दुःख होगा। कैसर के उत्तर का यही सारांश था। बेथमान-हौलवेग से भी राजदूत को ऐसा ही आश्वासन मिल गया।*

"पोट्सडाम का निर्णय"—6 जुलाई को कैसर अपने वार्षिक सामुद्रिक भ्रमण पर जानेवाला था। भ्रमण पर निकलने के पहले उसने युद्ध-विभाग तथा नौ-सेना के प्रतिनिधियों को बुलाकर राजनीतिक स्थिति से उन्हें अवगत कराया। इस समय यूरोप में यह अफवाह फैल गयी कि जुलाई 5 के दिन पोट्स्डाम में जर्मन के सैनिक और असैनिक नेताओं का एक सम्मेलन हुआ था जिसमें युद्ध की तैयारी करने का निर्णय लिया गया था। लेकिन, यह अफवाह भी उतनी ही झूठी थी जितनी दूसरी अफवाह, जिसको फैलाने के लिए समाचार-पत्रों के संवाददाता कोई कसर नहीं उठा रहे थे।

काउंट टिस्ज़ा का विरोध :—इसी समय आस्ट्रिया का राजदूत काउंट होयोस जर्मनी के समर्थन का आश्वासन पाकर वियना लौटा। अब बर्शटोल्ड उस

* N. Mansergh : *The Coming of the First World War*, p. 221

राज्य शक्ति-प्रदर्शन के लिए उतावले हो रहे थे। ऐसे दूषित वातावरण में यूरोपीय देश के समाचारपत्र आग में घी का काम कर रहे थे। इस दशा में युद्ध का अवश्यम्भावी हो जाना कोई आश्चर्यजनक बात नहीं मानी जा सकती है। बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ से यूरोपीय राज्यों को अनेक अन्तर्राष्ट्रीय संकटों का सामना करना पड़ा था। इन संकटों की संख्या इतनी अधिक हो गयी थी और एक दूसरे के बाद वे इतनी तीव्र गति से प्रकट होती थीं कि आशावादी राजनेताओं को भी विश्वास हो गया था कि एक व्यापक संघर्ष होकर ही रहेगा। बाल्कन-युद्धों के बाद यूरोप के शासकों के सामने शान्ति बनाये रखने की समस्या नहीं थी, बल्कि युद्ध की तैयारी की समस्या थी। युद्ध को रोकने में वे अपने को असहाय महसूस करते थे। इस विश्वास ने कि युद्ध अवश्यम्भावी है, इसको रोका नहीं जा सकता है, 1914 में यूरोपीय युद्ध को अवश्यम्भावी बना दिया।*

जर्मनी और आस्ट्रिया :—यूरोप के राजनीतिज्ञ जब एक बार इस निष्कर्ष पर पहुँच गये कि युद्ध आवश्यम्भावी है तो वे इसके लिए अपने को तैयार करने लगे। इस देश में उनका सबसे पहला कदम यह हो सकता था कि वे अपने-अपने गुट को अधिकाधिक सुदृढ़ और शक्तिशाली बनायें। इसमें कोई शक नहीं कि जिस समय इन गुटों की स्थापना हुई थी उस समय उनका स्वरूप शुद्ध रक्षात्मक था। किसी का विचार यह नहीं था कि वे अपने विरोधी गुट पर आक्रमण करके उसका सत्यानाश कर दें। लेकिन जैसे-जैसे समय बीतता गया वैसे-वैसे इन गुटों का स्वरूप भी बदलता गया। 1912 में त्रिगुट की सन्धियों को अन्तिम बार दुहराया गया था। इतने दिनों के भीतर इस गुट का स्वरूप काफी बदल चुका था। यह अब रक्षात्मक संधि नही रह गयी थी। इसके अतिरिक्त जर्मनी अब आस्ट्रिया की उग्रनीति पर कोई रुकावट भी नहीं डाल सकता था। जर्मनी को पहले निकटपूर्व की समस्या में कोई रुकावट भी नहीं डाल सकता था। जर्मनी की पहले निकटपूर्व को समस्या में कोई दिलचस्पी नहीं थी; पर वह अधिक दिनों तक उदासीन नहीं रह सकता था। 1879 से 1914 के बीच में जर्मनी हर तरह से आस्ट्रिया के ऊपर निर्भर हो गया था और जैसे–जैसे अन्तर्राष्ट्रीय संकट आते रहते थे यह निर्भरता और भी जड़ पकड़ती जाती थी। ऐरेनथाल और उसके बाद बर्शटोल्ड को यह पूर्ण विश्वास था कि अन्तिम दशा में जर्मनी किसी संकट के अवसर पर आस्ट्रिया को मदद करेगा ही; क्योंकि इसके सिवा जर्मनी को कोई दूसरा चारा नही था। विशाल संसार में आस्ट्रिया ही जर्मनी का एकमात्र मित्र था और इस बहुमूल्य मित्रता को जर्मनी कैसे छोड़ सकता था। केसर ने एक बार बर्शटोल्ड से कहा भी था कि "वियना के विदेश-मन्त्रालय से जो कुछ भी आता है वह मेरे लिए आज्ञा होता है।"* केसर के

* N. Mansergh : *The Coming of the First World War*; p, 195.

भयंकर वज्रपात की तैयारी करने लगा, जिसके कारण सारा यूरोप-महाप्रलय में डूब गया। 7 जुलाई के दिन आस्ट्रिया-सरकार के मंत्रिमंडल की बैठक हुई। वर्शटोल्ड ने सर्विया के विरूद्ध युद्ध छेड़ देने की अनुमति माँगी। लेकिन, हंगरी का प्रधान-मंत्री काउंट टिस्ज़ा कोई खतरनाक कदम उठाने के विरोध में था। अतः यह बैठक विना कोई अंतिम निर्णय लिए ही समाप्त हो गयी।

अब वर्शटोल्ड काउंड टिस्ज़ा को अपने पक्ष में करने का प्रयास करने लगा। इस समय वीजनर नाम का एक आस्ट्रियन पदाधिकारी, जिसको सरकार ने हत्या की जाँच-पड़ताल के लिए सेराजवो भेजा था, अपनी रिपोर्ट वर्शटोल्ड के पास भेज दी। वीजनर इस निष्कर्ष पर पहुँचा था कि कोई ऐसी बात नहीं पायी गयी है जिसके द्वारा यह प्रमाणित किया जा सके कि हत्याकाण्ड में सर्विया की सरकार का कोई हाथ था। पर, इसके साथ-साथ वीजनर ने यह भी बतला दिया था कि षड्यंत्र की जानकारी सर्विया की सरकार को पहले से ही थी। वर्शटोल्ट ने इन बातों को और सर्विया के अखबारों की कड़ी भाषा को दिखलाकर काउंट टिस्ज़ा को अपने पक्ष में कर लिया। 14 जुलाई को जब मंत्रिमंडल की दूसरी बैठक बैठी तो टिस्ज़ा ने सर्विया के विरूद्ध युद्ध का समर्थन कर दिया। अब वर्शटोल्ट उस अंतिमेत्थम् की रूपरेखा तैयार करने लगा जो सर्विया के पास भेजा जानेवाला था। 19 जुलाई को मंत्रिमंडल की एक तीसरी बैठक में यह अंतिमेत्थम् स्वीकृत कर लिया गया। यह निर्णय किया गया कि 23 जुलाई को सर्विया-सरकार के सम्मुख इस अंतिमेत्थम् को प्रस्तुत कर दिया जायगा। उस दिन 48 घंटे की अवधि के साथ युद्ध की चुनौती बेलग्रेड में प्रस्तुत कर दी गयी।

आस्ट्रिया की चुनौती—सर्विया ने इस चुनौती का क्या जवाब दिया और राजदूत गिश्ल ने किस शीघ्रता के साथ आस्ट्रिया-सर्विया का कूटनीतिक सम्बन्ध-विच्छेद कर दिया, इसका विवरण हम पहले ही कर चुके हैं। 24 जुलाई को आस्ट्रिया के अंतिमेत्थम् की एक प्रति सर एडवर्ड ग्रे को प्राप्त हुई। इस पर दृष्टिपात करके उन्होंने इस बात पर अपना खेद प्रकट किया कि ऐसी नाज़ुक स्थिति में समय की अवधि रखी गयी है। उन्होंने "कभी एक राज्य को दूसरे राज्य के पास इस प्रकार की धमकी भरा पत्र" भेजे जाते हुए नहीं देखा था। सर ग्रे इस बात पर स्पष्ट थे कि सर्विया एक प्रभुसत्ता-सम्पन्न राज्य होने के नाते किसी भी हालत में आस्ट्रिया की शर्तों को स्वीकार नहीं करेगा और आस्ट्रिया की सेनाएँ दो दिनों के भीतर सर्विया में प्रवेश कर जायेंगी। ज्योंही आस्ट्रिया सर्विया पर चढ़ाई करेगा रूस कार्यवाही करने के लिए विवश हो जायेगा और उसके बाद स्थिति काबू में नहीं रह जायेगी। फिर फ्रांस, जर्मनी और ब्रिटेन की बारी आयेगी

इन्हीं शब्दों से पता लग जाता है कि जर्मनी किस हद तक आस्ट्रिया पर निर्भर करता था।

इतनी अधिक मात्रा में आस्ट्रिया पर जर्मनी की निर्भरता का एक और कारण था। त्रिगुट का तीसरा सदस्य इटली धीरे-धीरे अपने मित्रों से विमुख हो रहा था। इसके भी कुछ कारण थे। सर्वप्रथम इटली और आस्ट्रिया के हित अनेक क्षेत्रों में, खासकर एड्रियाटिक सागर के तट पर, गम्भीर रूप से टकराते थे। इटली के विमुख होने का दूसरा कारण यह था कि उसका बहुत बड़ा भू-भाग समुद्र के किनारे पड़ता था और उसको यह आशंका रहती थी कि समुद्र-तट की तरफ से उस पर आक्रमण न हो जाय। इन सब कारणों से इटली जर्मनी और आस्ट्रिया से दूर खिंच रहा था। जब जर्मनी को यह ज्ञात हो गया कि इटली उसका वफादार साथी नहीं है तो उसने त्रिगुट में उसे क्यों सम्मिलित रखा? इसका एकमात्र जवाब यही है कि जर्मनी के शासक यह अनुमान लगा रहे थे कि युद्ध की हालत में अगर इटली उनकी सहायता नहीं करेगा तो कम-से-कम त्रिगुट का सदस्य होने के नाते तटस्थ तो रहेगा। इटली की कृतघ्नता के ऊपर जर्मनी में किसी को थोड़ा भी शक नहीं था। उधर जब एक तरफ त्रिगुट की नींव ढीली पड़ रही तो दूसरी तरफ जर्मनी के दुश्मन आपस में मिलकर उसके विरुद्ध संयुक्त मोर्चा बनाने की तैयारी कर रहे थे। 1907 के बाद जर्मनी को चारों तरफ से घेर लेने की शंका जर्मनी में व्यक्त की जाने लगी। ऐसी स्थिति में जर्मनी क्या कर सकता था? उसको आस्ट्रिया की नीति को बिना किसी हीलाहवाला के अनुमोदन करना ही था। अतः जर्मनी आस्ट्रिया को 'ब्लैंक चेक' देने लगा। इस 'चेक' पर आस्ट्रिया किसी रकम को भर सकता था और जर्मनी को उसकी आदायगी करनी ही पड़ती थी! आस्ट्रिया बेखटके जर्मनी की सहायता का प्रयोग करता था। इसी का सहारा पाकर वह बाल्कन-प्रायद्वीप में उग्र नीति का अवलम्बन करने लगा, जिसके फलस्वरूप निकटपूर्व की राजनीति संकटमयी हो गयी और अन्ततः सारा संसार महाप्रलय में डूब गया।

रूस, फ्रांस और ब्रिटेन :— रूस और फ्रांस के द्विगुट के साथ भी यही बात हुई। जिस समय उसकी स्थापना हुई थी उस समय इसका स्वरूप भी रक्षात्मक था। लेकिन ज्यों-ज्यों समय बीतता गया त्यों-त्यों इसकी सीमा भी बढ़ती गयी। फ्रांस और रूस दोनों अपने हितों को दृष्टि में रखकर इसके स्वरूप का अर्थ लगाने लगे। बोस्निया-काण्ड के समय फ्रांस ने दिल खोलकर रूस की मदद नहीं की थी। इसके बाद जब इस्वोलस्की पेरिस में रूस का राजदूत बनकर आया तब से उसका एकमात्र यही प्रयास रहा कि फ्रांस को किसी तरह रूस के बाल्कन-स्वार्थों में दिलचस्प बना दिया जाय। बाल्कन-प्रायद्वीप में फ्रांस इतनी दिलचस्पी लेने लगा कि अपने मित्र

और उसके बाद न जाने क्या होगा। अतः सर ग्रे मध्यस्थता कर के यूरोप को कठिन परिस्थिति से निकालना चाहते थे।

विभिन्न देशों की प्रतिक्रिया — केवल चौबीस घण्टे पूर्व जर्मनी को आस्ट्रिया के अन्तिमेत्थम् की एक प्रति प्राप्त हुई। जर्मन-सरकार बहुत पहले से कोशिश कर रही थी कि किसी तरह इस अन्तिमेत्थम् का सारांश उसको कुछ पहले मिल जाय। लेकिन, आस्ट्रिया की सरकार इस ताक में थी कि उसके अन्तिमेत्थम् के रहस्य का किसी को पता नहीं लगे। इसका एक कारण था। राष्ट्रपति पोअन्कारे २० जुलाई को रूस पहुँचनेवाला था और तीन दिनों तक वहाँ उसके ठहरने की बात थी। अगर आस्ट्रिया की शर्त उसको पहले प्राप्त हो जाती तो वह निश्चय ही रूस को सर्विया को बेशर्त मदद करने की राय देता। वर्शटोल्ड इस सम्भावना से बचना चाहता था। इसलिए आस्ट्रिया जर्मनी से भी अन्तिमेत्थम् की बात छिपाकर रखना चाहता था। बर्लिन में जब अन्तिमेत्थम् की एक प्रति प्राप्त हुई तो वहाँ के शासकगण घबड़ा उठे।* अन्तिमेत्थम् देखने के बाद वे इस निष्कर्ष पर पहुँच गये कि इसमें यूरोपीय-युद्ध की पूरी संभावना है। इतना होने पर भी जर्मनी के शासकों ने सभी विपत्तियों के बावजूद आस्ट्रिया को मदद देने का वचन दे दिया।

जर्मनी को सबसे अधिक चिन्ता ब्रिटिश प्रतिक्रिया से थी। उस समय आयरलैंड में गृह-युद्ध चल रहा था और ब्रिटेन की जनता उसी समस्या में व्यस्त थी। पर जब संकट गम्भीर हो गया तो ब्रिटेन के शासकों का ध्यान इस तरफ आकृष्ट हुआ। लन्दन में नीति-निर्धारकों का विश्वास था कि संकट के समाधान की कुंजी केवल बर्लिन के पास है। आस्ट्रिया किसी की बात मानने को तैयार नहीं था। जर्मन ही एक ऐसा देश था जो उस पर दबाव डाल सकता था। अतः सर एडवर्ड ग्रे ने जर्मन-सरकार को यह चेतावनी दे दी कि अगर वह संसार को सर्वनाश से बचाना चाहती है तो वियना पर जबर्दस्त दबाव डाले। सर ग्रे का विश्वास था कि जर्मन के दबाव के फलस्वरूप अगर वियना ने अपनी नीति में कुछ संशोधन किया तो पीछे चलकर अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन करके संकट का कोई समाधान कर लिया जायेगा। 1912-13 में लन्दन-राजदूत-सम्मेलन को आशातीत सफलता मिली थी। उसी आधार पर सर ग्रे का विश्वास था कि सम्मेलन के द्वारा यह सकट टाला जा सकता है।

इसी बीच आस्ट्रिया के अन्तिमेत्थम् का जवाब सर्विया ने भेज दिया। सर्विया ने आस्ट्रिया की करीब सभी माँगें स्वीकार ली थी। कैसर को जब इस जवाब का पता लगा तो उसने सन्तोष की एक गहरी सांस ली। "इससे बढ़कर

*Gooch : *History of Modern Europe*, p. 356

रूस को वह हर हालत में मदद करने को तैयार रहे। इस प्रयास में इस्वोल्स्की को बहुत अंश तक सफलता भी प्राप्त हुई। समय के साथ-साथ द्विगुट दृढ़ होने लगा। यूरोपीय शान्ति के लिए यह कोई शुभ लक्षण नहीं था। फ्रांस के मन्त्रालय में पोअन्कारे के आने से यह गुट और भी सुदृढ़ होने लगा। पोअन्कारे लारेन में पैदा हुआ था और जब उसकी उम्र केवल दस वर्ष की थी उसी समय जर्मनी ने लोरेन पर हमला करके उसे अपना अधिकृत क्षेत्र बना लिया था। पोअन्कारे के दिमाग में इस बात की याद ताजी थी। प्रतिशोध की भावना से ग्रसित फ्रांस के राजनेताओं का वह प्रतिनिधि था। वह रूस की मित्रता का बहुत बड़ा इच्छुक था और उसको सुदृढ़ बनाने में उसने कोई कसर उठा नहीं रखी। जिस समय फ्रांस की सत्ता उसके हाथों में आयी उस समय से फ्रांस बाल्कन की राजनीति में आवश्यकता से अधिक दिलचस्पी लेने लगा। रूस अब इस क्षेत्र में भी फ्रांस की सहायता पर निर्भर हो सकता था। इसका परिणाम यह हुआ कि रूस भी आस्ट्रिया की तरह बाल्कन-प्रायद्वीप में उग्र नीति का अवलम्बन करने लगा और अन्ततः बाल्कन की स्थिति नाजुक होने लगी।

ब्रिटेन भी किसी-न-किसी रूप में फ्रांस और रूस के गुट का सदस्य हो चुका था। मारक्को-काण्ड और उसके पश्चात् अगादीर-काण्ड के बाद आंग्ल-फ्रांसीसी समझौता भी नया रूप धारण कर रहा था। इस समझौते के बाद फ्रांस और ब्रिटेन के सैनिक विशेषज्ञों में सैनिक विषयों पर बातचीत चल रही थी। प्रारम्भ में यह वार्तालाप बिल्कुल अनौपचारिक रूप से शुरू हुआ था। लेकिन जैसे-जैसे समय बीतता गया, यूरोपीय रंगमंच पर संकट आने-जाने लगे, वैसे-वैसे इस सैनिक वार्तालाप का रूप-रंग भी बदलने लगा। यह वार्तालाप पीछे चलकर इस आधार पर होने लगा कि जर्मनी के साथ युद्ध की सम्भावना है और इसका मुकाबला करने के लिए उन्हें तैयार रहना चाहिए। ब्रिटेन का कहना था कि इन वार्तालापों से वह किसी तरह वचनबद्ध नहीं है कि मौका पड़ने पर फ्रांस की मदद की जाय। लेकिन फ्रांस में इसका दूसरा ही अर्थ लगाया जाता था। फ्रांसीसियों की दृष्टि में ये वार्तालाप ब्रिटेन को वचनबद्ध कर रहे थे। अगस्त, 1914 के प्रारम्भिक दिनों में जब युद्ध के काले बादल यूरोप में मंडराने लगे और जब ब्रिटेन अपने साथियों की मदद करने में कुछ हिचकिचाने लगा तो फ्रांसीसी राजदूत केम्बों ने कहा—'ब्रिटेन वचनबद्ध है। अगर वह इसको इन्कार करता है तो मैं यही कहूँगा कि अँगरेजी शब्दकोष से 'वचन निभाना' शब्द को हटा दिया जाय।'"*

फ्रांस और रूस के साथ ब्रिटेन के गठबन्धन को मजबूत होने का एक और कारण भी था। जर्मनी की शक्ति और प्रभाव दिनोंदिन बढ़ रहा था। इसमें

* Harold Nicolson : *A Study of the Old Diplomacy* p. 330.

आत्म-समर्पण तथा मानहानि और क्या हो सकती है। सर्विया ने सभी बातें मान ली हैं। अब युद्ध की कोई आवश्यकता नहीं है।" कैसर का यही विचार था। जब यह अफवाह फैली कि सर्विया ने बेशर्त आस्ट्रिया की माँगों को मान लिया है तो वियना में कुछ क्षणों के लिए गहरी निराशा की भावना फैल गयी। पर ज्यों ही पता लगा कि सर्बिया का उत्तर पूर्णतया सन्तोषजक नहीं है और गिश्ल ने कूटनीतिक सम्बन्ध तोड़ लिये हैं तो वियना में हर्ष की एक लहर दौड़ पड़ी और रात्रि के अन्तिम पहर तक बड़े-बड़े जनसमूह सड़कों पर जुलूस बनाकर निकलते रहे और देश-भक्ति से भरे गीत गाते रहे। आस्ट्रिया के समाचारपत्र विशेषांक निकालकर 'घृणित सर्व-जाति को तुरत उपयुक्त सजा देने' की माँग कर रहे थे लेकिन, आस्ट्रिया से बाहर खासकर लन्दन में सर्विया के उत्तर का स्वागत किया गया। सर ग्रे को मध्यस्थता करने में इससे काफी प्रोत्साहन मिला।

युद्ध रोकने के प्रयास

सर ग्रे की मध्यस्थता—26 जुलाई को सर एडवर्ड ग्रे ने अपनी मध्यस्थता का प्रस्ताव पेरिस, बर्लिन और रोम की सरकारों के पास भेजा। इस प्रस्ताव में इन सरकारों से अनुरोध किया गया था कि वे लन्दन में अपने राजदूतों को एक सम्मेलन में भाग लेने का आदेश दें जिससे कोई उपाय निकाला जा सके। इसके अतिरिक्त यह भी सुझाव दिया गया कि चारों देश सम्मिलित रूप से आस्ट्रिया, रूस और सर्विया पर यह दबाव डालें कि जबतक यह सम्मेलन कोई उपाय नहीं निकाल लेता तबतक वे अपनी सैनिक कार्यवाही को बन्द रखें। फ्रांस और इटली ने शीघ्र ही इस प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया। पर बेथमान-हौलवेग ने यह कह कर इस प्रस्ताव को टाल दिया कि जर्मनी तबतक इस मध्यस्थता में भाग नहीं ले सकता जबतक आस्ट्रिया उसके लिए अपनी स्पष्ट इच्छा प्रकट नहीं कर दे। यह यूरोपीय शान्ति के लिए दुर्भाग्य की बात थी कि जर्मन-चान्सलर को सर ग्रे के प्रस्ताव में कुछ सन्देह हो गया। उनका सन्देह यह था कि ब्रिटेन समय बिताने की चाल चल रहा है, जिससे रूस को तैयारी करने का कुछ और मौका मिल जाय। बर्लिन में आस्ट्रिया का पक्ष इतना न्यायपूर्ण माना जा रहा था कि यह कल्पना भी नहीं की जा रही थी कि कोई देश उसका मार्ग रोकने का प्रयत्न करेगा। जर्मनी के शासक दिल से चाहते थे कि आस्ट्रिया सर्विया के साथ अन्तिम फैसला कर ले। उनकी एक ही इच्छा थी कि युद्ध सीमित रहे और यूरोपव्यापी रूप धारण न कर ले। यह बात तभी सम्भव थी जब ब्रिटेन युद्ध की स्थिति में चुपचाप बैठा रहे। जर्मनी इसी बात के लिए प्रयास करने लगा। बेथमान-हौलवेग ने सर ग्रे के प्रस्ताव को ठुकरा दिया।

जर्मनी का उद्देश्य युद्ध प्रारम्भ करना नहीं था। प्रोफेसर ब्रेन्डेनवर्ग ने ठीक ही कहा है कि अगर जर्मनी की अभिलाषा युद्ध छेड़ने की रहती तो वह 1905 में ही ऐसा कर सकता था, क्योंकि उस समय तक फ्रांस पूरी तरह तैयार नहीं हुआ था, आंग्ल-फ्रांसीसी समझौता अभी सुदृढ़ नही हुआ था और रूस जापान से हार कर पस्त पड़ा हुआ था। जर्मनी केवल डरा धमकाकर अपना काम निकालना चाहता था। यह प्रवृत्ति ब्रिटेन में काफी खतरनाक मानी जाती थी। जर्मनी की नीति कुछ ऐसी थी जिसका मतलव ब्रिटेन में यह लगाया जाता था कि वह सम्पूर्ण विश्व पर अपना आधिपत्य जमाने पर तुला हुआ है। अंतर्राष्ट्रीय संकटों के समय अगर जर्मनी अपना रुख वदलता था तो वह इसी वजह से कि ब्रिटेन दिल-जान से अपने साथियों की मदद करता था। अगर ब्रिटेन संकटापन्न स्थिति में अपने साथियो को छोड़ दे तो उसका नतीजा क्या होता—उसका यूरोपीय राजनीति पर क्या प्रभाव पड़ता। निश्चय ही जर्मनी को छूट प्राप्त हो जाती और वह अपनी शक्ति एवं प्रभाव को और अधिक वढ़ा लेता। ब्रिटेन शक्ति-संतुलन के सिद्धांत में इस तरह का परिवर्तन देखने के लिए तैयार नहीं था। जर्मनी की शक्ति के प्रसार को रोकने के लिए ब्रिटेन के लिए यह आवश्यक हो गया कि वह पूरी तरह से अपने दोस्तों की मदद करे। इस दशा में सफलता पाने के लिए यह भी आवश्यक था कि ब्रिटेन, फ्रांस तथा रूस के गुट को काफी शक्तिशाली वनाया जाय, जिससे समय आने पर जर्मनी का मुकावला किया जा सके।*

गुटों के स्वरूप में परिवर्त्तन— इस तरह यूरोप के दोनों विरोधी गुट अपने मूल उद्देश्य से दूर हटने लगे। इन गुटों का निर्माण और पीछे चलकर उनके स्वरूपों में परिवर्तन यूरोपीय शान्ति में लिए वड़े खतरे की वात थी। इसका अर्थ था कि किसी अंतर्राष्ट्रीय संकट से उत्पन्न युद्ध सीमित नहीं रह सकता है, वल्कि वह युरोपीय युद्ध का रूप धारण कर सकता दे, जिसमें ब्रिटेन फ्रांस तथा रूस एक तरफ होंगे और जर्मनी तथा आस्ट्रिया दूसरी तरफ। 1907 तक इस तरह की स्थिति स्पष्ट नहीं हुई थी। लेकिन जैसे-जैसे संकट आते गये वैसे-वैसे स्थिति भी स्पष्ट होने लगी। प्रोफेसर स्मिट के शब्दो में यह कहा जा सकता है कि 1907 में दोनों गुट एक-दूसरे के अगल-वगल में खड़े थे; लेकिन 1911 आते-आते वे मैदान में आमने-सामने खड़े थे और एक दूसरे को यूद्ध के लिए ललकार रहे थे। सिर्फ एक वहाना मिलने की देर थी। दोनो दलों में मनमुटाव इतना वढ़ गया था और तनातनी इतनी गहरी हो चुकी थी कि उनको रोक रखना असम्भव था।†

* Gooch : *Before the war*, pp. 356-59

† Schmitt - *The Coming of the war*, (Vol. I) p. 243

इसके बदले में उसने यह सुझाव रखा कि आस्ट्रिया और रूस को सीधे बातचीत करके कोई फैसला कर लेना चाहिए।

फ्रांस का रुख— जब यूरोप की अवस्था इस तरह गिरती जा रही थी तो उस समय फ्रांस की सरकार चुपचाप बैठी हुई थी। वास्तव में फ्रांस की सरकार शान्ति के लिए प्रयास करने के बदले रूस को उग्र नीति अपनाने के लिए उसका रही थी। फ्रांसीसी राष्ट्रपति और विदेश मंत्री दोनों अपने देश में इस समय नहीं थे। 29 जुलाई के दोपहर में पोअन्कारे पेरिस पहुँचा। वह प्रतिरोध की भावना का समर्थक था और युद्ध को अवश्यम्भावी समझता था। अतः रूस पर दबाव डालने के बदले वह उसको और उसकाने लगा। वास्तव में पोअन्कारे की यह चाल थी कि वह ऐसी कूटनीतिक स्थिति पैदा करा दे जिससे जर्मनी आक्रामक के रूप में प्रकट हो और ब्रिटेन की सहायता पाने में कोई कठिनाई नहीं हो।*

इसी बीच रूस और आस्ट्रिया के बीच प्रत्यक्ष रूप से बातचीत प्रारम्भ हो गयी थी। यह बातचीत कभी सफल होने को नहीं थी। रूस आस्ट्रिया दोनों में कोई अपने स्थान से एक इंच भी डिगनेवाले नहीं थे। बर्शटोल्ड किसी भी हालत में इस मौके को छोड़ने के पक्ष में नहीं था। वह शीघ्र ही अन्तिम कदम उठा लेना चाहता था जिससे मध्यस्थता की बातें आगे नहीं बढ़े। 27 जुलाई को उसने युद्ध-घोषणा का मसविदा तैयार कर लिया और फ्रांसिस जोसेफ का उस पर हस्ताक्षर भी प्राप्त कर लिया। 28 जुलाई को दोपहर के समय तार द्वारा युद्ध की घोषणा सर्बिया भेज देने का फैसला कर लिया।

कूटनीतिज्ञों की परेशानी—इस समय से यूरोप के विभिन्न विदेश-मंत्रालयों में बेचैनी फैल गयी। कूटनीतिज्ञों का धैर्य जाता रहा। उनको जिन दिक्कतों का सामना करना पड़ रहा था उनसे वे घबड़ा गये थे। करीब-करीब सभी कूटनीतिज्ञों की यही हालत थी। उन्हें न तो भोजन करने की फुर्सत मिलती थी और न सोने की। इसका प्रभाव उनके शरीर और दिमाग पर काफी बुरा पड़ता था। उनके पास सोचने की शक्ति नहीं रह गयी थी। प्रत्येक विदेश-मन्त्रालय में एक घण्टे में दर्जनों तार आते रहते थे। तरह-तरह के प्रस्तावों से उनका दिमाग भरा रहता था। कौन-सा जवाब किस प्रश्न के लिए भेजा जा रहा है, इसका भी ख्याल उनको नहीं रहता था। जब देश के नेता और कर्णधार ही अपना मानसिक सन्तुलन खो दें तो क्या नहीं हो सकता है। परिस्थिति पर उनका नियन्त्रण नहीं रह गया था और काम के दबाव में सन्तुलन खो देना स्वाभाविक था। जुलाई के तूफानी दिनों

* Fay : *Origins of the World War* (*vol. ii*), p. 363

गुटबन्दियों के स्वरूप में परिवर्तन हो जाने के परिणामस्वरूप यूरोपीय-शक्ति-संतुलन में काफी हेरफेर हो गया। बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में जर्मनी यूरोप का सबसे शक्तिशाली राष्ट्र था। वास्तव में जैसा प्रोफेसर मैंगसर कहते हैं—1878 में यूरोप में कोई शक्ति-संतुलन नहीं था। यूरोप में जर्मनी की प्रभुता और प्रबलता स्थापित हो चुकी थी और आस्ट्रिया तथा रूस के साथ सन्धि होने के कारण उसकी महत्ता और भी बढ़ती चली जा रही थी। यद्यपि 1893 में रूस जर्मनी से अलग हो गया और इसके कुछ दिनों के बाद इटली के शत्रुओं के साथ 'प्रणय-लीला' में संलग्न हो गया, तौभी जर्मनी की स्थिति काफी मजबूत बनी रही। आंग्ल फ्रांसीसी और आँग्ल-रूसी समझौता होने के बाद स्थिति में काफी परिवर्तन आने लगा। धीरे-धीरे जर्मनी के इस विरोधी गुट का पलड़ा भारी होने लगा और पाँच-छह वर्षों के भीतर यह इतना भारी हो गया कि मार्च, 1914 में कैसर को यह कहना पड़ा कि "आज हम अपने को असहाय पाते हैं।" रूस में युद्ध की जोरदार तैयारी हो रही थी और फ्रांसीसी सेना आधुनिकतम अस्त्र-शस्त्रों से लैस की जा रही थी। रूस के एक प्रमुख पदाधिकारी को यह कहते हुए सुना गया था कि "रूस तैयार है और अब फ्रांस को भी तैयार हो जाना चाहिए।" दोनों देशों में सैनिकवाद प्रचंड रूप धारण कर रहा था। बाल्कन-प्रायद्वीप में युद्ध के काले बादल मँडरा रहे थे। सर्बिया और उसका संरक्षक रूस इस क्षेत्र में अपनी-अपनी महत्त्वाकांक्षा पूरा करने के लिए छटपटा रहे थे। जर्मनी के मित्र आस्ट्रिया की स्थिति खतरे से खाली नहीं थी। उसका और रूस का संबंध बाल्कन-प्रायद्वीप को लेकर दिनोंदिन बिगड़ रहा था। कब ये ताल ठोककर अखाड़े में कूद पड़ेंगे, कहना मुश्किल था। मार्च, 1914 में यह स्पष्ट हो चुका था कि युद्ध को अब अधिक दिनों तक नहीं रोका जा सकता है। ऐसी दशा में क्या जर्मनी और आस्ट्रिया चुप बैठे रहते? ऐसा करने का अर्थ अपनी जान को जोखिम में डालना था। अतः जर्मनी और आस्ट्रिया अपनी सैनिक योजना को संतुलित करने लगे। यूरोपीय शक्ति-संतुलन दिनोंदिन आस्ट्रिया तथा जर्मनी के हक में हल्का पड़ रहा था। इनको यह भय था कि पलड़ा भविष्य में और भी हल्का न पड़ जाय। इस तरह की दुर्दशा होने के पूर्व ही अंतिम फैसला करना जर्मनी की समझ में अच्छा था। कॉनराइड का कहना था—"त्रिगुट के सामने दो मार्ग हैं। शत्रुओं पर या तो शीघ्र ही हमला बोल दिया जाय अथवा सैन्यशक्ति को और अधिक बढ़ाया जाय। सैनिक दृष्टिकोण से मेरे विचार में पहला मार्ग ही उपयुक्त है।" कॉनराइड के इस विचार से जर्मनी का प्रधान सैनिक अधिपति मोलटके भी पूर्ण रूप से सहमत था।*

---

* Brandenburg : *From Bismarck to the Great War*, p. 361

का विवरण प्रस्तुत करने में हम इन बातों को नहीं भूल सकते हैं। अगर कूटनीतिज्ञों के बीच इस तरह की घबड़ाहट और बेचैनी नहीं पैदा हुई रहती तो यह शायद सम्भव था कि युद्ध होने से बच जाता।*

जर्मनी का प्रयत्न—जर्मनी को आस्ट्रिया के अगले कदम का पता पहले ही लग चुका था। आस्ट्रिया सर्बिया पर शीघ्र ही युद्ध उद्घोषित करनेवाला था और जर्मनी की इच्छा अभी तक पूरी नहीं हो सकी थी। जर्मनी चाहता था कि अगर आस्ट्रिया और सर्बिया में युद्ध छिड़ जाय तो यह युद्ध फैले नहीं। इसमें यूरोप के अन्य देश सम्मिलित नहीं हों। लेकिन, 27 जुलाई को यह स्पष्ट हो गया कि युद्ध सीमित नहीं रह सकता है। रूस अपने अनुयायी सर्बिया की सहायता अवश्य करेगा। वैसी हालत में जर्मनी को अपने साथी देश की सन्धि के अनुसार अवश्य सहायता देनी होगी। जर्मनी ने आस्ट्रिया पर कोई दबाव नहीं डाला था, बल्कि युद्ध के लिए उसको प्रोत्साहित ही किया था। वह इसी भरोसे पर ठहरा था कि जर्मनी किसी तरह युद्ध को सीमित बना कर रखेगा। यह सम्भावना अब नहीं रही। अगर अपने को विश्व-युद्ध से बचाना है, फ्रांस के प्रतिरोध से रक्षा करना है तो अन्तिम घड़ी में जर्मनी आस्ट्रिया पर दबाव डालकर उसको उग्र नीति का परित्याग करने को बाध्य करे। खासकर सर्बिया का उत्तर आ जाने के बाद जर्मनी ने अपने मित्र देश पर अंकुश लगाने का काम आवश्यक समझा। कैसर ने फ्रांसिस जोसेफ को लिखा—"आस्ट्रिया की लगभग सभी इच्छाएँ पूरी हो गयी हैं। जो थोड़ी बातें शेष रह गयी हैं, उन्हें बातचीत करके तय किया जा सकता है।" आस्ट्रिया पर इन बातों का कोई प्रभाव नहीं पड़ा। रूस के साथ आस्ट्रिया की जो बातचीत चल रही थी उसको समाप्त कर दिया गया और 28 जुलाई को 11 बजकर 10 मिनट पर दिन में वियना से युद्ध की घोषणा का तार बेलग्रेड भेज दिया गया। साढ़े बारह बजे यह तार सर्बिया की सरकार को मिला। आस्ट्रिया की सेना आगे बढ़ने लगी। उधर सर्बिया पहले से तैयार था। जिस समय निकोला पाशिष आस्ट्रिया के राजदूत गिश्ल को अन्तिमेत्थम् का जवाब देने गया था उसी समय सर्बिया की सेना को हथियार उठाने की आज्ञा मिल चुकी थी।

29 जुलाई को बेथमान-हौलवेग ने स्थिति को सम्हालने के लिए अन्तिम उपाय किया। सर्बिया के साथ आस्ट्रिया का सम्बन्ध-विच्छेद हो चुका था और दोनों देश युद्ध की स्थिति में चले आये थे। लेकिन, रूस के साथ बातचीत बन्द कर देने से क्या लाभ था? जर्मनी ने एक बार फिर युद्ध को सीमित करने का प्रयत्न किया। 29 जुलाई को जर्मन चान्सलर ने अपने राजदूत को इस आशय का आदेश भेजा—

* Fay : *Origins of the World War (vol. ii)*, p. 288

कोनोपिस्ट की संधि :—जिस समय यूरोप इस परिस्थिति से गुजर रहा था
उस समय यूरोप के शासकगण अपने मित्रराज्यों में राजकीय यात्रा पर आवागमन कर
रहे थे। उनको पूर्ण विश्वास हो गया था कि युद्ध अवश्यम्भावी है और इसके लिए
वे व्यक्तिगत सम्पर्क करके पहले से ही सामरिक योजना का प्रबंध कर लेना चाहते
थे। जून, 1914 में ब्रिटिश-सम्राट् पंचम जार्ज पेरिस गये और उसी महीने में
फ्रांसीसी राष्ट्रपति पोअन्कारे ने रूस की यात्रा की। रूस में उनका शाही स्वागत
हुआ। लेकिन यह स्वागत उतना महत्त्वपूर्ण नहीं था जितना फ्रांसीसी राष्ट्रपति का
रूस का आश्वासन था। पोअन्कारे ने रूसी शासकों को फ्रांस की मित्रता
और सहायता का फिर से भरोसा दिलाया और इस बात का वचन दिया कि
अगर आस्ट्रिया द्वारा सर्विया पर आक्रमण करने के कारण रूस ने इस मामले में
हस्तक्षेप की आवश्यकता अनुभव की, तो फ्रांस अपने मित्र की सहायता करने में
संकोच नहीं करेगा। पोअन्कारे की यात्रा से रूस के उन नेताओं का हाथ काफी
मजबूत हो गया, जो युद्ध के लिए उत्सुक थे और जो युद्ध को ही रूस की महत्त्वा-
काँक्षाओं की पूर्ति का एकमात्र साधन मानते थे।

पर इन सभी यात्राओं से कैसर की कोनोपिस्ट की यात्रा सबसे महत्त्वपूर्ण
थी। कोनोपिस्ट में आस्ट्रियन युवराज फ्रांसिस फार्डिनेन्ड का विशाल महल स्थित
था और गुलाब के फूलों के लिए यह जगतप्रसिद्ध था। सरकारी तौर पर यह घोषणा
की गयी कि कैसर इन्हीं फूलों की शोभा देखने के लिए जा रहा है। लेकिन दुनिया
को इस पर विश्वास नहीं हुआ। कैसर अपने साथ एडमिरल टिरपिट्ज को भी
लेता गया था। उधर युवराज फार्डिनेन्ड भी कई तरह से आस्ट्रिया के सैनिक
संगठन से ताल्लुक रखता था। अतः यह स्पष्ट था कि कैसर की यह यात्रा कोनो
पिस्ट का दृश्य देखने के लिए ही नहीं हुई है। लोगों ने समझा कि दाल में कुछ
काला अवश्य है।

कोनोपिस्ट में युवराज से सम्राट् की मुलाकात अनेक बार हुई। उनलोगों
ने किन-किन समस्याओं पर विचार-विमर्श किया, यह कहना कुछ कठिन है।
'लन्दन-टाइम्स' के संवाददाता विकहम स्टिड ने इस मुलाकात पर तरह-तरह के
संवाद अपने पत्र को भेजे थे। संवाददाता स्टिड के अनुसार दोनों राजनीतिज्ञों ने
सभी सम्भावनाओं पर विचार-विमर्श किया और अन्त में एक निष्कर्ष पर पहुँचे
जिसको अफवाह फैलानेवाले संवाददाता ने 'कोनोपिस्ट की सन्धि' की संज्ञा दी।
युवराज और सम्राट् ने फैसला किया कि जर्मनी और आस्ट्रिया को शीघ्र ही प्रतिक-
रात्मक युद्ध (preventive war) प्रारम्भ कर देना चाहिए। हाल में कुछ ऐसे काग-
जात प्राप्त हुए हैं, जिनके आधार पर विकहम स्टिड की इस मनगढ़न्त कहानी का

"हम आस्ट्रिया से यह आशा नहीं कर सकते कि वह सर्बिया के साथ बातचीत करे; क्योंकि इसके साथ युद्ध छिड़ चुका है। लेकिन, रूस के साथ वातचीत बन्द कर देना एक भयंकर भूल है। हम अपना कर्त्तव्य पूरा करने के लिए तैयार हैं। परन्तु एक साथी के नाते यदि आस्ट्रिया हमारी सलाह नहीं मानता तो हमें अपने को विश्व-युद्ध में झोंक देने से इन्कार कर देना चाहिए। आप यह बात बर्शटोल्ड से पूरी गम्भीरता तथा जोरदार शब्दों में कह दें।" यह एक बहुत अफसोस की बात है कि समय निकल जाने के बाद जर्मनी ने आस्ट्रिया के साथ ऐसा कड़ा रुख अपनाया। अगर इस तरह का रुख प्रारम्भ में ही अपनाया गया होता तो शायद स्थिति काबू में आ सकती थी। लेकिन, जर्मनी को आस्ट्रिया को 'ब्लैंक चेक' देने की आदत हो गयी थी; इसीलिए आस्ट्रिया पर इस कड़ी चेतवानी का कोई प्रभाव नहीं पड़ा। एक ही दिन में चान्सलर ने तीन तार वियना भेजे और सब में रूस के साथ बातचीत करने का सुझाव दिया गया था। बाध्य होकर आस्ट्रिया ने पुनः बातचीत प्रारम्भ कर दी।

ब्रिटेन का प्रयास—इसी समय शान्ति-रक्षा के लिए ब्रिटेन ने एक अन्तिम प्रयत्न किया। जब सर एडवर्ड ग्रे को यह सूचना मिली कि जर्मनी की अभ्यर्थनाओं के फलस्वरूप रूस और आस्ट्रिया के बीच बातचीत पुनः प्रारम्भ हो गयी है तो उसने सन्तोष प्रकट किया। परन्तु सर ग्रे को इस बात की आशंका बनी रही कि जबतक आस्ट्रिया के द्वारा अपनी सैनिक कार्रवाई को नहीं रोक दिया जाता तब तक रूस से यह कैसे आशा की जा सकती थी कि वह अपनी सैनिक तैयारी को रोक दे। किसी को ऐसी उम्मीद नहीं थी कि जब आस्ट्रिया अपने शत्रु को पैरों तले रौंदता और कुचलता चला जा रहा हो तब रूस चुपचाप शान्त बैठा रहेगा। बातचीत की सफलता की सम्भावना इसी शर्त पर थी कि सर्बिया के खिलाफ की जानेवाली कार्यवाही को बन्द कर दिया जाय। आस्ट्रिया इस बात को मानने के लिए तैयार नहीं था। शान्ति के सभी प्रयास विफल रहे। आस्ट्रिया इस समय शक्ति के मद में चूर हो रहा था। वह किसी की बात सुनने को तैयार नहीं था।*

रूस में युद्धबन्दी—जब यह स्पष्ट हो गया कि आस्ट्रिया किसी तरह मानने को तैयार नहीं है और सर्बिया के साथ उसका युद्ध अवश्यम्भावी है तो रूस में युद्धबन्दी (mobilization) की कार्रवाई प्रारम्भ हो गयी। 29 जुलाई को रूस ने अपनी सेना को हथियार उठाने की आज्ञा दे दी। दूसरे दिन जार ने व्यापक युद्धबन्दी की आज्ञा दे दी। व्यापक युद्धबन्दी का मतलब काफी भयंकर होता है। युद्धबन्दी की आज्ञा देना युद्ध की घोषणा के समान होता है। आधुनिक युद्ध में समय और गति का बहुत महत्त्व होता है। जिस देश ने पहले युद्धबन्दी कर दी और शत्रु पर

---

* Gooch : *History of Modern Europe*, p 360.

खण्डन किया जा सकता है।* लेकिन उस समय दुष्ट संवाददाता का जहरीला प्रचार अपना काम कर गया। यूरोप में तरह-तरह की आशंकाएँ व्यक्त की जाने लगी। खासकर सर्ब-जगत में सनसनी फैल गयी। ऊपर कहा जा चुका है कि राष्ट्रवादी सर्ब-लोग युवराज फार्डिनेन्ड को अपना कट्टर दुश्मन समझते थे। सर्ब-लोगों यह अफवाह फैली कि युवराज ने निर्णय ले लिया है और उस निर्णय से वियना के शासकगण सहमत हैं कि सर्ब-आन्दोलन को सदा के लिए कुचल दिया जाय अफवाह में नमक-मिर्च लगते देर नहीं होती। एक अफवाह के बाद दूसरी अफवाह फैलती है। एक दूसरी अफवाह यह फैली कि 1914 के ग्रीष्म में आस्ट्रिया सर्बिया पर चढ़ाई कर देगा। सम्पूर्ण सर्ब-जगत में तहलका मच गया।

सेराजवो की हत्या—इसी समय वियना से यह घोषणा की गई कि युवराज फार्डिनेन्ड 28 जून 1914 का बोस्निया की राजधानी सेराजवो में एक राजकीय यात्रा पर जायँगे। क्रान्तिकारी सर्ब-लोगों को इससे बढ़कर अच्छा मौका मिलनेवाला नहीं था। 'काला हाथ' संस्था सक्रिय हो गयी। सर्ब-क्रान्तिकारी युवराज की हत्या की योजना बनाने लगे और अन्त में अपने काम में सफल हुए। 28 जून को सेराजवो में युवराज की हत्या कर दी गयी। प्रथम विश्व-युद्ध का वह तात्कालिक कारण था। युद्ध के मौलिक कारण पहले से मौजूद थे। यूरोप दो गुटों में बँट चुका था। हथियारबन्दी की होड़ जारी थी। साम्राज्यवाद का भूत सवार था। अन्तर्राष्ट्रीय संकट और दुर्घटनाएँ होती रहती थीं। लेकिन, इन सब बातों के होते हुए भी विश्व-युद्ध का छिड़ जाना सन्देहात्मक था, अगर युवराज की हत्या न हुई होती। बारूद बिल्कुल सूखी हुई थी। उसे केवल एक चिनगारी की आवश्यकता थी। युवराज की हत्या से यह चिनगारी मिल गयी और विश्व-युद्ध अवश्यम्भावी हो गया।

जुलाई के तूफानी दिन—सेराजवो-हत्या से यूरोप का राजनीतिक वातावरण एक अभूतपूर्व उत्तेजना से भर गया। अपने युवराज की हत्या को निमित्त बनाकर आस्ट्रिया ऐसे उपायों का अवलम्बन करने के लिए उत्सुक था, जिनसे सर्ब-राष्ट्रीय आन्दोलन को पूर्ण रूप से कुचल दिया जाय। बर्शटोल्ड सर्बिया के साथ अन्तिम निर्णय करने के अवसर की प्रतीक्षा कर रहा था। अब उसे अवसर मिल गया था और इसका उपयोग करने के लिए वह कृतसंकल्प था प्रधान सैनिक-अधिपति कॉनराड ने तुरत ही युद्ध करने की आज्ञा माँगी। बेलग्रेड में स्थित आस्ट्रिया के राजदूत ने भी अपने प्रधानमंत्री को सर्बिया के विरुद्ध कड़ी कार्रवाई करने की सलाह दी।† आस्ट्रिया-साम्राज्य में केवल एक ही व्यक्ति था, जो किसी प्रकार की जल्दीबाजी के विरुद्ध था। आस्ट्रिया-साम्राज्य के हंगरीवाले हिस्से का प्रधानमंत्री

* S. B Fay : *Origins of the First World War (vol ii)* pp.32-43.

† Gooch : *History of Modern Europe*, p. 356.

हमला कर दिया उसकी स्थिति सामरिक दृष्टिकोण से काफी अच्छी हो जा सकती है। थोड़ी देर करने से सारी योजना मिट्टी में मिल जा सकती है। अतः जब एक देश व्यापक युद्धबन्दी कर देता है तो उसका शत्रु देश सशंकित हो जाता है और अपनी रक्षा के लिए सैनिक कार्यवाही शुरू कर देता है। इसका अर्थ व्यापक संघर्ष का प्रारम्भ है।*

जर्मनी की युद्धबन्दी—ऐसी हालत में जर्मनी चुपचाप नहीं बैठ सकता था। जब रूस ने व्यापक युद्धबन्दी की आज्ञा दे दी तो जर्मनी-राजदूत को ऐसा प्रतीत हुआ कि शायद जार अपनी कार्यवाही की गम्भीरता को अच्छी तरह नहीं समझ रहा है। 25 जुलाई को जर्मनी ने यह चेतावनी दे दी थी कि अगर रूस ने युद्धबन्दी की आज्ञा दे दी तो जर्मनी शीघ्र ही अपनी कार्यवाही शुरू कर देगा। ऐसी हालत में व्यापक युद्धबन्दी की आज्ञा देकर रूस संसार के लिए एक बहुत बड़ा संकट मोल ले रहा था। लेकिन, जब एक बार युद्धबन्दी हो गयी तो उसको रोक रखना आसान नहीं था। तलवार जब म्यान से निकल गयी तो वार करना आवश्यक था। रूस की व्यापक युद्धबन्दी के बाद जर्मनी को कुछ करना था। 1 अगस्त को जर्मनी ने रूस के विरूद्ध युद्ध की घोषणा कर दी।

फ्रांस का युद्ध में प्रवेश – 1894 की सन्धि के अन्तर्गत फ्रांस रूस पर जर्मन आक्रमण की स्थिति में अपने मित्र को सैनिक सहायता देने के लिए वचनबद्ध था। लेकिन, 1 अगस्त तक फ्रांस ने इस सम्बन्ध में कोई निर्णय नहीं लिया था। फ्रांस नहीं चाहता था कि वह दुनिया के सामने आक्रमणकारी के रूप में उपस्थित हो। "अगर जर्मनी हमलोगों पर चढ़ाई करता है", पोअन्कारे ने कहा, 'तो फ्रांस हिम्मत के साथ उसका विरोध करेगा।" 31 अगस्त को जर्मनी-राजदूत ने फ्रांसीसी सरकार से यह प्रश्न पूछा कि रूस-जर्मन-युद्ध की स्थिति में फ्रांस क्या करने को सोच रहा है। "अपने देश के हित में जो अच्छा होगा फ्रांस वही करेगा।" फ्रांसीसी विदेश-मंत्री का यही जवाब था। इस जवाब पर बर्लिन के सैनिक अफसर बड़े पेशोपेश में पड़ गये। उनकी सभी योजनाएँ बेकार पड़ रही थीं। जर्मनी जानता था कि उसको दो सीमाओं पर युद्ध करना है। अतः वह शीघ्र ही फ्रांस की स्थिति जानना चाहता था। देर करने से सारा काम चौपट हो सकता था। जल्दीबाजी करने से संसार के द्वारा आक्रमणकारी कहलाने का भय था। अन्त में जर्मनी के शासकों ने शीघ्रता करने का ही निर्णय लिया और 3 अगस्त को फ्रांस के विरूद्ध युद्ध उद्घोषित कर दिया गया।

बेल्जियम की तटस्थता का प्रश्न - जब जर्मनी ने फ्रांस पर युद्ध की घोषणा कर दी तो उसके सामने अब यही प्रश्न था कि वह जल्द-से-जल्द फ्रांस पर आधिपत्य

* Fay : *Origins of the World War*, (vol. ii) p 479.

काउन्ट स्टिफन टिस्ज़ा ने सम्राट् फ्रांसिस जोसेफ को एक स्मरण-पत्र द्वारा चेतावनी
दी कि इस बात का कोई यथेष्ट प्रमाण नहीं है-कि बेलग्रेड पर अपराध का आरोप
लगाया जा सके और यदि ऐसा किया गया तो सभी देश यह समझने लगेंगे कि
शांति-भंग करने की जिम्मेवारी आस्ट्रिया पर है। लेकिन, वियना के शासकगण
सर्विया के साथ अंतिम फैसला करने के लिए तैयार बैठे थे। ऐसी स्थिति में जर्मनी
ही आस्ट्रिया के शासकों पर कोई रोक लगा सकता था। पर जर्मनी इस तरह की
कोई कार्रवाई करने को तैयार नहीं था। जब केसर ने युवराज की हत्या की खबर
सुनी तो उसके होश उड़ गये। 5 जुलाई को उसको सम्राट् फ्रांसिस जोसेफ के हाथों
लिखी एक चिट्ठी प्राप्त हुई। इस पत्र में सम्राट् ने निराशापूर्ण विचार व्यक्त किये
थे और त्रिगुट की शर्तों के अनुसार जर्मनी से हर हालत में सहायता का आश्वासन
मांगा गया था।

केसर और जर्मनी के अन्य शासकों के सामने स्थिति स्पष्ट थी। उसने
आस्ट्रिया के राजदूत को आश्वासन दिया कि अन्य सभी मामलों के समान इस
मामले में भी आस्ट्रिया जर्मनी के पूर्ण समर्थन पर निर्भर रह सकता है। सर्विया
के विरुद्ध कार्यवाही करने में देर नहीं लगानी चाहिए। इसमें संदेह नहीं कि रूस इसका
विरोध करेगा। परन्तु वे इस सम्भावना के लिए पहले से तैयार थे। अगर आस्ट्रिया
और रूस के बीच युद्ध अनिवार्य हो जाता है तो जर्मनी निस्संकोच अपने साथी
की ओर से लड़ेगा। रूस अभी युद्ध के लिए पूरी तरह तैयार नहीं था। यदि
आस्ट्रिया वास्तव में इस निष्कर्ष पर पहुँच गया है कि सर्विया के विरुद्ध कार्यवाही
करनी आवश्यक है तो उसके लिए अनुकूल अवसर यही है और यदि उसका उपयोग
नहीं किया गया तो केसर को बहुत दुःख होगा। केसर के उत्तर का यही सारांश
था। बेथमान-हौलवेग से भी राजदूत को ऐसा ही आश्वासन मिल गया।*

"पोट्सडाम का निर्णय"—6 जुलाई को केसर अपने वार्षिक सामुद्रिक
भ्रमण पर जानेवाला था। भ्रमण पर निकलने के पहले उसने युद्ध-विभाग तथा
नौ-सेना के प्रतिनिधियों को बुलाकर राजनीतिक स्थिति से उन्हें अवगत कराया।
इस समय यूरोप में यह अफवाह फैल गयी कि जुलाई 5 के दिन पोट्स्डाम में जर्मन
के सैनिक और असैनिक नेताओं का एक सम्मेलन हुआ था जिसमें युद्ध की तैयारी
करने का निर्णय लिया गया था। लेकिन, यह अफवाह भी उतनी ही झूठी थी
जितनी दूसरी अफवाह, जिसको फैलाने के लिए समाचार-पत्रों के संवाददाता कोई
कसर नहीं उठा रहे थे।

काउंट टिस्ज़ा का विरोध :—इसी समय आस्ट्रिया का राजदूत काउंट
होयोस जर्मनी के समर्थन का आश्वासन पाकर वियना लौटा। अब बर्शटोल्ड उस

* N. Mansergh : *The Coming of the First World War*, p. 221

कर ले और फिर अपनी सम्पूर्ण सेना को रूस के साथ भिड़ा दे। प्रश्न केवल समय का था कि कौन कितना जल्द अपने शत्रु पर विजय प्राप्त कर लेता है। जर्मनी के लिए कम समय में पूर्ण विजय पाने का एक ही उपाय था। वह था बेल्जियम होकर फ्रांस पर हमला करना। लेकिन बेल्जियम एक तटस्थ देश था और तटस्थता के नियम के अनुसार वह किसी युद्धरत (belligerent) देश को किसी प्रकार की सहायता या सुविधा नहीं दे सकता था। जर्मनी के सामने जीवन-मरण का प्रश्न था। इस दशा में वह कहाँ तक अन्तर्राष्ट्रीय विधि की पवित्रता का परवाह कर सकता था। 2 अगस्त को सन्ध्या समय उसने बेल्जियम के सामने युद्ध की चुनौती के साथ यह माँग रख दी कि वह जर्मनी को अपने प्रदेश से सेनाएँ ले जाने की अनुमति दे दे। दूसरे दिन सुबह में जर्मनी की सेना बेल्जियम की तरफ चल चुकी थी।

युद्ध में ब्रिटेन का प्रवेश : - बेल्जियम के प्रश्न ने ब्रिटेन को भी युद्ध में सम्मिलित कर दिया। बेल्जियम की तटस्थता को भंग करना तथा उस पर आक्रमण करना ब्रिटेन की सुरक्षा के लिए एक बहुत खतरे की बात थी। 3 अगस्त को सर एडवर्ड ग्रे ने ब्रिटिश संसद् में एक भाषण दिया। इसमें उसने स्वीकार कर लिया कि यूरोप में शान्ति का निर्वाह करना असम्भव हो गया है। फ्रांस पर आक्रमण हो रहा था। ऐसी हालत में, सर ग्रे ने कहा, ब्रिटिश-संसद् को निर्णय करना है कि ब्रिटेन को क्या करना चाहिए। इससे भी अधिक गम्भीर प्रश्न बेल्जियम की तटस्थता का था। सर एडवर्ड ग्रे ने कहा—"यदि यह सच है कि जर्मनी ने बेल्जियम की तटस्थता को भंग कर दिया है तो यह बड़ी गम्भीर घटना है। यदि फ्रांस जर्मनी से हार जाता है, यदि बेल्जियम को उसी शक्तिशाली प्रभाव के सामने झुक जाना पड़ता है, इसके बाद हालैण्ड और डेनमार्क की यही दुर्गति होती है तो सोचिये कि ब्रिटेन के हितों का क्या होगा। यदि हम इस प्रकार के संकट में... पीछे हट जायँ...तो संसार में हमारा कुछ भी महत्त्व नहीं रह जायेगा। हम अपनी सेना को युद्ध के लिए तैयार कर रहे हैं। हम किसी की सहायता करने के लिए वचनबद्ध नहीं हैं। लेकिन, अगर हमें युद्ध में सम्मिलित होने के लिए विवश किया जाता है तो मुझे पूर्ण विश्वास है कि समस्त देश हमारा साथ देगा।" 4 अगस्त को लन्दन में यह समाचार पहुँचा कि जर्मन सेनाओं ने बेल्जियम की सीमाओं को पार करके आक्रमण का काम शुरू कर दिया है। शीघ्र ही ब्रिटिश-मंत्रिमंडल की बैठक हुई, युद्ध-घोषणा का मसविदा तैयार किया गया और बर्लिन के लिए उसे रवाना कर दिया गया। अब ब्रिटेन भी जी-जान से यूरोपीय युद्ध में सम्मिलित था।*

---

* N. Mansergh : *The Coming of the First World War*, p. 23

भयंकर वज्रपात की तैयारी करने लगा, जिसके कारण सारा यूरोप महाप्रलय में डूब गया। 7 जुलाई के दिन आस्ट्रिया-सरकार के मंत्रिमंडल की बैठक हुई। वर्शटोल्ड ने सर्विया के विरूद्ध युद्ध छेड़ देने की अनुमति माँगी। लेकिन, हंगरी का प्रधान-मंत्री काउंट टिस्ज़ा कोई खतरनाक कदम उठाने के विरोध में था। अतः यह बैठक बिना कोई अंतिम निर्णय लिए ही समाप्त हो गयी।

अब वर्शटोल्ड काउंड टिस्ज़ा को अपने पक्ष में करने का प्रयास करने लगा। इस समय वीजनर नाम का एक आस्ट्रियन पदाधिकारी, जिसको सरकार ने हत्या की जाँच-पड़ताल के लिए सेराजवो भेजा था, अपनी रिपोर्ट वर्शटोल्ड के पास भेज दी। वीजनर इस निष्कर्ष पर पहुँचा था कि कोई ऐसी बात नहीं पायी गयी है जिसके द्वारा यह प्रमाणित किया जा सके कि हत्याकाण्ड में सर्विया की सरकार का कोई हाथ था। पर, इसके साथ-साथ वीजनर ने यह भी बतला दिया था कि षड्यंत्र की जानकारी सर्बिया की सरकार को पहले से ही थी। वर्शटोल्ट ने इन बातों को और सर्विया के अखबारों की कड़ी भाषा को दिखलाकर काउंट टिस्ज़ा को अपने पक्ष में कर लिया। 14 जुलाई को जब मंत्रिमंडल की दूसरी बैठक बैठी तो टिस्ज़ा ने सर्विया के विरूद्ध युद्ध का समर्थन कर दिया। अब वर्शटोल्ट उस अंतिमेत्थम् की रूपरेखा तैयार करने लगा जो सर्बिया के पास भेजा जानेवाला था। 19 जुलाई को मंत्रिमंडल की एक तीसरी बैठक में यह अंतिमेत्थम् स्वीकृत कर लिया गया। यह निर्णय किया गया कि 23 जुलाई को सर्बिया-सरकार के सम्मुख इस अंतिमेत्थम् को प्रस्तुत कर दिया जायगा। उस दिन 48 घंटे की अवधि के साथ युद्ध की चुनौती बेलग्रेड में प्रस्तुत कर दी गयी।

आस्ट्रिया की चुनौती—सर्बिया ने इस चुनौती का क्या जवाब दिया और राजदूत गिश्ल ने किस शीघ्रता के साथ आस्ट्रिया-सर्बिया का कूटनीतिक सम्बन्ध-विच्छेद कर दिया, इसका विवरण हम पहले ही कर चुके हैं। 24 जुलाई को आस्ट्रिया के अंतिमेत्थम् की एक प्रति सर एडवर्ड ग्रे को प्राप्त हुई। इस पर दृष्टिपात करके उन्होंने इस बात पर अपना खेद प्रकट किया कि ऐसी नाजुक स्थिति में समय की अवधि रखी गयी है। उन्होंने "कभी एक राज्य को दूसरे राज्य के पास इस प्रकार की धमकी भरा पत्र" भेजे जाते हुए नहीं देखा था। सर ग्रे इस बात पर स्पष्ट थे कि सर्बिया एक प्रभुसत्ता-सम्पन्न राज्य होने के नाते किसी भी हालत में आस्ट्रिया की शर्तों को स्वीकार नहीं करेगा और आस्ट्रिया की सेनाएँ दो दिनों के भीतर सर्बिया में प्रवेश कर जायेंगी। ज्योंही आस्ट्रिया सर्बिया पर चढ़ाई करेगा रूस कार्यवाही करने के लिए विवश हो जायेगा और उसके बाद स्थिति काबू में नहीं रह जायेगी। फिर फ्रांस, जर्मनी और ब्रिटेन की बारी आयेगी

जब ब्रिटिश-राजदूत जर्मनी के चान्सलर को ब्रिटेन का अन्तिमेत्थम् देने आया तो उस समय चान्सलर "बहुत व्यग्र" था। चान्सलर के साथ अपनी मुलाकात का वर्णन ब्रिटिश-राजदूत इन शब्दों में करता है—"मैंने उसको बहुत ही उत्तेजित अवस्था में पाया। उसने कहना शुरू किया—"केवल एक शब्द 'तटस्थता' के लिए, केवल एक 'कागज के टुकड़े' (scrap of paper) के लिए, ब्रिटेन अपने उस स्वजातीय राष्ट्र के विरूद्ध में युद्ध में शामिल हो रहा है जिसकी सबसे बड़ी इच्छा यह थी कि उसके साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध बनाये रखा जाय।" इसके पूर्व बेल्जियम की चर्चा करते हुए वह जर्मन संसद् में निम्नलिखित बातें बोल चुका था-"सज्जनो! यह अन्तर्राष्ट्रीय नियमों के प्रतिकूल है। पर हम संकट की स्थिति में हैं और ऐसी अवसरों पर नियमों की दुहाई देना व्यर्थ है। आवश्यकता कानून की परवाह नहीं करती है।"

इस तरह एक लम्बी अवधि की प्रतीक्षा के बाद 4 अगस्त, 1914 के दिन यूरोप में विश्व-युद्ध छिड़ गया। उस दिन सन्ध्या के समय सर एडवर्ड ग्रे दुखी अवस्था में विदेश-मन्त्रालय की एक खिड़की से झाँक रहे थे। एक लम्बी चीख के बाद उनके मुख से निम्नलिखित शब्द निकल पड़े—"यूरोप से प्रकाश लुप्त हो रहा है। शायद यह हमलोगों के जीवन-काल में फिर नहीं लौट सकता।"

यूरोपीय युद्ध-का विश्व-युद्ध में परिणत होना :—ब्रिटेन के युद्ध में सम्मिलित होने के बाद धीरे-धीरे युद्ध का क्षेत्र बढ़ने लगा। 7 अगस्त को सर्बिया का पक्ष लेकर मान्टिनीग्रो युद्ध में सम्मिलित हो गया। इसके बाद 23 अगस्त को जर्मनी के विरूद्ध जापान युद्ध में शामिल हुआ। 29 अक्टूबर को जर्मनी के साथ एक गुप्त संधि करके तुर्की ने मित्रराष्ट्रों के खिलाफ युद्ध की घोषणा कर दी।

केन्द्रीय सत्ताओं के मित्र होते हुए भी युद्ध के आरम्भ में इटली और रूमानिया तटस्थ रहे क्योंकि उनके अनुसार जर्मनी और आस्ट्रिया आत्म-रक्षा के लिए नहीं लड़ रहे थे। अप्रिल 1915 में मित्रराष्ट्रों ने इटली के साथ लन्दन में एक गुप्त संधि करके और उसे प्रलोभन देकर अपनी ओर मिला लिया। 23 मई को आस्ट्रिया के खिलाफ इटली ने युद्ध की घोषणा कर दी। 14 अक्टूबर को बुल्गेरिया ने जर्मनी का पक्ष लेकर सर्बिया के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। 1916 तक रूमानिया युद्ध से अलग रहा। लेकिन अगस्त 1916 में उसने भी आस्ट्रिया के विरूद्ध युद्ध की घोषणा कर दी और महायुद्ध में सम्मिलित हो गया। इसके पूर्व, मार्च 1916 में पुर्तगाल जर्मनी के विरूद्ध युद्ध की घोषणा कर चुका था। यद्यपि यूनान 1917 में विधिवत युद्ध में शामिल हुआ लेकिन शुरू से ही उसकी सहानुभूति मित्रराष्ट्रों के पक्ष में थी और वे युद्ध-संचालन के लिए यूनानी भूमि का प्रयोग

और उसके वाद न जाने क्या होगा। अतः सर ग्रे मध्यस्थता कर के यूरोप को कठिन परिस्थिति से निकालना चाहते थे।

विभिन्न देशों की प्रतिक्रिया — केवल चौवीस घण्टे पूर्व जर्मनी को आस्ट्रिया के अन्तिमेथम् की एक प्रति प्राप्त हुई। जर्मन-सरकार वहुत पहले से कोशिश कर रही थी कि किसी तरह इस अन्तिमेत्थम् का सारांश उसको कुछ पहले मिल जाय। लेकिन, आस्ट्रिया की सरकार इस ताक में थी कि उसके अन्तिमेत्थम् के रहस्य का किसी को पता नहीं लगे। इसका एक कारण था। राष्ट्रपति पोअन्कारे २० जुलाई को रूस पहुँचनेवाला था और तीन दिनों तक वहाँ उसके ठहरने की वात थी। अगर आस्ट्रिया की शर्तें उसको पहले प्राप्त हो जाती तो वह निश्चय ही रूस को सर्विया को वेशर्त मदद करने की राय देता। वर्शटोल्ड इस सम्भावना से वचना चाहता था। इसलिए आस्ट्रिया जर्मनी से भी अन्तिमेत्थम् की वात छिपाकर रखना चाहता था। वर्लिन में जव अन्तिमेत्थम् की एक प्रति प्राप्त हुई तो वहाँ के शासकगण घवड़ा उठे।* अन्तिमेत्थम् देखने के वाद वे इस निष्कर्ष पर पहुँच गये कि इसमें यूरोपीय-युद्ध की पूरी संभावना है। इतना होने पर भी जर्मनी के शासकों ने सभी विपत्तियों के वावजूद आस्ट्रिया को मदद देने का वचन दे दिया।

जर्मनी को सवसे अधिक चिन्ता व्रिटिश प्रतिक्रिया से थी। उस समय आयरलैंड में गृह-युद्ध चल रहा था और व्रिटेन की जनता उसी समस्या में व्यस्त थी। पर जव संकट गम्भीर हो गया तो व्रिटेन के शासकों का ध्यान इस तरफ आकृष्ट हुआ। लन्दन में नीति-निर्धारकों का विश्वास था कि संकट के समाधान की कुंजी केवल वर्लिन के पास है। आस्ट्रिया किसी की वात मानने को तैयार नहीं था। जर्मन ही एक ऐसा देश था जो उस पर दवाव डाल सकता था। अतः सर एडवर्ड ग्रे ने जर्मन-सरकार को यह चेतावनी दे दी कि अगर वह संसार को सर्वनाश से वचाना चाहती है तो वियना पर जवर्दस्त दवाव डाले। सर ग्रे का विश्वास था कि जर्मन के दवाव के फलस्वरूप अगर वियना ने अपनी नीति में कुछ संशोधन किया तो पीछे चलकर अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन करके संकट का कोई समाधान कर लिया जायेगा। 1912-13 में लन्दन-राजदूत-सम्मेलन को आशातीत सफलता मिली थी। उसी आधार पर सर ग्रे का विश्वास था कि सम्मेलन के द्वारा यह सकट टाला जा सकता है।

इसी वीच आस्ट्रिया के अन्तिमेत्थम् का जवाव सर्विया ने भेज दिया। सर्विया ने आस्ट्रिया की करीव सभी माँगें स्वीकार ली थी। कैसर को जव इस जवाव का पता लगा तो उसने सन्तोष की एक गहरी सांस ली। "इससे वढ़कर

*Gooch : *History of Modern Europe*, p. 356

1915 से ही करते आ रहे थे। इस प्रकार नार्वे, स्वेडन, हालैंड, स्विट्जरलैंड तथा स्पेन को छोड़कर यूरोप के सभी देश युद्ध में शामिल हो गये थे।

जिस समय युद्ध में ब्रिटेन का प्रवेश हुआ उसी समय ब्रिटिश साम्राज्य के सभी देश युद्ध में शामिल हो गये। संयुक्त राज्य अमेरिका ने आरम्भ में युद्ध में तटस्थ रहने का अपना इरादा प्रकट किया। लेकिन आगे चलकर जब जर्मनी ने अनियंत्रित पनडुब्बी युद्ध शुरू किया और अमरीकी जहाजों पर आक्रमण होने लगा तो अप्रिल 1917 में उसने जर्मनी के विरूद्ध युद्ध की घोषणा करके मित्रराष्ट्रों की ओर से लड़ना आरम्भ कर दिया। संयक्त राज्य अमेरिका के युद्ध में शामिल होने से मध्य और लेटिन अमेरिका के अनेक देश भी मित्रराज्यो की ओर से युद्ध में शामिल हो गये। स्याम, लिवेरिया और चीन ने भी केन्द्रीय शक्तियो के विरूद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। इस प्रकार, इन राज्यो के युद्ध में शामिल हो जाने से यूरोपीय युद्ध वस्तुतः विश्व-युद्ध वन गया जो नवम्बर, 1918 तक चलता रहा।
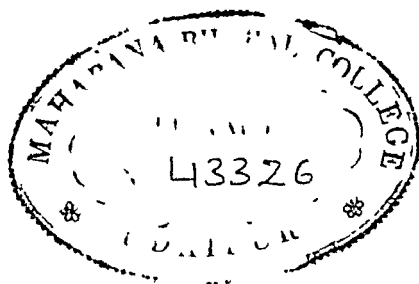
आत्म-समर्पण तथा मानहानि और क्या हो सकती है। सर्बिया ने सभी बातें मान ली हैं। अब युद्ध की कोई आवश्यकता नहीं है।" कैसर का यही विचार था। जब यह अफवाह फैली कि सर्बिया ने बेशर्त आस्ट्रिया की माँगों को मान लिया है तो वियना में कुछ क्षणों के लिए गहरी निराशा की भावना फैल गयी। पर ज्यों ही पता लगा कि सर्बिया का उत्तर पूर्णतया सन्तोषजक नहीं है और गिश्ल ने कूटनीतिक सम्बन्ध तोड़ लिये हैं तो वियना में हर्ष की एक लहर दौड़ पड़ी और रात्रि के अन्तिम पहर तक बड़े-बड़े जनसमूह सड़कों पर जुलूस बनाकर निकलते रहे और देश-भक्ति से भरे गीत गाते रहे। आस्ट्रिया के समाचारपत्र विशेषांक निकालकर 'घृणित सर्व-जाति को तुरत उपयुक्त सजा देने' की माँग कर रहे थे लेकिन, आस्ट्रिया से बाहर खासकर लन्दन में सर्बिया के उत्तर का स्वागत किया गया। सर ग्रे को मध्यस्थता करने में इससे काफी प्रोत्साहन मिला।

युद्ध रोकने के प्रयास

सर ग्रे की मध्यस्थता—26 जुलाई को सर एडवर्ड ग्रे ने अपनी मध्यस्थता का प्रस्ताव पेरिस, बर्लिन और रोम की सरकारों के पास भेजा। इस प्रस्ताव में इन सरकारों से अनुरोध किया गया था कि वे लन्दन में अपने राजदूतों को एक सम्मेलन में भाग लेने का आदेश दें जिससे कोई उपाय निकाला जा सके। इसके अतिरिक्त यह भी सुझाव दिया गया कि चारों देश सम्मिलित रूप से आस्ट्रिया, रूस और सर्बिया पर यह दबाव डालें कि जबतक यह सम्मेलन कोई उपाय नहीं निकाल लेता तबतक वे अपनी सैनिक कार्यवाही को बन्द रखें। फ्रांस और इटली ने शीघ्र ही इस प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया। पर बेथमान-हौलवेग ने यह कह कर इस प्रस्ताव को टाल दिया कि जर्मनी तबतक इस मध्यस्थता में भाग नहीं ले सकता जबतक आस्ट्रिया उसके लिए अपनी स्पष्ट इच्छा प्रकट नहीं कर दे। यह यूरोपीय शान्ति के लिए दुर्भाग्य की बात थी कि जर्मन-चान्सलर को सर ग्रे के प्रस्ताव में कुछ सन्देह हो गया। उनका सन्देह यह था कि ब्रिटेन समय बिताने की चाल चल रहा है, जिससे रूस को तैयारी करने का कुछ और मौका मिल जाय। बर्लिन में आस्ट्रिया का पक्ष इतना न्यायपूर्ण माना जा रहा था कि यह कल्पना भी नहीं की जा रही थी कि कोई देश उसका मार्ग रोकने का प्रयत्न करेगा। जर्मनी के शासक दिल से चाहते थे कि आस्ट्रिया सर्बिया के साथ अन्तिम फैसला कर ले। उनकी एक ही इच्छा थी कि युद्ध सीमित रहे और यूरोपव्यापी रूप धारण न कर ले। यह बात तभी सम्भव थी जब ब्रिटेन युद्ध की स्थिति में चुपचाप बैठा रहे। जर्मनी इसी बात के लिए प्रयास करने लगा। बेथमान-हौलवेग ने सर ग्रे के प्रस्ताव को ठुकरा दिया।

इसके वदले में उसने यह सुझाव रखा कि आस्ट्रिया और रूस को सीधे बातचीत करके कोई फैसला कर लेना चाहिए।

फ्रांस का रुख— जब यूरोप की अवस्था इस तरह गिरती जा रही थी तो उस समय फ्रांस की सरकार चुपचाप बैठी हुई थी। वास्तव में फ्रांस की सरकार शान्ति के लिए प्रयास करने के वदले रूस को उग्र नीति अपनाने के लिए उसका रही थी। फ्रांसीसी राष्ट्रपति और विदेश मंत्री दोनों अपने देश में इस समय नहीं थे। 29 जुलाई के दोपहर में पोअन्कारे पेरिस पहुँचा। वह प्रतिरोध की भावना का समर्थक था और युद्ध को अवश्यम्भावी समझता था। अतः रूस पर दवाव डालने के वदले वह उसको और उसकाने लगा। वास्तव में पोअन्कारे की यह चाल थी कि वह ऐसी कूटनीतिक स्थिति पैदा करा दे जिससे जर्मनी आक्रामक के रूप में प्रकट हो और ब्रिटेन की सहायता पाने में कोई कठिनाई नहीं हो।*

इसी वीच रूस और आस्ट्रिया के बीच प्रत्यक्ष रूप से वातचीत प्रारम्भ हो गयी थी। यह वातचीत कभी सफल होने को नहीं थी। रूस आस्ट्रिया दोनों में कोई अपने स्थान से एक इंच भी डिगनेवाले नहीं थे। वर्शटोल्ड किसी भी हालत में इस मौके को छोड़ने के पक्ष में नहीं था। वह शीघ्र ही अन्तिम कदम उठा लेना चाहता था जिससे मध्यस्थता की वातें आगे नहीं वढ़े। 27 जुलाई को उसने युद्ध-घोषणा का मसविदा तैयार कर लिया और फ्रांसिस जोसेफ का उस पर हस्ताक्षर भी प्राप्त कर लिया। 28 जुलाई को दोपहर के समय तार द्वारा युद्ध की घोषणा सर्बिया भेज देने का फैसला कर लिया।

कूटनीतिज्ञों की परेशानी—इस समय से यूरोप के विभिन्न विदेश-मंत्रालयों में बेचैनी फैल गयी। कूटनीतिज्ञों का धैर्य जाता रहा। उनको जिन दिक्कतों का सामना करना पड़ रहा था उनसे वे घबड़ा गये थे। करीब-करीब सभी कूटनीतिज्ञों की यही हालत थी। उन्हें न तो भोजन करने की फुर्सत मिलती थी और न सोने की। इसका प्रभाव उनके शरीर और दिमाग पर काफी बुरा पड़ता था। उनके पास सोचने की शक्ति नहीं रह गयी थी। प्रत्येक विदेश-मन्त्रालय में एक घण्टे में दर्जनों तार आते रहते थे। तरह-तरह के प्रस्तावों से उनका दिमाग भरा रहता था। कौन-सा जवाव किस प्रश्न के लिए भेजा जा रहा है, इसका भी ख्याल उनको नहीं रहता था। जव देश के नेता और कर्णधार ही अपना मानसिक सन्तुलन खो दें तो क्या नहीं हो सकता है। परिस्थिति पर उनका नियन्त्रण नहीं रह गया था और काम के दवाव में सन्तुलन खो देना स्वाभाविक था। जुलाई के तूफानी दिनों

---

* Fay : *Origins of the World War* (*vol. ii*), p. 363